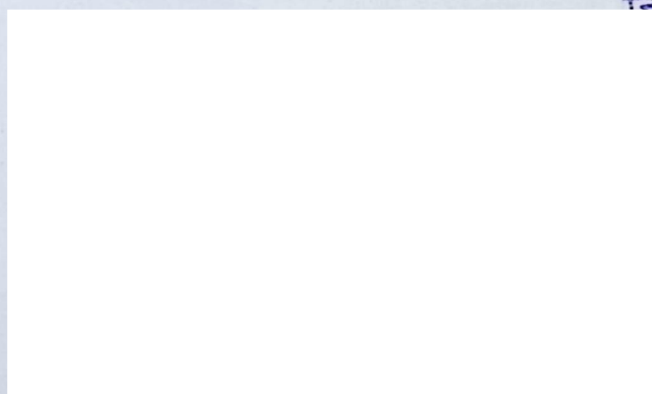


भारतीय एवं पाश्चात्त्य वाक्यार्थ सिद्धान्त

तराम शुक्ल

भारतीय एवं पाश्चात्य वाक्यार्थ सिद्धान्त



भारतीय एवं पाश्चात्त्य वाक्यार्थ सिद्धान्त

बलराम शुक्ल



प्रतिभा प्रकाशन

दिल्ली

भारत

प्रथम संस्करण 2013

ISBN : 978-81-7702-335-0

© लेखक

मूल्य : 995.00

प्रकाशक :

डॉ० राधेश्याम शुक्ल

एम.ए., एम. फ़िल्., पी-एच.डी.

प्रतिभा प्रकाशन

(प्राच्यविद्या-प्रकाशक एवं पुस्तक-विक्रेता)

7259/23, अजेन्द्र मार्केट, प्रेमनगर

शक्तिनगर, दिल्ली-110007

दूरभाष : (O) 011-47084852, 09350884227

e-mail : pratibhabooks@gmail.com

web : www.pratibhabooks.com

टाईप सेटिंग : एस० के० ग्राफिक्स

दिल्ली-84

मुद्रक : एस० के० ऑफसेट, दिल्ली

समर्पणम्

प्रातःस्मरणीयानां स्वीयाद्वितीयप्रतिभाबलेन शिष्यवर्गस्य
कायान्तरणक्षमाणां शास्त्रमर्मवेदिनीनां गुरुचरणानाम्
आचार्याणां श्रीमतीनां दीप्तित्रिपाठिवर्याणां
करकमलेषु समस्तप्रश्रयपूर्वकं समर्प्यते
पुस्तकप्रसूनमिदम्

एतन्मात्रं मया मातर्! वक्तुमत्र व्यवस्यते।
पितॄन् मे कृतवान् धाता त्वां कृत्वा पितराविव॥

शुभाशंसा

भाषा में वाक्य के माहात्म्य को भारतीय परम्परा में अत्यधिक प्राचीन काल से समुचित स्थान दिया गया है। व्याकरण दर्शन हो या मीमांसा अथवा न्याय दर्शन (वे तीनों ही शास्त्र जिन्हें क्रमशः पद-वाक्य-प्रमाण के रूप में जाना जाता है) वाक्य के स्वरूप विश्लेषण को भाषिक विश्लेषण में सर्वाधिक महत्त्व देते हैं। भर्तृहरि ने अखण्ड वाक्यस्फोट की बात कहकर इसके महत्त्व को अकाट्य रूप से प्रतिष्ठापित कर दिया है—

पदे न वर्णा विद्यन्ते वर्णेष्ववयवा न च।

वाक्यात् पदानामत्यन्तं प्रविवेको न कश्चन॥

यह विचार का विषय है कि आधुनिक भाषा विज्ञान, जिसका प्रेरणा स्रोत भारतीय व्याकरण रहा, बहुत समय तक वाक्य के माहात्म्य को उस रूप में स्वीकार नहीं पाया जिस रूप में किया जाना अपेक्षित था। इसका कारण सम्भवतः यह भी है कि तुलनात्मक भाषा विज्ञान में प्रायः तुलनीय भाषाओं के शब्द साम्य पर और तदनन्तर ध्वनि साम्य पर विद्वानों का ध्यान गया, लेकिन वाक्य, उसकी संरचना एवं अर्थ के भाषिक पक्ष उपेक्षा का विषय रहे।

बीसवीं शताब्दी के आरम्भ में पश्चिम में भाषा विज्ञान जब स्वतन्त्र शास्त्र के रूप में विकसित हो रहा था तब मनोविज्ञान एवं मानव विज्ञान जैसे विषयों में व्यवहारवादी सिद्धान्तों का बोलबाला होने लगा था। इसका प्रभाव भाषाविज्ञान पर भी पड़ा और भाषा को बिल्कुल सतही तौर पर मानवीय व्यवहार के रूप में समझने की कोशिश की गयी वैसे ही जैसे मनोविज्ञान में उद्दीपन एवं प्रतिक्रिया (stimulus and response) पर विचार किया जाता था।

भाषिक संरचना का विश्लेषण भाषा विज्ञानियों के लिए सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण

और विचारणीय विषय क्षेत्र बना रहा। यहाँ तक कि 60 के दशक में जब चॉम्स्की का सिण्टैक्टिक स्ट्रक्चर (Syntactic Structure) प्रकाशित हुआ, तब जैसा नाम से ही स्पष्ट है, इसमें भी संरचना (स्ट्रक्चर) पर ही विचार किया गया। बाद में चलकर स्वयं चॉम्स्की को यह प्रतीत हुआ कि किसी भी भाषिक सिद्धान्त में अर्थ पर विचार किये बिना कुछ भी कहना अधूरा है और इसीलिये उन्हें अपने सिद्धान्त का पुनरावलोकन करना पड़ा। चॉम्स्की के इस हृदय परिवर्तन के पीछे उनके समकालीन यूरोपीय विद्वानों का अर्थ विचार महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है।

यद्यपि 70 के दशक में छिटपुट अर्थ सम्बन्धी सिद्धान्तों की चर्चा गोष्ठियों और निबन्धों में होने लगी थी लेकिन इस बीज को पुष्पित और पल्लवित होने में एक दशक से अधिक का समय लगा। अर्थ के महत्त्व को स्थापित करने के प्रयत्न के क्रम में ही सन् 1986 में डिएड्री विल्सन एवं डैन स्पर्बर का वाक्यार्थ सम्बन्धी रिलेवेंस सिद्धान्त प्रकाशित हुआ। विल्सन एवं स्पर्बर का मानना है कि श्रोता जब वाक्य को सुनता है तो वह सर्वाधिक संगत (रेलेवेंट) अर्थ का चयन करता है और उसी रूप में वाक्यार्थ की प्रतीति उसे होती है।

भारतीय परम्परा में वैदिक काल से लेकर व्याकरण दर्शन के चरमोत्कर्ष काल तक अर्थ पर सर्वाधिक बल दिया गया है। इस गम्भीर चिन्तन की परम्परा की अनेक कड़ियाँ काल के गर्त में लुप्त हो चुकी हैं लेकिन भर्तृहरि, कौण्डभट्ट एवं नागेश भट्ट जैसे आचार्यों की कृतियों के अध्ययन से यह अनुमान करना कठिन नहीं है कि यह परम्परा अत्यधिक पुष्ट और महत्त्वपूर्ण रही होगी। वाक्यपदीय जैसे ग्रन्थ का परिपाक इसका साक्षात् प्रमाण है।

मैंने सर्वप्रथम जब रिलेवेंस सिद्धान्त को पढ़ा तो मुझे आनन्द हुआ लेकिन उसके साथ ही इसकी सीमाओं तथा अपूर्णता को देखकर भारतीय चिन्तन का हठात् स्मरण हो आया। जब हम किसी संगत अर्थ की बात करते हैं तब उसके साथ यह आवश्यक हो जाता है कि हम उसके साथ संगति के निर्धारक मापदण्ड भी उपस्थापित करें। अन्यथा संगति व्यक्ति सापेक्ष होने के कारण विसंगति में परिणत होने का अवसर प्रदान करेगी। अर्थ सम्बन्धी सिद्धान्त उतने ही स्पष्ट होने चाहिये जितने संरचना संबंधी नियम होते हैं क्योंकि बिना उस स्पष्टता के अर्थ ग्रहण के नियम नहीं बनाये जा सकते। रिलेवेंस सिद्धान्त में इस न्यूनता की पूर्ति

भारतीय वाक्यार्थ चिन्तन से सफलता पूर्वक की जा सकती है। यह विचार उसी समय मन में आया था। जो विचार मैं कार्यान्वित नहीं कर सकी वह मेरे सुयोग्य एवं प्रिय शिष्य डॉ० बलराम शुक्ल ने किया। इन्होंने अत्यधिक परिश्रमपूर्वक गम्भीर शोध करते हुए रेलेवेस सिद्धान्त की न्यूनताओं को, भारतीय चिन्तन से प्रेरणा लेकर, दूर करने के सुझाव प्रस्तुत किये हैं। यह कार्य न केवल एक आधुनिक सिद्धान्त को उपयोगी बनाने में सफल होगा अपितु भारतीय व्याकरण की परम्परा को आधुनिक सन्दर्भ में उपयोगी और सार्थक बनाने में भी सहायक सिद्ध होगा। इस श्रमपूर्ण मौलिक कार्य के लिए डॉ० शुक्ल बधाई के पात्र हैं।

मुझे आशा है वह भविष्य में भी इस प्रकार के कार्य को आगे बढ़ायेंगे और भारतीय भाषा विज्ञान की परम्परा को आधुनिक काल में नयी दिशा प्रदान करने में अपना सहयोग करेंगे।

दीप्ति शर्मा त्रिपाठी

आचार्य एवं पूर्व अध्यक्ष

संस्कृत विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय

पूर्वनिदेशक, राष्ट्रीय पाण्डुलिपि मिशन

भारत सरकार

वक्ता भाषिक वाक्यों का उपयोग श्रोता के प्रति अर्थ के सम्प्रेषण के लिए करता है। इस प्रकार भाषा का सबसे महत्वपूर्ण तथा निष्कृष्ट पक्ष वाक्यार्थ है। वाक्यार्थ के कारण, स्वरूप तथा अवबोध-प्रक्रिया के सम्बन्ध में भारतीय भाषाविदों के मध्य पर्याप्त मतभेद हैं। इस सम्बन्ध में नैयायिकों के संसर्गमर्यादावाद तथा मीमांसकों के अभिहितान्वयवाद एवं अन्विताभिधानवाद अत्यन्त प्रसिद्ध हैं। परन्तु ये सभी मत चूँकि वाक्यार्थ को पदार्थघटित मानकर प्रवृत्त हुए हैं अतः अवबोध प्रक्रिया की वैज्ञानिक व्याख्या में अपर्याप्त हैं। आचार्य भर्तृहरि ने वाक्यकाण्ड में इन मतों का खण्डन करके प्रतिभा वाक्यार्थवाद की स्थापना की है। इसके अनुसार श्रोता को सम्पूर्ण वाक्यार्थ युगपत् प्रतीत होता है। इसमें ध्वनि अथवा अर्थ के विभाग का कोई अवकाश नहीं होता। प्रत्येक प्रकार का ज्ञान प्रतिभात्मक होता है अतः वाक्यार्थज्ञान को भी प्रतिभात्मक ही होना चाहिए। इस प्रकार प्रतिभा वाक्यार्थवाद का प्रतिपादन वस्तुतः ज्ञान सामान्य के क्षेत्र में अद्वैत का प्रतिपादन है।

यद्यपि प्रतिभात्मक वाक्यार्थ ज्ञान युगपत् तथा अखण्ड होता है तथापि अखण्ड वाक्य स्फोट के उद्बोधन से अर्थ किस प्रकार प्राप्त होता है, वे कौन से तत्त्व तथा प्रक्रियाएँ हैं जो अखण्ड वाक्य से प्राप्त अखण्ड अर्थ के स्वरूप का निर्धारण करती हैं, इन प्रश्नों पर भी भारतीय भाषाविदों ने पर्याप्त विचार किये हैं। वस्तुतः यह मानवीय सञ्ज्ञान प्रणाली की विशिष्टता है कि वह सभी प्रकार के सन्दिग्ध अथवा असन्दिग्ध वाक्यों का बोध निर्धारण-पूर्वक ही कराती है। भारतीय अर्थविदों ने इस तथ्य को समझा और वाक्यार्थ को तीन स्तरों में बाँटकर उसके अर्थावबोध के लिए निर्धारक तत्त्वों का सुपरिभाषित अध्ययन प्रस्तुत किया। वाक्यार्थ के वाच्य, लक्ष्य तथा व्यङ्ग्य ये तीन प्रकार माने गये।

इस प्रकार स्पष्ट है कि भारतीय चिन्तन प्रणाली में वाक्य तथा वाक्यार्थ से सम्बन्धित पर्याप्त एवं सूक्ष्म चिन्तन की परम्परा विद्यमान है।

पाश्चात्य जगत् में भी भाषिक चिन्तन पर्याप्त मात्रा में उपलब्ध होता है। यह चिन्तन सुकरात, प्लेटो तथा अरस्तू से लेकर आज तक निरन्तर चल रहा है। इस समय पाश्चात्य जगत् में भाषिक अनुसन्धान अपने चरम बिन्दु पर है।

इसकी परम्परा में जिनेवा स्कूल, अमेरिकन स्कूल, प्राह स्कूल, स्कूल आदि सम्प्रदाय तथा ब्लूमफील्ड, केनेथ पाइक, नोम चौम्स्की, लन्दन विद्वान् विशिष्टतया स्मरणीय हैं।

अठारहवीं सदी से लेकर बीसवीं सदी के मध्य तक भाषा का अर्थ-पक्ष भाषावैज्ञानिक अध्ययन के केन्द्र में नहीं रहा। इसमें बाह्य रचनातत्त्व की ही प्रमुखता रही। संरचनावादी ब्लूमफील्ड ने तो अर्थविज्ञान को भाषाविज्ञान से निकालने तक की बात प्रस्तावित कर दी थी। चौम्स्की का प्रसिद्ध रूपान्तरण-प्रजनक-व्याकरण भी अपने प्रारम्भिक दौर में अर्थतत्त्वीय घटकों से रहित था। अर्थ की उपेक्षा करने वाले भाषाविदों का तर्क था कि अर्थतत्त्व का स्वरूप इतना अधिक अस्पष्ट तथा अपरिभाष्य है कि उसे लेकर किसी भी वैज्ञानिक सिद्धान्त की स्थापना दूभर है। परन्तु शीघ्र ही उन्हें यह ज्ञात हो गया कि अर्थ तत्त्व की यही बहुआयामिता भाषा का सबसे बड़ा सामर्थ्य है तथा इसकी उपेक्षा करके हम भाषा की संरचना का भी अध्ययन नहीं कर सकते। भाषा में संरचना तत्त्व भी अर्थ तत्त्व के द्वारा नियन्त्रित होता है। अर्थ विरहित विश्लेषण की अपर्याप्तताओं से अवगत होकर आधुनिक भाषा वैज्ञानिकों की दृष्टि आज अर्थपरक भाषिक विश्लेषण पर केन्द्रित हो रही है। सार्वभौम व्याकरण, प्रजनक अर्थविज्ञान, तथा व्यवस्थापरक व्याकरण का उदय इसी दृष्टि का परिचायक है।

इसी दिशा में 1986 में वाक्यार्थ से सम्बद्ध रेलेवेंस सिद्धान्त का उदय हुआ जिसके उद्भावक डैन स्पर्बर तथा डिएर्डी विल्सन हैं।

इस सिद्धान्त का केन्द्रीय मन्तव्य यह है कि अवबोध सम्बन्धी सभी क्रियाएँ रेलेवेंस तत्त्व के द्वारा निर्देशित होती हैं। अर्थ के सम्प्रेषण तथा अवगम दोनों में ही जो सर्वाधिक रेलेवेण्ट अर्थ होता है, उसी का ग्रहण किया जाता है। यदि किसी वाक्य को सुनकर श्रोता अल्पतम मानसिक प्रक्रिया के व्ययपूर्वक उसमें से अधिकाधिक सूचनाएँ प्राप्त कर पाता है तो वह वाक्य रेलेवेंस तत्त्व से युक्त होता है। रेलेवेंस की अवधारणा एक सापेक्ष अवधारणा है। क्योंकि एक ही सूचना जो एक सन्दर्भ में सम्बद्ध है, वही दूसरे

सन्दर्भ में असम्बद्ध भी हो सकती है। अतः रेलेवेंस तत्त्व को व्यक्तिगत तथा घटनागत दोनों स्तरों पर देखने का प्रयत्न किया गया है। सम्प्रेषण प्रक्रिया के समर्थ विश्लेषण के लिये उन्होंने निदर्शनात्मक आनुमितिक नामक एक नये मॉडल का प्रस्ताव भी दिया है।

इन वर्णनों के बावजूद लेखकों ने उन निर्धारक तत्त्वों को स्पष्टतः इङ्गित नहीं किया है जिनके कारण किसी वाक्य का रेलेवेंस प्रादुर्भूत तथा निर्देशित होता है। इन निर्धारक तत्त्वों के अभाव में यह सिद्धान्त एक अस्पष्ट तथा आधारहीन स्थितिकथन की भाँति रह जाता है। इसलिये सिद्धान्त को अधिक स्पष्ट तथा वैज्ञानिक-तथ्यों की भाँति एक सीमा तक अनुमेय बनाया जाना आवश्यक है।

भारतीय सिद्धान्तों के सहयोग द्वारा यह कार्य शक्य है। भारतीय वाक्यार्थ निर्धारण के तत्त्वों को यदि हम समेकित रूप से देखने का प्रयत्न करें तो हमारे सामने वाक्यार्थ निर्धारण का एक सशक्त एवं परिपूर्ण मॉडल उभर कर आता है। ये त्रिस्तरीय वाक्यार्थ भारतीय शब्दावली में क्रमशः वाच्य, लक्ष्य एवं व्यङ्ग्य कहे जाते हैं। इन स्तरों का विभाजन इन पर प्राप्त अर्थों की विलक्षणता तथा प्रक्रियाओं के पार्थक्य के कारण शक्य होता है।

प्रथम-स्तरीय निर्धारण पदशः कार्यरत होता है। इसमें प्रयुक्त कारक तत्त्व संयोग, विप्रयोग आदि हैं जिन्हें वैयाकरणों तथा साहित्यिकों ने अनेकशः उद्धृत किया है।

द्वितीय-निर्धारण तभी प्रयुक्त होता है जब प्रथम वाक्यार्थ किसी कारणवश बाधित हो जाता है। वाच्यार्थ तथा लक्ष्यार्थ के मध्य सम्बन्ध ही द्वितीय निर्धारण का कारक तत्त्व होता है।

तृतीय-निर्धारण वक्ता, बोद्धा, प्रकरण, काकु आदि अनेक शाब्द या अशाब्द तत्त्वों के वैशिष्ट्य से सम्भव होता है। व्यञ्जना की इस प्रक्रिया से उपलब्ध वाक्यार्थ प्रतीयमान होने के कारण पूर्वोक्त दोनों प्रकार के वाक्यार्थों से नितान्त भिन्न होता है।

उपर्युक्त त्रिस्तरीय निर्धारण के तत्त्व ही वस्तुतः वाक्यगत रेलेवेँस के भी कारक हैं। इन्हीं की उपस्थिति से बोद्धा को अल्पतम मानसिक श्रमपूर्वक इष्टतम सूचनाएँ उपलब्ध हो पाती हैं।

इस प्रकार भारतीय सिद्धान्तों में वर्णित उपर्युक्त तत्त्वों का उपयोग करके इस सिद्धान्त को दृढ आधार दिया जा सकता है। साथ ही भारतीय सिद्धान्त के अनुसार अर्थनिर्धारण के त्रिस्तरीय मॉडल के आधार पर आधुनिक भाषाविज्ञान की अनेकों अर्थवैज्ञानिक समस्याएँ दूर की जा सकती हैं।

प्रस्तुत अध्ययन के स्वरूप एवं उद्देश्य की चर्चा के बाद पुस्तक में स्वीकृत शैली की चर्चा अवसरप्राप्त है—

1. शोध-प्रबन्ध के प्रमुख विवेच्य 'रेलेवेँस तत्त्व' के वाचक 'रेलेवेँस' शब्द का हिन्दी अनुवाद नहीं किया गया है। इसका प्रमुख कारण व्यावहारिक-सुविधा है।

वस्तुतः लेखकों ने रेलेवेँस शब्द का प्रयोग पारिभाषिक अर्थ में किया है। पारिभाषिक-शब्द प्रायः विस्तृत तथा बहुआयामी सम्प्रत्ययों का प्रतिनिधित्व करते हैं। यह आवश्यक नहीं है कि इनका तात्पर्य एकशब्दात्मक अनुवाद से स्पष्ट हो जाये। इनका अनुवाद या तो दीर्घ वाक्यात्मक रूप में हो सकता है अथवा किन्हीं अपूर्ण प्रतिनिधि शब्दों द्वारा। दोनों ही उपाय अव्यावहारिक तथा अवैज्ञानिक हैं।

उदाहरण हेतु - पाणिनि द्वारा परिगृहीत 'सम्प्रसारण' शब्द एक सम्पूर्ण प्रक्रिया का प्रतिनिधि है। हिन्दी में व्यवहार करते समय हम इसके अनुवाद का प्रयत्न नहीं करते।

'रेलेवेँस' तत्त्व भी अर्थविज्ञान, सङ्केतप्रयोगविज्ञान, मनोविज्ञान आदि कई शास्त्रों से सम्बद्ध अनेकानेक सम्प्रत्ययों के लिए प्रतिनिधि स्वरूप (Labelled) है। इस पारिभाषिक शब्द द्वारा द्योतित सम्प्रत्यय पूर्णतः इसी शब्द द्वारा प्रकट हो सकता है।

रेलेवेँस के लिए सुझाये जा सकने वाले - सङ्गति, सङ्गतता, औचित्य,

प्रकरणसापेक्षता आदि हिन्दी शब्द वस्तुतः अँग्रेजी भाषा के सामान्य रेलेवेँस शब्द के अनुवाद के प्रयत्न हैं। यह आवश्यक नहीं कि अँग्रेजी का सामान्य रेलेवेँस शब्द पारिभाषिक रेलेवेँस शब्द के सभी सम्प्रत्ययों को लक्षित कर सके। स्वयं ग्रन्थकारों (डैन स्पर्बर एवं डिएर्डी विल्सन) ने भी इन दोनों शब्दों के भ्रमात्मक सादृश्य से सावधान किया है।¹

इस शब्द के अनुवाद से शाब्दिक भ्रम की आशङ्का भी है। पाठक या श्रोता के लिए दोनों प्रकार के शब्दों (सामान्य तथा पारिभाषिक) का एक जैसा अनुवाद पाकर उनके आशयों को अलग कर पाना कष्टसाध्य होगा। शब्द के प्रयोग का लक्ष्य अर्थ का सरलता से सम्प्रेषण होता है। शाब्दिक भ्रम से उत्पन्न मानसिक श्रम सम्प्रेषण तथा अवगम दोनों को अव्यावहारिक बना देगा।

अन्यत्र जिन भाषावैज्ञानिक शब्दों का हिन्दी अनुवाद प्रस्तुत किया गया है वे भारत सरकार की शब्दावली आयोग द्वारा अनुवादित अथवा परिभाषित हैं। रेलेवेँस सिद्धान्त के अत्यधिक नवीन (1986) होने के कारण भारतीय भाषाओं में इसके अनुवाद, आलोचना अथवा शोध-प्रबन्ध प्राप्त नहीं हैं तथा न ही उपर्युक्त शब्दावलियों में इसकी प्रविष्टि प्राप्त होती है। यह भी अनुवाद की प्रवृत्ति में सङ्कोच का एक कारण रहा है।

इस प्रकार विषय की निर्दुष्ट अभिव्यञ्जना के लिये रेलेवेँस शब्द का यथारूप प्रयोग ही श्रेयस्कर माना गया है।

2. पाश्चात्य भाषाविज्ञान में वर्णित अनेकानेक पारिभाषिक शब्दों का हिन्दी रूपान्तर प्रबन्ध में प्रयुक्त हुआ है। अवगम की सुविधा हेतु परिशिष्ट में ऐसे शब्दों की एक सूची संलग्न कर दी गयी है।

इस सूची में केवल मूल शब्दों को स्थान दिया गया है। विस्तारभय तथा प्रबन्ध में उन शब्दों के प्रयोग के स्थान पर ही अँग्रेजी मूल शब्दों के दे दिये जाने के कारण व्युत्पन्न शब्दों (Derivatives) को सम्मिलित नहीं किया गया है। उदाहरणार्थ- इस सूची में Function तो प्राप्त होगा पर इससे सम्बद्ध Functional एवं Functionive आदि शब्द छोड़ दिये गये हैं।

साथ ही मूल शब्दों के योग से बने समासात्मक शब्दों को भी स्थान नहीं दिया गया है। उदाहरण के लिए Language तथा Acquisition अलग-अलग तो प्राप्य होंगे परन्तु इन्हीं के योग से बने Language acquisition शब्द को सम्मिलित नहीं किया गया है।

पारिभाषिक शब्दों के हिन्दी प्रतिनिधि हेतु मुख्य रूप से भारत सरकार के 'वैज्ञानिक तथा तकनीकी शब्दावली आयोग' द्वारा सम्पादित 'भाषाविज्ञान शब्दावली' तथा 'भाषाविज्ञान परिभाषा कोश' की सहायता ली गयी है। इसके अतिरिक्त, हिन्दी में प्राप्य पाश्चात्य भाषाविज्ञान सम्बन्धी प्रमुख अनुवाद तथा आलोचनात्मक ग्रन्थों से भी सहयोग ली गयी है। इनकी सूचना पुस्तक के अन्त में प्रदत्त ग्रन्थ-सूची में दे दी गयी है।

आगे प्रबन्धगत अध्यायों के प्रमुख विषयों की दिङ्मात्र सूचना प्रस्तुत की जा रही है -

प्रथम अध्याय भाषा के स्वरूप पर केन्द्रित है। भाषा व्यवस्था एवं प्रकार्य से युक्त होती है। भाषा के इन प्राणाधायक तत्त्वों का वर्णन भारतीय एवं पाश्चात्य दोनों परम्पराओं के अनुसार किया गया है।

द्वितीय अध्याय वाक्य-संरचना परक है। इसमें वैयाकरणों, मीमांसकों तथा नैयायिकों का पक्ष आचार्य भर्तृहरि के आधार पर प्रस्तुत किया गया है। साथ ही पाश्चात्य भाषाविज्ञान में हुई महत्वपूर्ण प्रगति का उल्लेख भी किया गया है।

तृतीय अध्याय का वर्ण्य-विषय वाक्यार्थ है। इसमें वाक्यार्थ के कारण, स्वरूप तथा अवगम-प्रक्रिया के आधार पर भारतीय विद्वानों के प्रतिनिधि मतों पर चर्चा की गयी है। पाश्चात्य विद्वानों को यूरोप एवं अमेरिका महाद्वीप के आधार विभाजित करके उनके उल्लेखनीय मतों का उपस्थापन किया गया है।

चतुर्थ अध्याय का विषय रेलेवेंस सिद्धान्त है। इस अध्याय को इतिहास, सिद्धान्त तथा गुण, दोष विवेचन इन खण्डों में बाँटकर सिद्धान्त को सम्यक् प्रकार से समझाने का प्रयत्न किया गया है।

पञ्चम अध्याय में भारतीय सिद्धान्तों के आधार पर वाक्यार्थ निर्धारण हेतु एक त्रिस्तरीय मॉडल के पुनर्व्यवस्थापन का प्रयत्न किया गया है। इसमें सिद्ध किया गया है कि इन स्तरों पर होने वाले निर्धारणों में प्रयुक्त तत्त्व वस्तुतः वाक्यगत-रेलेवेंस के भी निर्धारक हैं। इनका प्रयोग करके हम रेलेवेंस सिद्धान्त को अधिक अनुमेय तथा सुपरिभाषित बना सकते हैं।

पुस्तक के अन्त में निष्कर्ष प्रस्तुत किया गया है।

प्रस्तुत पुस्तक का आधार पी-एच० डी० की उपाधि के लिये किया गया शोध-कार्य है। इसकी सम्पूर्णता के समय मेरे प्रेरणास्रोत एवं सहायक रहे गुरुजनों, स्वजनों तथा मित्रों का आभार व्यक्त करना मेरा आवश्यक कर्तव्य है।

सर्वप्रथम मैं प्रस्तुत विषय की मर्मज्ञा एवं निर्देशिका अपनी आचार्या प्रो० दीप्ति त्रिपाठी जी के श्रीचरणों में सप्रश्रय प्रणाम-पूर्वक धन्यवाद निवेदन करता हूँ जिन्होंने मुझे प्रकृत पुस्तक के कारणभूत शोध के निर्देशन के योग्य समझा। शिष्य का वास्तविक अर्थों में कायाकल्प कर देने वाली अलोकसामान्य क्षमता से आपने मुझे शास्त्रों की आत्मा को पहचानने की ओर प्रवृत्त किया। शोध की सम्पूर्णता तथा उसका पुस्तक के रूप में आ पाना - दोनों की के लिये आपकी बहुविध प्रेरणा अवर्णनीय है इस वात्सल्य-सिञ्चित कृपा के लिए मेरा अग्रिम विद्यार्थी जीवन आभारस्वरूप है - 'यदत्र किल सौष्ठवं मम गुरोर्न मे किञ्चन।'

इसके अनन्तर मैं अपने प्रथमगुरु वात्सल्यमूर्ति माँ एवं बाबूजी के चरणों में सादर प्रणाम करता हूँ जिनकी कर्तव्यनिष्ठा तथा अनवरत श्रम करने की प्रवृत्ति मेरे जीवन के आदर्श रहे हैं। परिवार के अन्य सभी सदस्यों, विशेषतः आदरणीय अग्रजों श्री राधाचरण शुक्ल तथा श्री घनश्याम शुक्ल का सादर स्मरण करता हूँ जिन्होंने मुझे अध्ययनेतर चिन्ताओं से सर्वदा मुक्त रखा।

इस कार्य की सर्वविध सम्पूर्णता तथा प्रस्तुति में मेरे अग्रजतुल्य डॉ० परमानन्द झा, डॉ० युद्धवीर सिंह, डॉ० रामचन्द्र एवं सुहृद् श्री अवनीश

पञ्चम अध्याय में भारतीय सिद्धान्तों के आधार पर वाक्यार्थ निर्धारण हेतु एक त्रिस्तरीय मॉडल के पुनर्व्यवस्थापन का प्रयत्न किया गया है। इसमें सिद्ध किया गया है कि इन स्तरों पर होने वाले निर्धारणों में प्रयुक्त तत्त्व वस्तुतः वाक्यगत-रेलेवेस के भी निर्धारक हैं। इनका प्रयोग करके हम रेलेवेस सिद्धान्त को अधिक अनुमेय तथा सुपरिभाषित बना सकते हैं।

पुस्तक के अन्त में निष्कर्ष प्रस्तुत किया गया है।

प्रस्तुत पुस्तक का आधार पी-एच्० डी० की उपाधि के लिये किया गया शोध-कार्य है। इसकी सम्पूर्णता के समय मेरे प्रेरणास्रोत एवं सहायक रहे गुरुजनों, स्वजनों तथा मित्रों का आधार व्यक्त करना मेरा आवश्यक कर्तव्य है।

सर्वप्रथम मैं प्रस्तुत विषय की मर्मज्ञा एवं निर्देशिका अपनी आचार्या प्रो० दीप्ति त्रिपाठी जी के श्रीचरणों में सप्रश्रय प्रणाम-पूर्वक धन्यवाद निवेदन करता हूँ जिन्होंने मुझे प्रकृत पुस्तक के कारणभूत शोध के निर्देशन के योग्य समझा। शिष्य का वास्तविक अर्थों में कायाकल्प कर देने वाली अलोकसामान्य क्षमता से आपने मुझे शास्त्रों की आत्मा को पहचानने की ओर प्रवृत्त किया। शोध की सम्पूर्णता तथा उसका पुस्तक के रूप में आ पाना - दोनों की के लिये आपकी बहुविध प्रेरणा अवर्णनीय है इस वात्सल्य-सिञ्चित कृपा के लिए मेरा अग्रिम विद्यार्थी जीवन आधारस्वरूप है - 'यदत्र किल सौष्ठवं मम गुरोर्न मे किञ्चन।'

इसके अनन्तर मैं अपने प्रथमगुरु वात्सल्यमूर्ति माँ एवं बाबूजी के चरणों में सादर प्रणाम करता हूँ जिनकी कर्तव्यनिष्ठा तथा अनवरत श्रम करने की प्रवृत्ति मेरे जीवन के आदर्श रहे हैं। परिवार के अन्य सभी सदस्यों, विशेषतः आदरणीय अग्रजों श्री राधाचरण शुक्ल तथा श्री घनश्याम शुक्ल का सादर स्मरण करता हूँ जिन्होंने मुझे अध्ययनेतर चिन्ताओं से सर्वदा मुक्त रखा।

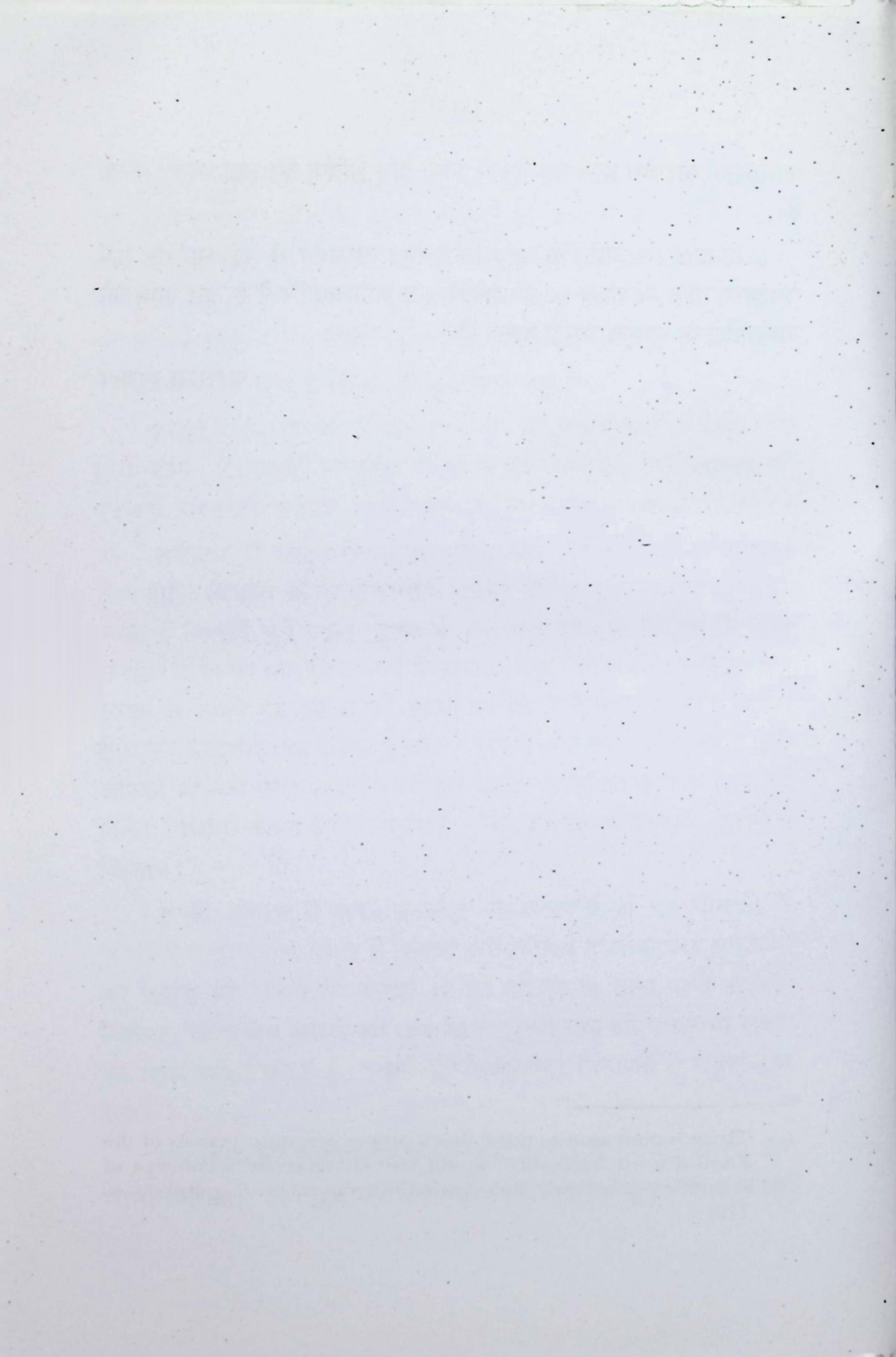
इस कार्य की सर्वविध सम्पूर्णता तथा प्रस्तुति में मेरे अग्रजतुल्य डॉ० परमानन्द झा, डॉ० युद्धवीर सिंह, डॉ० रामचन्द्र एवं सुहृद् श्री अवनीश

का निरन्तर सहयोग प्राप्त रहा है। मैं उनके प्रति हार्दिक कृतज्ञता व्यक्त करता हूँ।

अन्ततः इस आशा के साथ कि प्रस्तुत अध्ययन से मुझे भारतीय एवं पाश्चात्य वाक्यार्थ शास्त्र को समझने में कुछ सफलता मिली है, इस कृति को अध्येताओं के सम्मुख प्रस्तुत करता हूँ।

बलराम शुक्ल

-
1. There is no reason to think that a proper semantic analysis of the English word 'relevance' would also characterize a concept of scientific psychology'. (Relevance: Communication & cognition, p. 119)



विषयानुक्रमणिका

प्रस्तावना	(vii)
सङ्केताक्षर-सूची	(xix)
प्रथम अध्याय	
भाषा का स्वरूप	1-42
खण्ड-(क) प्रस्तावना	
खण्ड-(ख) भारतीय-दृष्टि	
खण्ड-(ग) पाश्चात्य-दृष्टि	
खण्ड-(घ) निष्कर्ष	
द्वितीय अध्याय	
वाक्य-संरचना	43-92
खण्ड-(क) भर्तृहरि द्वारा इङ्गित आठ सिद्धान्त	
1. संरचना सम्बन्धी दो प्रारम्भिक मत	
2. सखण्ड (पदवाद) से सम्बद्ध मत	
3. अखण्ड पक्ष (वाक्यवाद) से सम्बद्ध तीन मत तथा इनमें उत्थापित एवं सम्भावित शङ्काओं का निवारण	
खण्ड-(ख) वाक्य-संरचना : पाश्चात्य मत	
1. चॉम्स्की का सिद्धान्त	
2. सिस्टीमिक-व्याकरण का सिद्धान्त	
3. अन्यान्य सिद्धान्त	

- (i) बन्धिम-व्याकरण
- (ii) स्तरपरक-व्याकरण
- (iii) कारकीय-व्याकरण

तृतीय अध्याय

वाक्यार्थ

93-150

खण्ड-(क) भारतीय-सिद्धान्त

1. वाक्यार्थ-चर्चा की तीन दिशाएँ
2. अभिहितान्वयवाद : मूल अवधारणाएँ तथा भर्तृहरि द्वारा की गयी प्रस्तुति
3. अन्विताभिधानवाद : मूल अवधारणाएँ तथा भर्तृहरि द्वारा की गयी प्रस्तुति
4. भर्तृहरि सम्मत वाक्यार्थ

खण्ड-(ख) पाश्चात्य-सिद्धान्त

1. यूरोप में विकसित सिद्धान्त
2. अमेरिका में विकसित सिद्धान्त

चतुर्थ-अध्याय

रेलेवेंस सिद्धान्त

151-223

खण्ड-(क) इतिहास

खण्ड-(ख) सिद्धान्त

खण्ड (ग) गुण-दोष विवेचन

पञ्चम - अध्याय

भारतीय-सिद्धान्तों द्वारा रेलेवेंस सिद्धान्त का पूरण 224-308

खण्ड-(क) वाक्यार्थ निर्धारण के तीन स्तर तथा

उनमें प्रयुक्त तत्त्व :

यथाशास्त्र विश्लेषण

खण्ड-(ख) वाक्यार्थ निर्धारण के तीनों स्तरों तथा तत्त्वों से
सम्बन्धित नवीन उपपत्तियाँ

खण्ड-(ग) 'रेलेवेंस' सम्बन्धी उदाहरणों तथा सिद्धान्तों में
उपर्युक्त तत्त्वों का उपयोग

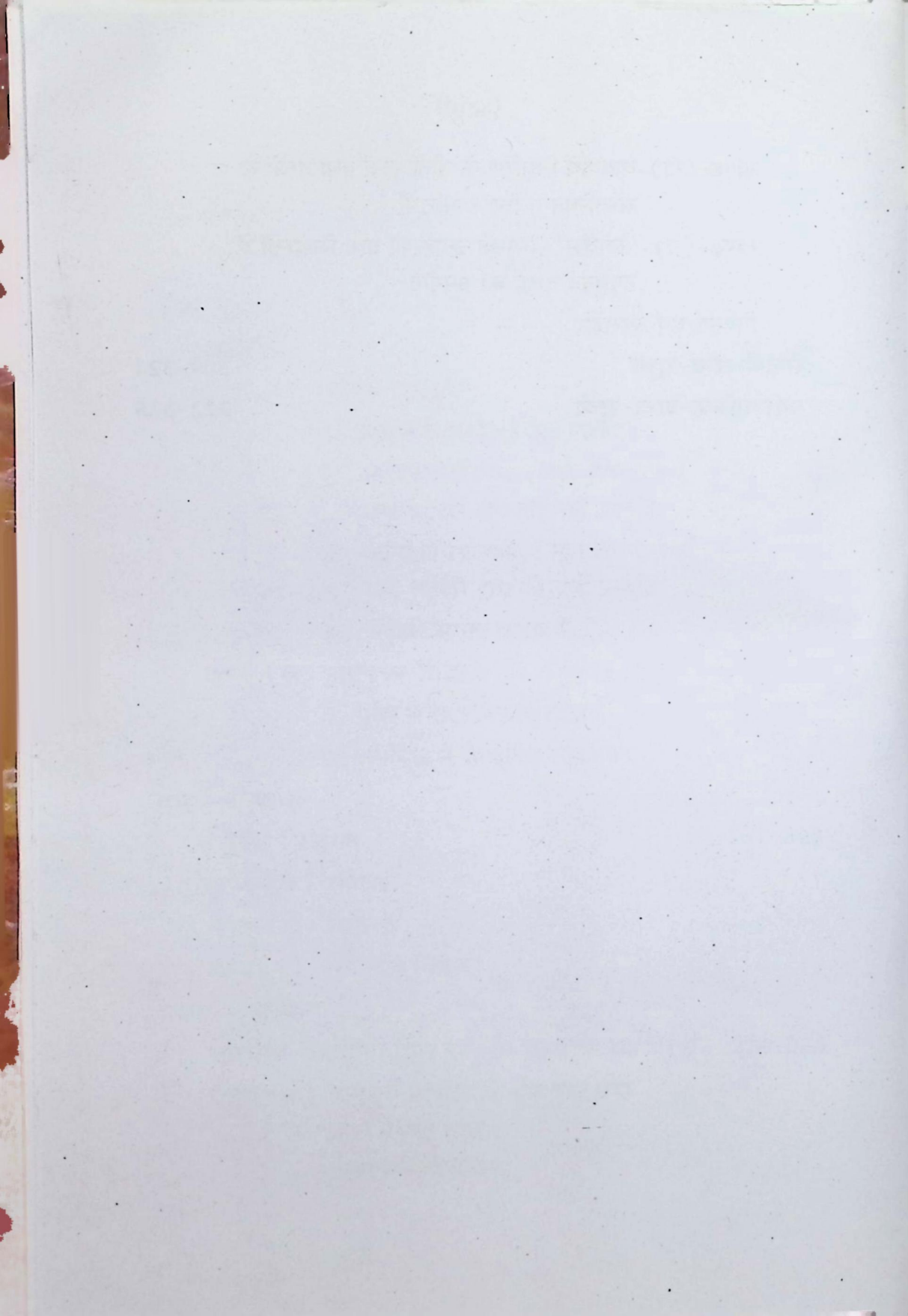
निष्कर्ष एवं उपसंहार

सन्दर्भ-ग्रन्थ-सूची

309-3

पारिभाषिक-शब्द-सूची

322-3



सङ्केताक्षर-सूची

अथर्व०	अथर्ववेद	बहु०	बहुवचन
अनु०	अनुवाद	म०भा०	महाभाष्य
अष्ट्य०	अष्ट्यध्यायी	मी०सू०	मीमांसासूत्र
उ०सं०	उदाहरण संख्या	यो०सू०	योगसूत्र
ऋग्०	ऋग्वेद	रू०प्र०	रूपान्तरक-प्रजनक
का०सि०द०	कामेश्वर सिंह दरभङ्गा	वा०प०	वाक्यपदीय
का०प्र०	काव्य-प्रकाश	वा०मा०	वाक्यार्थमातृका
गाहा०	गाहासत्तसई	वै०भू०	वैयाकरण
दुप्०	दुप्टीका	व्या०	व्याख्याकार
त०बि०	तत्त्व-बिन्दु	श०श०प्र०	शब्दशक्तिप्रकाशिका
तं०वा०	तन्त्र-वार्त्तिक	शा०भा०	शाबरभाष्य
तु०	तुलना	शृ०प्र०	शृङ्गारप्रकाश
द्वि०सं०	द्वितीय संस्करण	श्लो०वा०	श्लोकवार्त्तिक
धा०पा०	धातु-पाठ	सं०	सम्पादक
न्या०सि०मु०	न्याय सिद्धान्त मुक्तावली	सं०सं०वि०वि०	सम्पूर्णानन्दसंस्कृत- विश्वविद्यालय
प०सं०	पदबन्ध संरचनात्मक	सा०द०	साहित्यदर्पण
प०ल०म०	परमलघुमञ्जूषा	सा०भा०	सायणभाष्य
परि०	परिभाषापाठ	सा०सु०	सारस्वतीसुषमा
पुण्य०	पुण्यराज	पुन०	पुनर्मुद्रण
		पृ०	पृष्ठ
		प्र०	प्रकाशन

ABORI	Annals of Bhandarkar ALB.		Adyar Library Bulletin
Oriental	Research	e.g.	For example
~~Institute~~		etc.	et cetera
Ed	Trans.	Fel.	Editor Translator Felicitation
Ibid.	Ibidum		
ICPR	Indian Council for Philosophical Research		
IL	Indian Linguistics		
IPQ	Indian Philosophical Quarterly		
JOL	Journal of Linguistics		
MLBD	Motilal Banarsidass		
p.	Page		
Pub.	Publication		
Univ.	University		
Vol.	Volume		

प्रथम अध्याय

भाषा का स्वरूप

(क) प्रस्तावना

1. भाषा

मनुष्यमात्र को प्राणिजगत् से भिन्न करने वाले प्रमुख तत्त्वों में भाषा का स्थान सर्वप्रथम है। अपने विचारों को इच्छित व्यक्ति तक सम्प्रेषित करने की क्षमता भाषा है। जीवजगत् में मनुष्य से अतिरिक्त भी अनेक जीवधारी ऐसे हैं जो विचार एवं विवेक-शक्ति से युक्त हैं परन्तु व्यक्त ध्वन्यात्मक भाषा द्वारा सम्भाषण एवं सम्प्रेषण तथा अन्तर्निहित भाषिक प्रजननात्मकता¹ ही वे भाषिक-विशिष्टताएँ हैं, जो मानव को शेष प्राणिजात से विशेषित करती हैं।

शुक-सारिकादि अथवा आधुनिक ध्वनिमुद्रक यन्त्रों द्वारा गिने-चुने कुछ वाक्यों का व्यक्तप्राय उच्चारण भाषा नहीं अपितु भाषा का अनुकरण-मात्र ही है। क्योंकि इन व्युत्पादनों में अन्तर्निहित प्रजननात्मकता का बिल्कुल अभाव है। वस्तुतः इन अनुकरणों के द्वारा किसी मनुष्य के प्रजनित वाक्यों का प्रतिबिम्बन मात्र होता है। ध्वनि सम्बन्धी अनुकरण अन्तर्निहित शब्दभावना का उत्प्रेरक तथा उसके जागरण में सहायक मात्र हो सकता है, न कि उत्पादक²।

दूसरे शब्दों में, भाषा मानव के विचारशील एवं विवेक-युक्त होने का सर्वप्रथम एवं सर्वोत्कृष्ट, प्रदर्शन और परिणति है।

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि भाषा प्रकृति द्वारा मनुष्य को दिया गया सर्वोत्तम उपहार है।

‘भाषा’ शब्द की व्युत्पत्ति ‘भाष व्यक्तायां वाचि’³ धातु से हुई है, जिसका अर्थ है-व्यक्त वाणी में बोलना। यहाँ व्यक्तता से तात्पर्य है कि भाषा सार्थक होती है तथा खण्डशः अवधार्य होती है - फलतः भाषा का तात्पर्य ‘उच्चारित एवं सार्थक ध्वनिसमूह’ में पर्यवसित होता है।

भाषा ने सभ्यता के प्रारम्भ से ही विचारशील मनुष्यों को अपनी क्षमता से आकृष्ट एवं मुग्ध किया है। इसके बिना लोक व्यवहार एवं सभ्य-जीवन की कल्पना ही सम्भव नहीं है। सम्पूर्ण जागतिक-व्यवहारों एवं वस्तुओं की शब्दानुविद्धता वाक्यपदीयकार के शब्दों में इस प्रकार है-

न सोऽस्ति प्रत्ययो लोके यः शब्दानुगमादृते।

अनुविद्धमिव ज्ञानं सर्वं शब्देन भासते।⁴

“संसार में कोई ऐसा ज्ञान नहीं है जिसमें शब्द का अनुगमन न हो। सम्पूर्ण ज्ञान शब्द-प्रतीति के साथ बँधा सा होता है।” अथ च -

इतिकर्तव्यता लोके सर्वा शब्दव्यपाश्रया।⁵

काव्यादर्शकार दण्डी का कथन भी अत्यन्त प्रसिद्ध है कि शब्दरूपी ज्योति के बिना समस्त संसार में अन्धकार ही छा जाता।⁶ इसका कारण त्रिकाण्डीकार-भर्तृहरि के अनुसार यह है-

वागरूपता चेदुत्क्रामेदवबोधस्य शाश्वती।

न प्रकाशः प्रकाशेत सा हि प्रत्यवमर्शिनी॥

(वा०प० 1/124)

वस्तुतः वस्तुज्ञान में प्रत्यवमर्श की प्रक्रिया भाषा के कारण ही सिद्ध हो पाती है।

‘वाग् वै ब्रह्म’⁸, ‘वाग् वै समुद्रः’⁹ वाणी के लिए प्रयुक्त ऐसे विशेषणों की प्रकृति से यह स्पष्ट है कि भारतीय-चिन्तन-धारा के प्रारम्भ अर्थात् वैदिक काल से ही भाषा की सर्वातिशायी महिमा की पहचान कर ली गई थी। सम्भवतः यही कारण है कि भारत में भाषिक-अध्ययन की परम्परा अत्यधिक प्राचीन काल से ही आरम्भ हो गई थी।

भाषा की विशिष्टताओं से प्रभावित होकर मानव उसके स्वरूप एवं तद्गत तत्त्वों के विश्लेषण में प्रवृत्त हुआ।

आगे भाषा के स्वरूप को पहचानने के क्रम में कुछ भाषा-वैज्ञानिकों द्वारा प्रस्तुत भाषा की परिभाषाओं के अनिवार्य तत्त्वों को स्पष्ट किया जा रहा है।

सबसे पहले 'सॉसूर' के शब्दों में - "भाषा प्रतीकों की एक ऐसी व्यवस्था अथवा पुञ्ज है, जिसका प्रयोग व्यक्ति द्वारा सामाजिक-समागम के लिए किया जाता है।"¹⁰

'ब्लूमफील्ड' के अनुसार - "भाषा अभिरचनाओं की एक ऐसी व्यवस्था है, जो अपने व्यतिरेकी अभिलक्षणों के कारण सङ्केत का काम करती है।"¹¹

'सपीर' की दृष्टि में - "भाषा शुद्ध रूप में मानवीय और मौलिक प्रवृत्तियों से इतर होकर चलने वाली एक ऐसी सम्प्रेषक-व्यवस्था है, जो ऐच्छिक प्रतीकों के द्वारा भावनाओं, अभिलाषाओं एवं विचारों को प्रस्तुत करती है।"¹²

'लुई येम्सलेव' के दृष्टिकोण से - "भाषा असंख्य अन्योन्याश्रित तत्त्वों का जाल है।"¹³

'मारियो पेई' ग्लौसरी ऑफ लिंग्विस्टिक टर्मिनोलोजी (Glossary of Linguistic Terminology) में लिखते हैं - "भाषा किसी मानवीय जाति या समाज विशेष के सदस्यों के बीच यादृच्छिक व परम्परागत वाचिक प्रतीकों का प्रयोग कर उच्चारण तथा श्रवण अवयवों द्वारा परिचालित सम्प्रेषण की व्यवस्था है।"¹⁴

आधुनिक भारतीय भाषाशास्त्री आचार्य देवेन्द्र नाथ शर्मा का प्रतिनिधिस्वरूप मत उल्लेखनीय है - "जिसकी सहायता से मनुष्य परस्पर विचार-विनिमय या सहयोग करते हैं, उस यादृच्छिक, रूढ ध्वनिसंकेत की प्रणाली को भाषा कहते हैं।"¹⁵

न्यायसूत्रों पर सन्दृब्ध भाष्य में आचार्य वात्स्यायन का कथन है - 'पदसमूहो वाक्यमर्थपरिसमाप्तौ'¹⁶ अर्थात् अर्थ (कथ्य) का निराकाङ्क्ष बोध जिस पदसमूह से हो जाय वह वाक्य है।

उपरिनिर्दिष्ट परिभाषाओं में एक सामान्य वाक्य उभर कर आता है -

भाषा एक व्यवस्था है।

परिभाषाओं में प्रयुक्त जाल, पुञ्ज, प्रणाली या समूह आदि शब्दों का तात्पर्य व्यवस्था से ही है।

1. भाषा संरचनाओं की व्यवस्था है। इसकी संरचनाओं में विभिन्न घटक होते हैं। इन घटकों के स्वरूप एवं गुणों के सम्बन्ध में ही परिभाषाओं के दृष्टिकोण भिन्न हैं।

‘व्यवस्था’ के अतिरिक्त परिभाषाओं में जो अन्य तत्त्व है, वह है ‘भाषा के प्रकार्य’, जिसे शब्दतः नहीं कहकर वर्णनात्मक रीति से स्पष्ट किया गया है।

2. ‘भाषा का प्रकार्य’ विभिन्न परिभाषाओं में ‘सामाजिक-समागम’, ‘भाषिक सङ्केत का कार्य’, ‘विचारों का प्रस्तुतीकरण’, ‘सम्प्रेषण’, ‘विचार-विनिमय’, ‘अर्थ परिसमाप्ति’ आदि वाक्यांशों द्वारा वर्णित किया गया है।

इस प्रकार के निरीक्षण से हम भाषा की सर्वसमावेशी परिभाषा इस प्रकार कर सकते हैं—

भाषा एक व्यवस्था है एवं उसके कुछ प्रकार्य हैं।

(Language is a system and it has got some functions.)

इसमें पहला अंश — ‘भाषा एक व्यवस्था है’ भाषा के स्वरूप की ओर इङ्गित करता है, जबकि दूसरा अंश ‘भाषा के कुछ प्रकार्य हैं’ भाषा की क्रियावत्ता एवं उपयोगिता को स्पष्ट करता है।

भाषा के सन्दर्भ में व्यवस्था एवं प्रकार्य से क्या तात्पर्य है, इसका विशद विवेचन अब प्रासंगिक एवं अपेक्षित है —

(क) व्यवस्था

भाषाएँ व्यवस्थाओं के रूप में हमारे सामने प्रस्तुत होती हैं। व्यवस्था का तात्पर्य एक प्रकार की अनुमेयता (Predictability) एवं सामान्य परिस्थिति में अव्यवस्था (Disorder, chaos) के अभाव से है। भाषा एक व्यवस्था है जिसे निम्नाङ्कित तर्कों द्वारा पुष्ट किया जा सकता है¹⁷ —

- (क) भाषा सीखने की सरलता तथा इसके फलस्वरूप भाषा का सुसंगत व्यवस्थित रूप में प्रयोग से भाषा का व्यवस्थायुक्त होना स्पष्ट होता है। हम प्रतिदिन कितने ही नवीन वाक्यों का प्रजनन एवं प्रयोग करते हैं। हमारी इस क्षमता का आधार भाषा का एक निश्चित व्यवस्था में होना है।
- (ख) भाषा के प्रयोग एवं अवगम की प्रक्रिया में निश्चितता एवं अनुमेयता भाषा की व्यवस्थात्मकता को स्पष्ट करते हैं। प्रयोक्ता एवं ग्रहीता भाषा के प्रयोग के सम्बन्ध में प्रायः निश्चित रहते हैं, क्योंकि वे भाषा की व्यवस्था से परिचित होते हैं।
- (ग) मानव-मस्तिष्क अथवा उसकी प्रयोग-क्षमता स्वयं सीमित है। वह केवल सीमित एवं व्यवस्थित नियमों को ही सीख एवं उनका ही प्रयोग कर सकता है।

सीमित नियमों से असीमित वाक्यों की रचना कर पाना एक ओर मानव-मस्तिष्क की क्षमता को परिलक्षित करता है, तथा दूसरी ओर भाषाओं के व्यवस्थित स्वरूप का भी द्योतक है।¹⁸

‘व्यवस्था’ शब्द का भाषा के सन्दर्भ में विस्तृत एवं सीमित दोनों अर्थों में प्रयोग हुआ है।¹⁹ यह बात प्राग-सम्प्रदाय (Prague School) की इस मान्यता से स्पष्ट है कि -

भाषा व्यवस्थाओं की व्यवस्था है।²⁰

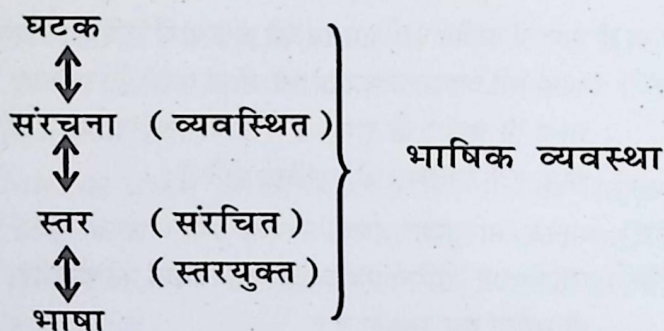
यहाँ द्वितीय शब्द भाषा के लिए प्रयुक्त है, जबकि प्रथम शब्द भाषा के अन्तर्गत रूप या अर्थ की दृष्टि से अन्तःसम्बद्ध इकाइयों के लिए प्रयुक्त हुआ है।

प्रसिद्ध भाषाशास्त्री डेविड क्रिस्टल इसे इस प्रकार स्पष्ट करते हैं -

“In its most general sense, the term refers to a network of patterned relationship constituting the organization of language. Language as a whole then characterized as a system and often as a hierarchically ordered arrangement of systems. Within this totality ‘system’ may be applied to any finite set of formally or semantically connected units.”²¹

ध्यातव्य है कि आन्तरिक-व्यवस्था को ही भाषाशास्त्रियों ने स्तर, सम्बन्ध आदि विभिन्न नामों से कहा है।

जे० आर० फ़र्थ के अनुसार - 'भाषा में सभी स्तरों पर कई आयाम होते हैं, जिनके आधार पर व्यवस्था को स्पष्ट किया जा सकता है।²² अधोलिखित ग्राफ़ से यह कथ्य स्पष्ट हो सकता है -



भाषा की बहुसंरचनात्मकता एवं बहुव्यवस्थात्मकता को हैलिडे ने इस तरह स्पष्ट किया है -

“वाक्य का निर्माण न तो एक व्यवस्था से होता है और न ही उसकी एक संरचना होती है। विभिन्न व्यवस्थाओं से चुने गये विकल्प एक साथ मिलकर वाक्य की रचना करते हैं तथा उसमें एक पर एक कई संरचनाएँ लदी होती हैं।”²³

इस प्रकार हम यह कह सकते हैं कि भाषा अपने अन्तर्गत आने वाले विभिन्न स्तरों के बीच पारस्परिक सम्बन्धों की व्यवस्था है। इन स्तरों की भी अपनी विशिष्ट संरचना होती है।

आगे स्तर और संरचना को और स्पष्ट किया जा रहा है-

(1) स्तर

‘स्तर भाषा की संरचना का एक आधारभूत सिद्धान्त है, जिसके अनुसार भाषा का विश्लेषण भिन्न-भिन्न प्रकारों से किया जाता है।’²⁴

भाषा-विज्ञान में सम्प्रदायों की भिन्नता से स्तरों की संख्या एवं उनके नाम

में पर्याप्त मतभेद है। सामान्य-विश्लेषण के रूप में तीन स्तर सर्वमान्य हैं - 1. स्वनिमिक, 2. व्याकरणिक, 3. आर्थी।

ध्यातव्य है कि इस प्रकार का वितरण भारतीय भाषाशास्त्र में नहीं हुआ। इसके कारणों का विवेचन यथावसर किया जायेगा।

(2) संरचना

स्पष्ट है कि “भाषा एक पद्धति विशेष है जो गठन अथवा रचना की विशेष क्रिया द्वारा अस्तित्व प्राप्त करती है।”¹²⁵ यह गठन वस्तुतः भाषिक संरचना ही है। स्तरों में संरचक घटकों की कल्पना का मुख्य उद्देश्य भाषाशिक्षण एवं अर्थवितरण है। जे०आर०फ़र्थ के अनुसार - ‘भाषावैज्ञानिक संरचना के सारे तत्कनीकी उपादानों की व्यवस्था इसलिए करता है ताकि उपयुक्त भाषिक रूपों में अर्थ का वितरण उपस्थित कर सके।’¹²⁶

भाषा के आन्तर एवं बाह्य-स्वरूपों में से संरचना एवं घटक जैसे विभाजन केवल बाह्य भाषा में ही सम्भव है, क्योंकि आन्तर भाषा क्रमहीन, ध्वनिरहित एवं अविभाज्य होती है।¹²⁷ क्लार्क एवं क्लार्क के अनुसार -

“The mental process by which people speak and understand, however are not revealed direct by in the structure and function of language. They are beyond structure and function and need to be studied of their own methods.”¹²⁸

(ख) प्रकार्य

भाषा स्वयं साध्य न होकर साधन है (अर्थगत्यर्थः शब्दप्रयोगः)। विभिन्न साध्यों को वह अपनी जिन क्रियाओं से पूरा करती है, उन्हें भाषा का प्रकार्य माना जाता है। इन प्रकार्यों का विभाजन दो भागों में किया जा सकता है -

(क) भाषा के प्रकार्य (Functions of Language as a Unit)

भाषा के प्रकार्य से तात्पर्य सामाजिक या व्यक्तिगत रूप में भाषा की वे विशेषताएँ एवं उपयोगिताएँ हैं, जो तत्-तत्कार्यों की पूर्ति में साधन बनती हैं।¹²⁹ सम्प्रेषण एवं सामान्य-व्यवहार ही भाषा का सर्वप्रमुख प्रकार्य है। इन

प्रकार्यों की पहचान विद्वानों ने कई प्रकार से की है। इनका विशद विवेचन यथावसर होगा।

(ख) भाषाओं के प्रकार्य (Functions of Linguistic Units)

भाषा एक इकाई के रूप में हमारे विभिन्न प्रयोजन पूर्ण करती है। भाषा ये प्रकार्य कैसे सम्पादित करती है? वस्तुतः भाषा के अन्तर्गत अनेक संघटक तत्त्व होते हैं तथा वे परस्पर सम्बन्धित होकर अपने-अपने प्रकार्यों को सम्पादित करते हैं। भाषा के इन व्यतिरेकी संघटकों के प्रकार्य ही भाषाओं के प्रकार्य हैं। इनके सहयोग से भाषा अपने प्रकार्यों को पूरा करती है। भाषा के प्रकार्य भाषा के बाहर अर्थात् समाज में दिखाई देते हैं, जबकि भाषाओं के प्रकार्य भाषा के अन्दर (Inside the language) सम्भावित होते हैं। भाषाओं के प्रकार्यों का न तो सामाजिक महत्त्व है और न ही सम्भाषणात्मक अस्तित्व। ये केवल वैयाकरणों एवं भाषावैज्ञानिकों के विश्लेषणों तक ही सीमित हैं।

वस्तुतः भाषा एक क्रिया है। सभी क्रियायें छोटी छोटी क्रियाओं का समन्वय होती हैं³⁰। भाषिक-प्रकार्य रूप क्रिया भी इन भाषाओं के सीमित प्रकार्यों का समन्वित रूप मात्र है।

डेविड क्रिस्टल के अनुसार - "The Relationship between a linguistic form and other parts of the linguistic pattern or system in which it is used (- is function)"³¹ दूसरे शब्दों में, व्याकरण में किसी भी भाषिक इकाई द्वारा वाक्य संरचना में सम्पन्न की जाने वाली भूमिका उन उन इकाइयों का प्रकार्य होती है।³² येम्स्लेव के अनुसार - विश्लेषण की शर्तों को पूरा करने वाली निर्भरता को प्रकार्य कहते हैं, जो एक वर्ग एवं उसके संघटकों के बीच होती है।³³

अखण्डवाक्यवादी वैयाकरण वाक्य के अतिरिक्त अथवा अन्तर्गत किसी भी तत्त्व अथवा उसके अर्थों का बिल्कुल अभाव मानते हैं।³⁴ तथापि भाषाओं के प्रकार्यों के विशद वर्णन प्रस्तुत करने में उनका तर्क भाषा-शिक्षण की सुविधा है।³⁵ नागेश भट्ट वाक्य के पदशः विभाजन एवं अर्थनिर्धारण की विवशता को इन शब्दों में स्पष्ट करते हैं-

तत्र प्रतिवाक्यसङ्केतग्रहणासम्भवाद् वाक्यान्वाख्यानस्य लघुनोपा-
येनाशक्यत्वाच्च कल्पनया पदानि प्रविभज्य पदे प्रकृतिप्रत्ययभागान्
प्रविभज्य कल्पिताभ्यामन्वयव्यतिरेकाभ्यां तत्तदर्थविभागान् शास्त्रमात्र-
विषयं परिकल्पयन्ति स्माचार्याः।³⁶

उपर्युक्त उद्धरण में पदों के काल्पनिक विभाग एवं उनके प्रकार्यों की पहचान के पक्ष में नागेश के दो तर्क हैं जिनमें पहला सम्प्रेषण एवं दूसरा विश्लेषण से सम्बद्ध है -

1. प्रत्येक वाक्य में सङ्केतग्रह असम्भव है, क्योंकि श्रोता वाक्य को खण्डशः सुनकर पदशः ही अर्थग्रहण करता है।
2. वाक्य अनन्त है, जबकि पदों की कोटियाँ सीमित हैं। अतः सुकर एवं लघु मार्ग यही होगा कि उनका विश्लेषण पदशः किया जाय। व्याकरण के मुख्य प्रयोजनों में लाघव भी अन्यतम है।³⁷

इस प्रकार भारतीय एवं पाश्चात्य दोनों चिन्तन धाराओं में भाषामात्र को एक इकाई मानकर एवं साथ ही भाषा की विभिन्न इकाइयों का पृथक्-पृथक् वर्णन तथा उनके प्रकार्यों का वर्णन प्राप्त होता है।

इस प्रकार भाषागत व्यवस्था (जो आन्तरिक एवं बाह्य दोनों स्तरों पर अस्तित्वमती है) तथा उसके प्रकार्यों की प्रकृति एवं उनकी स्थिति स्पष्ट होने पर भाषा का स्वरूप स्वतः स्पष्ट हो जाता है क्योंकि भाषिक-स्वरूप के मुख्य तत्त्व यही हैं।

भाषिक-व्यवस्था एवं भाषिक प्रकार्य का सामान्य परिचय देने के बाद आगे क्रमशः भारतीय एवं पाश्चात्य भाषाशास्त्रों में रेखाङ्कित एवं व्याख्यात भाषा की विभिन्न व्यवस्थाओं तथा प्रकार्यों की चर्चा की जायेगी।

(ख) भारतीय-दृष्टि

भाषा सम्बन्धी चिन्तन भारत में उसी काल में प्रारम्भ हो गया था जिस समय अन्यत्र असभ्यता का अन्धकार व्याप्त था। भारतीय चिन्तन के उत्स-वेद-वाङ्मय में भाषा की उत्पत्ति-गुण-दोष-उच्चारण एवं उपयोगिता जैसे

प्रारम्भिक एवं सामान्य प्रश्नों पर चर्चा के साथ ही भाषा का स्वरूप एवं प्रकार जैसे दार्शनिक एवं भाषावैज्ञानिक प्रश्न भी चर्चित हुए हैं। इनके अतिरिक्त वेदों की व्युत्पत्तिप्रियता एवं प्रयोक्ता के गुण-दोषों का वर्णन भाषा के अनुप्रयुक्त पक्ष के प्रति उनकी सावधानी को दर्शाता है। ऋग्वेद में ही उपलब्ध साहित्य हमें उस समय तक के भाषिक चिन्तन की विकसित स्थिति का परिचय देता है। ब्राह्मण ग्रन्थों की अर्थप्रधान व्युत्पत्ति एवं प्रातिशाख्यों का ध्वनिपरक चिन्तन सर्वविदित है। विभिन्न वेदाङ्गों के काल में भी भाषा-चिन्तन के सभी पक्ष विशदतया विवेचित हैं। शिक्षाग्रन्थों का ध्वनिविषयक सूक्ष्म-चिन्तन भारतीयों के भाषिक विश्लेषण की गम्भीरता को प्रकट करता है, जिसे आज भी सर्वत्र स्वीकार किया जाता है। पाणिनीय-व्याकरण वाक्य एवं पद विश्लेषण की वैज्ञानिक प्रक्रिया का उत्कृष्ट उदाहरण है। 'ब्लूमफील्ड' की उक्ति 'यह मानव-बुद्धि के सर्वोत्तम स्मारकों में से एक है'³⁷ अनेकशः उद्धृत एवं सर्वविदित है। पाणिनि के अर्थविश्लेषणात्मक पक्ष की पूर्ति उनकी परवर्ती व्याख्याओं जैसे- महाभाष्य, काशिका आदि तथा दार्शनिक ग्रन्थों जैसे- वाक्यपदीय आदि के द्वारा सुन्दर एवं सूक्ष्म रीति से हुई। यह परम्परा अर्वाचीन काल में भी भट्टोजिदीक्षित, कौण्डभट्ट एवं नागेशभट्ट जैसे विद्वानों के माध्यम से अविच्छिन्न-अजस्र रूप में चलती रही है। केवल व्याकरण ही नहीं इससे इतर शास्त्रों में भी भाषा के विभिन्न पक्ष सुविचारित हैं। भाषिक चर्चा से सम्बन्धित इन सम्प्रदायों में पर्याप्त रूप से सूक्ष्म तथा स्थूल मतभेद प्राप्त होते हैं। ये मतभेद भारतीय विचार-परम्परा की व्यापकता, सूक्ष्मता तथा स्वतन्त्रता की ओर संकेत करते हैं।

भारतीय-दृष्टि में भाषिक व्यवस्था

भाषिक व्यवस्था का आन्तर एवं बाह्य द्विधा विभाजन ऋग्वैदिक काल³⁹ से ही भारतीय विचारधारा में सम्मत है, अतः यह विभाजन पूरे भारतीय भाषा चिन्तन के आधार में रहा है। इसका पोषण एवं उपबृंहण भर्तृहरि आदि परवर्ती विद्वानों ने सूक्ष्मतापूर्वक अपने ग्रन्थों में किया। पश्चिमी भाषाशास्त्रियों ने इसकी पहचान लाँग-पैरोल अथवा सामर्थ्य-निष्पादन के रूप में बहुत बाद

में की है। भारतीय-दृष्टि में सुलभ सूक्ष्मता एवं समग्रता अब भी उनसे अनछुई ही है।

भारतीय सिद्धान्त के अनुसार भाषा केवल वही नहीं है जो वागवयवों द्वारा उच्चरित अथवा श्रवणेन्द्रिय द्वारा गृहीत होती है। उच्चरित ध्वनियाँ तो हमारे अन्दर स्थित भाषिक तत्त्व की अभिव्यञ्जक मात्र हैं। भाषा की स्थिति विचार एवं ध्वनि दोनों स्तरों पर है -

सैषा संसारिणां सञ्ज्ञा बहिरन्तश्च वर्तते।⁴⁰

इसी प्रकार - द्वावुपादानशब्देषु शब्दौ शब्दविदो विदुः।⁴¹

भाषा की द्विधा स्वीकृति उसके शुद्ध सामाजिक स्वरूप को द्योतित करती है। भाषा पूर्णतः सामाजिक होने के कारण एक साथ वक्ता एवं श्रोता दोनों से सम्बन्धित होती है, जिनकी उपस्थिति किसी भी सम्प्रेषण हेतु अनिवार्य होती है।

‘आन्तर व्यवस्था’ का अस्तित्व विचार के स्तर पर होता है। यह वक्ता से सम्बन्धित है। जबकि ‘बाह्य-व्यवस्था’ क्रमिक ध्वनियों का समूह है। इसका उद्देश्य श्रोता तक अर्थ का सम्प्रेषण करना है। वक्ता द्वारा प्रस्तुत ‘बाह्य भाषा’ का विकूटन श्रोता तभी कर सकता है जब उसके अन्दर भी भाषा की ‘आन्तर व्यवस्था’ उपस्थित हो⁴²। तात्पर्य यह है कि वक्ता तथा श्रोता दोनों ही सम्प्रेषण के सम्पादन में दोनों व्यवस्थाओं का उपयोग करते हैं। (‘शब्दः कारणमर्थस्य स हि तेनोपजन्यते’⁴³)

‘बाह्य व्यवस्था’ का उत्पादन यद्यपि वक्ता के वागवयवों से होता है तथापि चूँकि सम्प्रेषण के समय उसका लक्ष्य श्रोता ही होता है अतएव बाह्य भाषा मुख्यतः श्रोता से सम्बन्धित मानी जाती है।

आन्तर-व्यवस्था

ध्वनि का स्वरूप बाहरी होने के कारण सर्वजनसंवेद्य होता है। इस बाह्य-भाषा के अतिरिक्त आन्तर-भाषा की भी सत्ता है। इसकी पहचान प्राचीन-भारतीय-चिन्तन की गम्भीरता एवं सूक्ष्मता का परिचायक है। ऋग्वेद

का मन्त्रवर्ण इसका उद्घोष कर रहा है कि आन्तरिक-भाषा मनीषियों के द्वारा ही अनुभूत की जा सकती है - "तानि विदुर्ब्राह्मणा ये मनीषिणः।"⁴⁴

महाभाष्य में उद्धृत एक कारिका⁴⁵ के अनुसार भी शब्द, शब्द का अर्थ एवं उनके सम्बन्ध जो बाह्य भाषा में दृष्टिगत होते हैं, आन्तर भाषा में पहले से ही स्थित रहते हैं। बाह्य भाषा केवल इनकी अभिव्यञ्जक होती है। भर्तृहरि ने भी आन्तर भाषा की उपस्थिति एवं उपयोग को उच्चारण से पूर्व एवं श्रवण के बाद क्रमशः वक्ता एवं श्रोता में बताया है।⁴⁶ बुद्धि द्वारा वितर्क एवं अर्थ विशेष में निवेश आन्तर भाषा के तथा उच्चारण कार्य बाह्य भाषा के कार्यक्षेत्र में आते हैं।⁴⁷ भर्तृहरि के अनुसार 'शब्द भावना' अर्थात् आन्तरभाषा अनादि अथवा संस्कारलभ्य है।⁴⁸ इसी को चॉम्स्की "अन्तर्निहित-योग्यता" (Innate-ability) कहते हैं। स्वोपज्ञ-वृत्ति में भर्तृहरि ने इसे अपौरुषेय एवं अनुपदेश-साध्य कहा है।⁴⁹ इसी शब्द-भावना के अभाव में पशु-पक्षी भाषा का प्रयोग नहीं कर सकते। यहाँ प्रयोग का तात्पर्य भाषा को प्रजनित (Generate) कर पाने से है। यह प्रजनन शब्दभावना के कारण ही सम्भव हो पाता है।

भारतीय मनीषियों ने आन्तरिक वाणी के परा, पश्यन्ती एवं मध्यमा भेद से तीन स्वरूप माने हैं। ध्यान रहे कि ये भाषा के तीन प्रकार न होकर उसकी तीन स्थितियाँ हैं।

(1) परा वाक्

भारतीय-आस्तिक दर्शनों में सम्पूर्ण जागतिक वस्तुओं का मूल ब्रह्म को माना है। इसी प्रकार भाषिक-व्यवहारों की मूल परावाक् को भी ब्रह्म के समकक्ष सिद्ध किया गया है। वैखरी, मध्यमा एवं पश्यन्ती से पर (अतिव्रफान्त) होने के कारण इसका नाम परा है। यह वाणी वक्ता का स्वरूप ही है जो विनष्ट नहीं होती।⁵⁰ नागेश के अनुसार यह शब्द ब्रह्म के स्वरूप वाली, निष्कम्प एवं मूलाधार में स्थित होती है। इसके साक्षात्कार की तुलना योगशास्त्र की निर्विकल्पक समाधि से की गई है।⁵¹ परा वाक् की स्थिति को प्राप्त मनुष्य भाषा के अतिरिक्त मानव जीवन के सम्पूर्ण रहस्य को भी जान लेता है। यह स्थिति विद्या के साथ-साथ साधना के क्षेत्र की भी चरम उपलब्धि है। परा वाक् का

उपर्युक्त विवेचन यह संकेत करता है कि भाषा या व्यवहार के क्षेत्र में भी भारतीय-मनीषियों को अपना चरम लक्ष्य ब्रह्मसंस्पर्श नितान्त अविस्मृत था।

(2) पश्यन्ती वाक्

परा में वैखरी या मध्यमा के अन्तर्गत दिखाई पड़ने वाले क्रम बिल्कुल नहीं होते। पश्यन्ती इस क्रम को गर्भगत किये रहती है।⁵² यही कारण है कि पश्यन्ती का विभाजन भी अशक्य है। वैखरी में भासित ध्वनिक्रम पश्यन्ती में मयूर के अण्डे में पङ्खु आदि की बनावट की तरह सिमट सा रहता है।⁵³ मूलाधार से उठी वायु पश्यन्ती के स्थान (जो कि नाभि है) तक आती है और पश्यन्ती वाक् को व्यञ्जित करती है। यह वाक्-अवयवों या श्रवणेन्द्रियों के सम्पर्क में नहीं आती तथा केवल मन का विषय बनती है।⁵⁴ यह स्थिति सविकल्पक समाधि के तुल्य है।⁵⁵ इसके नाम से स्पष्ट है कि पश्यन्ती व्यक्ति की वह चेतन स्थिति है जिसमें वह भाषा प्रवाह को भाषाहीनता की दृष्टि से देखता है।⁵⁶ व्याकरण की प्रक्रियाओं या भाषिक-विश्लेषण में अनुपयोगी होने पर भी मध्यमा की पूर्वपीठिका के रूप में पश्यन्ती की स्थिति का वर्णन भी किया गया है।⁵⁷

वैखर्या मध्यमायाश्च पश्यन्त्याश्चैतदद्भुतम्।

अनेकतीर्थभेदायास्त्रय्या वाचः परं पदम्॥

(वा०प० 1/15)

(3) मध्यमा वाक्

परा एवं पश्यन्ती भाषिक प्रक्रियाओं का मूल होती हुई भी जनसामान्यगम्य नहीं हैं। इसमें कारण इनकी क्रमहीनता एवं ध्वनि से असम्बद्धता है। बाहरी विचारों का प्रसार रुकने के बाद ही इनका आभास अथवा साक्षात्कार किया जा सकता है। इसके विपरीत मध्यमा वाणी का अनुभव बड़ी ही आसानी से हो सकता है।

सर्वसामान्य का अनुभव है कि हम ध्वनिमयी वाणी का प्रयोग सदा चिन्तनपूर्वक करते हैं। इस प्रक्रिया में क्रम का स्पष्ट आभास भी हमें होता है। इस स्थिति में विचार वर्णों का स्वरूप ग्रहण करने लगते हैं -

मध्यमा बुद्ध्युपादाना कृतवर्णपरिग्रहा⁵⁸

वैखरी वाक् तो श्रोता के लिये प्रयुक्त होती है। प्रयोग से तुरन्त पहले वाक्य वक्ता की बुद्धि में उच्चरित होता है। “अन्तःसञ्जल्परूपा” शब्द का आशय यही है। मध्यमा भाषा अपनी अभिव्यञ्जना हेतु केवल बुद्धि को सामग्री बनाती है⁵⁹ अर्थात् वागिन्द्रियों द्वारा किये गये प्रयत्नों से मध्यमा का सम्बन्ध अथवा सम्पर्क नहीं होता है। ‘बुद्ध्युपादाना’ विशेषण की यह व्याख्या वक्ता की दृष्टि से की गयी है। श्रोता की दृष्टि से इसका अर्थ है कि मध्यमा-वाक् बुद्धि मात्र से गृहीत होती है न कि ध्वनि से। ध्वनि तो बुद्धि का उत्प्रेरक अथवा प्रकाशक मात्र होता है।⁶⁰ मध्यमा वाणी स्थूल वायु (जिससे वैखरी अस्तित्व पाती है) के प्रसार का आश्रय नहीं लेती, सासों का व्यापार इसे छू भी नहीं पाता।

इन लक्षणों को हम अपनी मानसिक भाषा पर घट सकते हैं। इसमें विशेष ध्यान देने वाली बात यह है कि वैखरी में अभिव्यञ्जित ध्वनिक्रम मध्यमा के स्तर पर भी आन्तरिक रूप में बना रहता है। हम सभी विचारों के प्रसङ्ग में यह बात स्पष्ट रूप से जान सकते हैं कि हमारी आन्तरिक भाषा की ध्वनियाँ भी हमारे मन में उसी क्रम से उठती हैं जिस क्रम से वे मुख से उच्चारित वैखरी के माध्यम से बाहर प्रकट होती हैं। कर्त्ता, कर्म, क्रिया आदि की स्थिति का निर्धारण बाह्य भाषा से पहले आन्तरिक भाषा में ही हो जाता है।

भाषा की ये चार अवस्थाएँ क्रमशः अधिक सूक्ष्मता एवम् अधिक सामर्थ्यशालिता का द्योतन करती हैं। मध्यमा वाक् वैखरी की अपेक्षा अधिक सामर्थ्यशाली है। हमारे सोचने की गति हमारे बोलने की गति से बहुत अधिक तीव्र होती है। जितने समय में हम एक वाक्य बोल पाते हैं, उतने में ही हम मध्यमा के स्तर पर कई-कई वाक्यों के विचारों से गुजर जाते हैं। जिस समय हम श्वास ले रहे होते हैं उस समय हम वैखरी का प्रयोग नहीं करते हैं किन्तु मध्यमा भाषा के माध्यम से हमारा चिन्तन अविराम चलता रहता है, चाहे हम श्वास ले रहे हों या श्वास छोड़ रहे हों। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि मध्यमा, वैखरी की अपेक्षा अधिक व्यापक है।

प्रेम, क्रोध, घृणा आदि अनेक ऐसे मानसिक संवेग हैं जिन्हें हम

मानस-प्रत्यक्ष द्वारा पूरी तरह से समझ तो जाते हैं परन्तु वैखरी-वाणी के द्वारा उनका स्वरूप निर्धारण नहीं कर पाते। इस प्रकार यह भी सिद्ध होता है कि मध्यमा का सामर्थ्य वैखरी से कई गुना अधिक होता है। वस्तुतः वैखरी इन्द्रियजन्य है तथा मध्यमा बुद्धि के क्षेत्र में गृहीत होने वाली भाषा है। अथ च बुद्धि का इन्द्रियों से परत्व एवं अधिक सामर्थ्य एक शास्त्रसम्मत तथ्य है।⁶¹ वास्तविकता यह है कि वैखरी एवं मध्यमा भाषाएँ वे दो स्थितियाँ हैं जिनमें से एक में प्रत्येक मनुष्य सुषुप्ति एवं समाधि की अवस्था को छोड़कर शेष सारे समय बना रहता है। इस प्रकार भी मध्यमा की व्यापनशीलता वैखरी से अधिक सिद्ध होती है।

नागेश भट्ट के अनुसार मूलाधार से चली वायु हृदयस्थान में आकर मध्यमा वाणी को क्रियाशील बनाती है। यह विभिन्न अर्थों के वाचक शब्दस्फोट के रूप में होती है तथा सूक्ष्म होने के कारण कान से ग्रहण नहीं की जा सकती। जप इत्यादि के समय सूक्ष्मता से निरीक्षण करने पर इसकी आभासी ध्वनि बुद्धिगम्य हो सकती है।⁶²

नागेश ने मध्यमा वाक् को स्फोट तथा मध्यमा के स्तर पर प्रजनित नाद को स्फोट का वाचक कहा है -

तत्र मध्यमायां यो नादांशस्तस्यैव स्फोटात्मनो वाचकत्वेनाक्षतिः।⁶³

अर्थ की वाचकता मध्यमा के नाद में ही है। वैखरी का नाद निरर्थक है। उसका प्रयोजन इतना ही है कि वह मध्यमा नाद का वाहक है -

वैखर्या हि कृतो नादः परश्रवणगोचरः।

मध्यमया कृतो नादः स्फोटव्यञ्जक उच्यते।।⁶⁴

वैयाकरणों के अनुसार अर्थ का वाचक एक अखण्ड स्फोट तत्त्व है। उच्चरित ध्वनियों में अर्थ नहीं होता। वे केवल स्फोट को उद्बुद्ध करती हैं। अर्थ एवं शब्द चूँकि इस तत्त्व से स्फुटित होते हैं अतः इसका नाम स्फोट है। क्रमरहित स्फोट तत्त्व पर उसकी व्यञ्जक ध्वनियों की क्रमवत्ता का अध्यास होता है।⁶⁵ भविष्यत्कालीन क्रमवत्ता को वह मयूराण्डरसवत् समेटे रहता है।⁶⁶ बोलने से पहले वक्ता का एवम् सुनने के बाद श्रोता के द्वारा बुद्धिस्थ शब्द का परामर्श यह स्पष्ट करता है कि अर्थ वाचकता वस्तुतः स्फोट-तत्त्व में ही है, जो बुद्धि में स्थित है। शाब्दबोध बुद्धिस्थ स्फोट में ही होता है, ध्वनियाँ तो सम्प्रेषण

की निमित्तमात्र हैं।⁶⁷ अतएव वैयाकरणों ने स्फोट को ही शब्द नाम से स्मरण किया है -

“स्फोटः शब्दो ध्वनिश्शब्दगुणः”⁶⁸

नागेश ने स्फोट को सूक्ष्म (अनवधार्य) मध्यमानाद से व्यंग्य कहा है।⁶⁹ वस्तुतः मध्यमा वाक् ही वह स्थिति है जहाँ से वक्ता शब्द, अर्थ एवं उनके सम्बन्ध ग्रहण करता है तथा श्रोता उसी स्थिति में जाकर इन्हें समझ सकता है। अतः इसे स्फोट कहना युक्तियुक्त ही है। नागेश का यह चिन्तन उनकी सूक्ष्म विचारणा का परिचायक है।

इस प्रकार वैखरी वाणी के पूर्व होने वाली वैचारिक प्रक्रिया को भी पहचान कर भारतीय भाषाविदों ने उसे भाषिक प्रक्रिया में केवल स्थान ही नहीं दिया अपितु उसी को वास्तविक भाषा माना। आधुनिक भाषाविदों द्वारा मानसिक भाषा को वाचिक भाषा से श्रेष्ठ स्थान दिये जाने से हमारे प्राच्य भाषाशास्त्रियों के चिन्तन की अग्रता एवं इदंप्रथमता हमें सुखद रूप से आश्चर्यचकित किये बिना नहीं रहती।

ध्यातव्य है कि आन्तर भाषा के अक्रम एवं अखण्ड होने के नाते इसके और अधिक विभाजन नहीं किये जा सकते। मध्यमा की ही क्रमवत्ता वैखरी में व्यक्ततर होती है, अतः वैखरी के विभिन्न विभाजनों में मध्यमा का विभाजन भी गतार्थ हो जाता है।

भाषा की बाह्य व्यवस्था

वाणी के चार पदों में से वैखरी ही शुद्ध रूप से लौकिक सम्प्रेषणजन्य व्यवहारों का हेतु बनती है। सार्थक विचार भी ध्वनियों के अनुग्रह⁷⁰ द्वारा व्यक्त होकर ही सम्प्रेषण के उपयोगी होते हैं। श्रोता के पक्ष में बाह्य-भाषा आन्तरिक-भाषा को प्रकाशित करती है। वैखरी वाणी वक्ता के प्राणवायु से परिपुष्ट होकर विभिन्न विभागों को प्राप्त करती है। वैयाकरणों के अनुसार वैखरी-ध्वनियाँ अर्थरहित तो हैं पर प्रयोजनहीन नहीं। ये स्फोट को न केवल उद्बुद्ध करती हैं बल्कि उन्हें हर आवृत्ति के साथ स्पष्ट, स्पष्टतर एवं स्पष्टतम करती चलती हैं।⁷¹ मीमांसक वर्णों को नित्य मानते हैं तथा उनमें अर्थवत्ता स्वीकार करते हैं, जबकि नैयायिक शब्द को अनित्य मानकर अर्थ-बोधकता पदों में मानते हैं।

चारों वाणियों के मध्य क्रमवान् एवं खण्डशः अवधार्य होने के नाते विभिन्न विभाग एवं विश्लेषण केवल वैखरी में ही सम्भव है। व्याकरणशास्त्र अपना आत्मलाभ केवल वैखरी के ही साम्राज्य में कर सकता है। बाह्यभाषा के विभाजन के प्रश्न पर इसे विभाज्य एवं अविभाज्य मानने वाले विद्वानों के दो वर्ग हैं।⁷²

अविभाज्य पक्ष में कुछ विद्वान् औदुम्बरायण की भाँति भाषा की बाह्य एकात्मक सत्ता नहीं मानते, अतः विभाजन का प्रश्न ही नहीं उठता।⁷³ दूसरा मत आचार्य भर्तृहरि का है जो वाक्य को एक अखण्ड इकाई स्वीकार करके विभाजन का निषेध करते हैं।⁷⁴ 'एकोऽनवयवः शब्दः' (वा०प० 2/1) का उद्धोष करने वाले आचार्य विभिन्न व्याकरणिक-प्रक्रियाओं को अविद्या का विलास मानते हैं।⁷⁵ सैद्धान्तिक एवं वर्णनात्मक रूप से बाह्य भाषा का द्विधा विभाजन हो सकता है। प्रथम विभाग के अन्तर्गत संसार की किसी भी भाषा के शब्द अन्तर्भूत हो सकते हैं। जबकि दूसरा (विवरणात्मक) प्रकार प्रतिभाषा भिन्न तथा स्वतन्त्र हो सकता है। प्राच्य भाषाविदों द्वारा प्रवृत्ति के आधार पर किया गया - जाति, गुण, क्रिया एवं द्रव्य जैसा विभाजन वस्तुतः सैद्धान्तिक विभाजन है, जो संसार की अधिकांश भाषाओं के लिये उपयोगी होगा। इस सम्बन्ध में कुछ विद्वान् तीन विभाजन तथा कुछ केवल क्रिया रूप एक विभाजन स्वीकार करते हैं।⁷⁶

पाश्चात्य भाषाशास्त्रियों के अर्थिम, रूपिम एवं स्वनिम जैसे प्रारम्भिक विभाजन हमारे यहाँ नहीं किये गये हैं। दोनों परम्पराओं में भाषाविश्लेषण की उपयोगिता का भेद इसका मुख्य कारण है। इस सम्बन्ध में डॉ० विद्यानिवास मिश्र का कथन है- " ... कोटियों का उपयोग अर्थभाषिक परिस्थिति, वाक्य प्रकार, वाक्य सम्बन्ध रूप प्रकार निर्धारित करने के लिए किया गया है, किन्तु यह उल्लेखनीय है कि कोटियों की परिभाषा सर्वत्र न तो स्पष्ट रूप से की गई और न एक तरह से की गई है। ये कोटियाँ व्याकरणिक कोटियाँ हैं भाषिक इकाइयाँ नहीं। इस प्रकार अर्थिम, रूपिम आदि के जोड़ में इकाइयाँ यहाँ आकल्पित नहीं हैं और न वे सीमाङ्कित ही हैं। रूप-विश्लेषण एवं वर्ण-विश्लेषण तक में वाच्यार्थ निर्धारक हो सकता है, निर्धारक परिस्थिति के रूप में उपयोजित हो सकता है। पाणिनि ने अष्टाध्यायी की रचना एक ऐसे प्रबुद्ध समुदाय के

लिए की थी जिसे न केवल संस्कृत भाषा का अच्छा संस्कार था बल्कि एक समृद्ध व्याकरण परम्परा का भी उसे अच्छा संस्कार था। इसीलिए पाणिनि की अष्टाध्यायी बहुत कुछ मानकर चलती है।⁷⁷ स्पष्ट है कि अर्थिम, रूपिम एवं स्वनिम जैसी इकाइयाँ भी इन्हीं मानी हुई चीजों में से हैं।

वस्तुतः पाणिनि के भाषा विश्लेषण का प्रमुख प्रयोजन साधु शब्दों का ज्ञापन मात्र है।⁷⁸ आधुनिक भाषाविदों की तरह उन्होंने भाषा सामान्य के तत्त्वों को ढूँढने के लिए भाषिक-विश्लेषण नहीं किया था। (यद्यपि पाणिनीय-व्याकरण में भाषा सामान्य से सम्बन्धित सार्वभौमिक नियम भी पर्याप्त मात्रा में प्राप्त होते हैं)। भाषिक-विश्लेषण में कोटियों की विभिन्नता का वास्तविक कारण यही है।

भारतीय विद्वानों द्वारा स्वीकृत बाह्य-भाषिक-व्यवस्था का वितरण निम्नाङ्कित रेखा-चित्र द्वारा स्पष्ट हो सकता है -

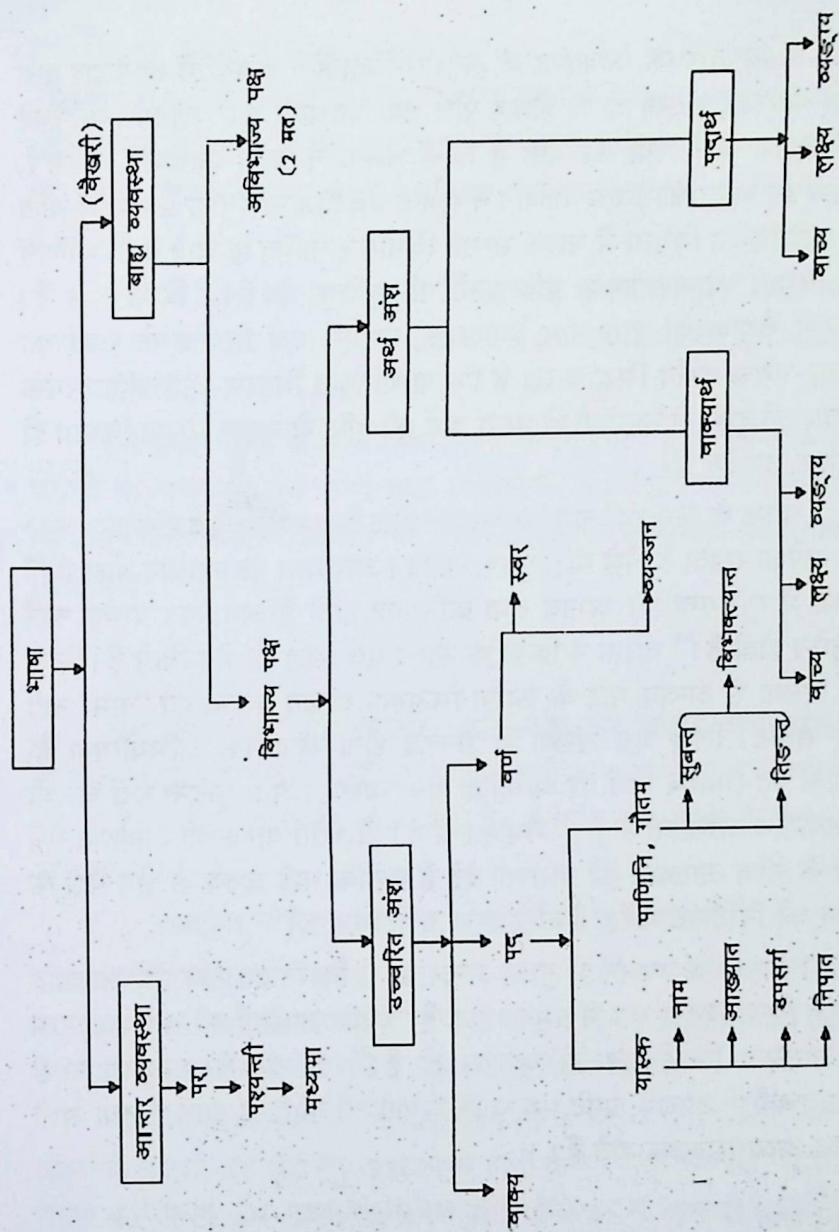
भारतीय परम्परा भाषा के (चित्र में प्रदर्शित) अर्थ एवं उच्चारण दोनों पक्षों को नितान्त अभिन्न एवं पृथक् मानती रही है।⁷⁹ इन दोनों तत्त्वों के सामञ्जस्य से ही भाषा में सामाजिकता का आधान होता है। समाज में उपयुक्त होना ही भाषा का भाषात्व है। चूँकि ध्वनि-प्रयोग अर्थावगम हेतु होता है अतः भाषा में अर्थ का स्थान महत्तर है।⁸⁰

भारतीय परम्परा के अनुसार उच्चरित भाषा भी आन्तरिक भाषा के समान ही वैविध्य को लिए हुए प्रकट होती है। उच्चरितांश का प्रारम्भिक एवं स्थूल विभाजन तीन भागों में किया गया है- वाक्य, पद एवं वर्ण।

वाक्यमात्र को अर्थवान् मानने वाले वैयाकरण पदों एवं वर्णों को वाक्य से अपोद्धृत (निकाला हुआ) मानते हैं जबकि मीमांसक एवं नैयायिक वाक्य को वर्ण एवं पदों से मिलकर बना हुआ मानते हैं।

(i) वाक्य

दार्शनिकों द्वारा स्वीकृत विभिन्न वाक्यार्थ-सिद्धान्तों के कारण वाक्य की संरचना एवं इसके प्रकार को लेकर अनेकानेक मत स्वीकृत हैं। वाक्यकाण्ड में वाक्य एवं वाक्यार्थ का विवेचन करते हुए भर्तृहरि ने विभिन्न विद्वानों के आठ मत दिये हैं।⁸¹ वाक्य एवं वाक्यार्थ चूँकि प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध के मुख्य विषय हैं अतः इनका विस्तृत विवेचन क्रमशः दूसरे एवं तीसरे अध्यायों में किया जायेगा।



(ii) पद

वाक्यपदीय के पदकाण्ड के अनुसार विद्वानों ने वाक्यों में अपोद्धार द्वारा प्राप्त पदों की संख्या दो से लेकर पाँच तक पहचानी है।⁸² वाक्य व्यतिरेकी अभिलक्षण वाले पदों का योग है जिन्हें यास्क ने नाम, आख्यात, उपसर्ग, निपात इन चार प्रकारों एवं पाणिनि ने सुबन्त एवं तिङन्त इन दो प्रकारों में बाँट है। पाणिनिकृत विभाग में यास्क सम्मत विभाग समाहित हो जाते हैं।⁸³ पाणिनि का विभाग व्याकरणात्मक प्रक्रियाओं की सुविधा के लिये किया गया है। परवर्ती वैयाकरणों द्वारा नाम, आख्यात, उपसर्ग एवं निपातों के अर्थ का पृथक्-पृथक् वर्णन सिद्ध करता है कि पाणिनिकृत वितरण चाहे प्रक्रियात्मक लाघव की दृष्टि से उपयोगी हो परन्तु अर्थ की दृष्टि से यास्क सम्मत विभाग ही अधिक उपादेय हैं।

यास्क के अनुसार 'नाम' सत्त्वप्रधान होता है तथा लिङ्ग एवं संख्या (वचन) की अपेक्षा रखता है जैसे गौः, पुरुषः आदि। आख्यात क्रियाप्रधान होता है।⁸⁴ क्रिया में मूर्तिमत्ता का अभाव तथा क्रमिकता होती है अतः यह प्रत्यक्ष नहीं अनुमेय होती है।⁸⁵ यास्क ने क्रिया के साध्य एवं सिद्ध दो भेद किये हैं। लिङ्ग एवं संख्या से अन्वय मात्र के कारण सिद्धरूप अर्थात् कृदन्त को 'नाम' नहीं कह सकते। लिङ्ग एवं संख्या से सम्बद्ध होना रूपात्मक अभियोग्यता है, जबकि पद वितरण अर्थ पर आधारित होना चाहिए। अतः कृदन्त पदों का भी आख्यातत्व अव्याहत ही है।⁸⁶ वैयाकरणों की ही भाँति यास्क भी आख्यात एवं नाम के मध्य आख्यात को प्रधानता देते हैं क्योंकि यही वाक्य के शेष पदों के चयन को नियन्त्रित करता है।

निपात एवं उपसर्ग में मुख्य अन्तर यह है कि निपात नाम एवं आख्यात से जुड़े बिना स्वतन्त्र रूप में प्रयुक्त होता है, जबकि उपसर्गों की सार्थकता नाम या आख्यात किसी एक से जुड़कर ही है।⁸⁷ पाणिनि के अनुसार सभी कर्मप्रवचनीय, उपसर्ग, प्रादि एवं चादि निपात की कोटि में आते हैं तथा सभी निपात अव्ययसञ्ज्ञक होते हैं।

(iii) वर्ण

वर्ण को भाषा की सबसे छोटी इकाई के रूप में स्वीकृत किया गया है।

वर्णों के प्रारम्भिक दो विभाग हैं - स्वर एवं व्यञ्जन । स्वर स्वतन्त्र रूप से उच्चरित हो सकते हैं परन्तु व्यञ्जनों के उच्चारण के लिये स्वरों की सहायता अनिवार्य है। स्वरों की संख्या एवं उच्चारण स्थान के विषय में प्रातिशाख्यों एवं शिक्षा ग्रन्थों में पर्याप्त मतभेद का कारण यह है कि प्रातिशाख्य का सम्बन्ध वेद की शाखा विशेष से तथा शिक्षा ग्रन्थों का सम्बन्ध प्रायः सम्पूर्ण वेदों से होता है।⁸⁸

वर्णों में विभाजक तत्त्व उनके उच्चारण के स्थान एवं इसमें लगने वाला प्रयत्न है। स्थान सात अथवा आठ कहे गये हैं। प्रयत्न आभ्यन्तर एवं बाह्य भेद से द्विधा होते हैं।

इस प्रकार वर्णों के उत्पत्तिस्थान, आभ्यन्तर प्रयत्न तथा गुणभेदक बाह्य प्रयत्नों के वर्णन से युक्त वर्ण तथा ध्वनिशास्त्र का वैज्ञानिक-वितरण और व्याख्यान हमें भारतीय चिन्तन की सूक्ष्मता और सर्वोत्कृष्टता का विश्वास दिलाता है।

अर्थ-अंश

अर्थ का वाहक होने के नाते ध्वनि-अंश की अपेक्षा अर्थ-अंश को अधिक महत्त्वपूर्ण माना गया है। भाषा का अर्थ-अंश वाक्यार्थ एवं पदार्थ के भेद से द्विधा विभक्त किया जा सकता है। भर्तृहरि ने अर्थ के विभाजन को अशक्य बताया है -

शब्दस्य न विभागोऽस्ति कुतोऽर्थस्य भविष्यति।⁸⁹

तथापि श्रोता की अशक्ति की दुहाई देकर ग्रहणोपाय के रूप में अर्थ का खण्डशः विश्लेषण भी मान्य है।⁹⁰ पदार्थों का स्पष्टीकरण आगे किया जा रहा है। वाक्यार्थ का विश्लेषण तृतीय अध्याय में किया जायेगा।

भारतीय अर्थवैज्ञानिकों ने भाषागत अर्थ के कई स्तर स्वीकार किये हैं। वक्ता के तात्पर्य की पूर्ति हेतु भाषा अपने अर्थों के इन स्तरों को प्रकट करती है। वक्ता का तात्पर्य जब अव्यवहितरूपेण उतने ही कथन से स्पष्ट हो जाता है, तब उसे भाषा का वाक्यार्थ कहा जाता है। लक्ष्यार्थ के अन्तर्गत वे अन्य अर्थ वाक्यार्थ में सम्मिलित किये जाते हैं, जिनके बिना तात्पर्य अनुपपन्न रहता है।

व्यङ्ग्यार्थ, वाच्यार्थ एवं लक्ष्यार्थ से नितान्त अस्पष्ट एवं कुछ अलग ही होता है। इन अर्थों को उपलब्ध कराने के कारण भाषा की तीन शक्तियाँ स्वीकार की गई हैं - अभिधा, लक्षणा तथा व्यञ्जना। इन शक्तियों से परिगृहीत शब्दों को वाचक, लक्षक एवं व्यञ्जक इन नामों से अभिहित किया गया है।⁸⁹ वाक्यार्थ तथा शब्दार्थ दोनों ही लक्ष्य, वाच्य एवं व्यङ्ग्य रूप हो सकते हैं।

इस प्रकार भारतीयों ने भाषिक व्यवस्था का वर्णन पूर्णता, सूक्ष्मता एवं गम्भीरता के साथ किया है।

2. भारतीय दृष्टिकोण में भाषा के प्रकार्य

(i) भाषा सामान्य के प्रकार्य : भाषिक-प्रकार्य ही भाषा की वह विशेषता है जो अपनी ओर आकृष्ट करके भाषिक-व्यवस्थाओं को जानने तथा उसका विश्लेषण करने का कौतूहल उत्पन्न करती है। भाषा एक अखण्ड इकाई के रूप में सामाजिक एवं वैयक्तिक स्तर पर जिन मुख्य प्रकार्यों का सम्पादन करती है, उन्हें वैदिक काल से ही स्वीकारा जाता रहा है। ज्ञानसूक्त एवं वाक्सूक्त (ऋ० 10/121) के मन्त्र वाक् के महत्त्व को स्पष्ट करते हैं-

यं कामये तं तमुग्रं कृणोमि तं ब्रह्माणं तमृषिं तं सुमेधाम्।⁹²

उत्तर वैदिक काल में प्रातिशाख्यों, शिक्षाग्रन्थों एवं व्याकरण वाङ्मय की बहुलता तथा उनमें प्रस्तुत सूक्ष्म विचारणाएँ सिद्ध करती हैं कि हमारे पूर्वजों ने भाषा के महत्त्व को कितनी सीमा तक समझा था।⁹³

सामाजिक सन्दर्भ में भाषा के प्रकार्यों को हम स्थूल रूप से तीन भागों में बाँट सकते हैं - 1. सामान्य व्यवहार 2. विशिष्ट व्यवहार 3. वैयक्तिक व्यवहार।

1. सामाजिक सन्दर्भ में होने वाले कार्य केवल भाषा द्वारा ही सम्भव हैं क्योंकि मनुष्य अपनी मानसिक-भावनाओं, इच्छाओं या आदेशों को भाषा के माध्यम से ही अन्य तक पहुँचा सकता है। सभी प्रकार के अर्थ शब्दाकृतिमात्र पर आश्रित हैं-

... अर्थविधाः सर्वाः शब्दमात्रासु निश्रिताः।⁹⁴

अर्थों के द्वारा प्रयोजित होने वाली सभी क्रियाओं में भाषा ही प्राणिमात्र को प्रेरित करती है -

अर्थक्रियासु वाक् सर्वान् समीहयति देहिनः।⁹⁵

भाषा की सार्थकता इसे सामान्य व्यवहार के लिए अनिवार्य तत्त्व बना देती है। अर्थ सम्प्रत्यय शब्दपूर्वक ही हुआ करता है⁹⁶। भर्तृहरि के अनुसार - कोई भी ज्ञान ऐसा नहीं है, जो शब्द से अनुविद्ध न हो।⁹⁷ मनुष्य ही नहीं अन्य प्राणी भी अपने सामर्थ्य के अनुकूल भाषा का प्रयोग करते हुए दीखते हैं। विद्वानों ने भाषा को परम प्रकाश कहा है। ज्ञान का प्रत्यवमर्शात्मकस्वरूप - वाग्वरूपता (शब्दगम्यता) यदि समाप्त हो जाये तो सम्पूर्ण जगत् अन्धकारमग्न हो जाय।⁹⁸

भारतीय दार्शनिक भाषाविदों ने कुछ आगे बढ़कर सम्पूर्ण विश्व को भाषा की सृष्टि स्वीकार किया है -

शब्दस्य परिणामोऽयमित्याम्नायविदो विदुः।

छन्दोभ्य एव प्रथममेतद्विश्वं व्यवर्तत।⁹⁹

भर्तृहरि ने इसे अनेक वैदिक उद्धरणों से स्वोपज्ञवृत्ति में भी स्पष्ट किया है।¹⁰⁰

2. सामान्य दैनन्दिन व्यवहार के अतिरिक्त भाषा मनुष्य के विशिष्ट व्यवहारों को भी उपकृत करती है। वस्तुतः ऐसे व्यवहार तो पूर्णरूपेण भाषा के सामर्थ्य के कारण ही सम्भव हो पाते हैं।

मानवसभ्यता के आधार - विभिन्न शास्त्रीय ज्ञान, शिल्प तथा कलाएँ भाषा के बिना न तो उपदिष्ट हो सकती हैं और न ही ग्रहण की जा सकती हैं -

सा सर्वविद्याशिल्पानां कलानां चोपबन्धनी।

तद्वशादभिनिष्पन्नं सर्वं वस्तु विभज्यते।¹⁰¹

यही नहीं शश शृङ्ग आदि ऐसी वस्तुएँ जिनका कोई अस्तित्व ही नहीं है वे भी शब्द के विशिष्ट प्रभाव से मानसिक जगत् में वस्तुतया गृहीत होने लगती हैं।¹⁰² दार्शनिकों के अभाव, जाति एवं समवायादि इसी कोटि के हैं। श्रीहर्ष का भी कथन है-

अत्यन्तासत्यपि ह्यर्थे ज्ञानं शब्दः करोति हि।¹⁰³

मनुष्य का स्तर उसकी भाषा के आधार पर पहचाना जा सकता है। जैसा कि दण्डी ने युक्तियुक्त ही कहा है -

गौर्गोः कामदुधा सम्यक्प्रयुक्ता स्मर्यते बुधैः ।

दुष्प्रयुक्ता पुनर्गोत्वं प्रयोक्तुः सैव शंसति ॥¹⁰⁴

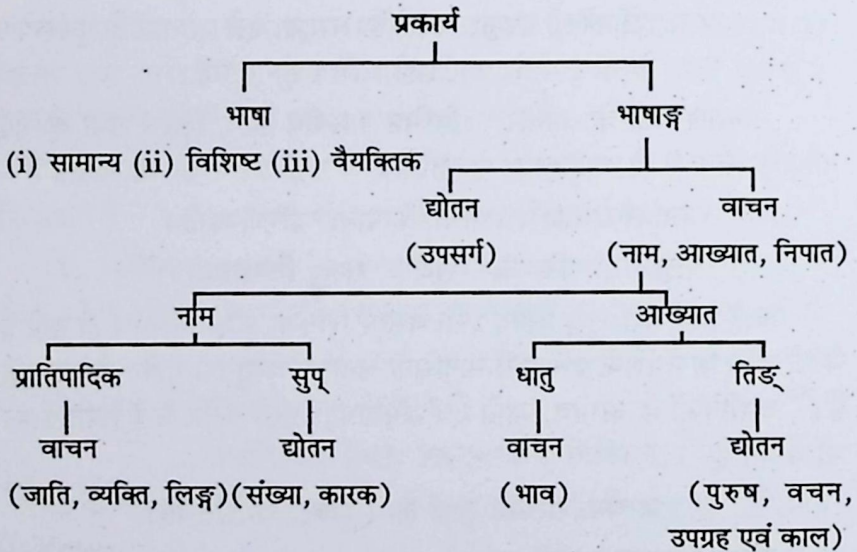
ऋग्वेद में वाणी के प्रयोग अथवा ज्ञान के आधार पर सामाजिक कार्यों के विभाजन का स्पष्ट उल्लेख है।¹⁰⁵

3. इन उपर्युक्त सामाजिक सन्दर्भों के अतिरिक्त भाषा के द्वारा व्यक्तिगत हित भी साधे जाते हैं।¹⁰⁶ कुछ सोचने, समस्या सुलझाने या एकान्त में भय दूर करने के लिए हम स्वगत भाषण से भी उपकृत होते हैं। शास्त्र की नित्य आवृत्ति की महत्ता का जो उल्लेख है, वह भी भाषा के वैयक्तिक उपयोग का प्रमुख निदर्शन है -

आवृत्तिः सर्वशास्त्राणां बोधादपि गरीयसी।^{107, 108}

(ii) भारतीय दृष्टिकोणों में भाषाङ्गों के प्रकार्य

भाषाविदों के अनुसार भाषागत अङ्गों के प्रकार्य व्यावहारिक प्रकार्यों को सम्भव बनाते हैं। वैयाकरणों द्वारा सम्मत भाषिक-प्रकार्यों को निम्नाङ्कित रेखाचित्र स्पष्ट कर सकता है -



भाषागत विभिन्न अङ्गों के प्रकार्यों को दो भागों में बाँट जा सकता है -

वाचन एवं द्योतन । वाचन का तात्पर्य यह है कि शब्द (पद) में स्वयं अर्थ की स्थिति है तथा वह स्वयं के द्वारा उसका अभिधान कर रहा है। जबकि द्योतन उसे कहते हैं जब शब्द अपने साथ प्रयुक्त शब्द के प्रच्छन्न अर्थ को प्रकट करता है उस का स्वयं कोई अर्थ नहीं होता। इस क्रिया को सम्पन्न करने वाली शक्ति द्योतकता है।¹⁰⁹

नाम, आख्यात एवं निपातों में वाचकता शक्ति रहती है। विद्वानों के द्वारा नाम के एक से लेकर पाँच तक अर्थ बताये गये हैं।¹¹⁰ 'नाम' के भी दो अंश हैं - प्रातिपादिक तथा सुप् (प्रत्यय)। उपर्युक्त अर्थों में से जाति एवं व्यक्ति प्रकृत्यंश द्वारा वाच्य होते हैं। शेष संख्या तथा कारक प्रत्ययांश (सुप् विभक्तियों) द्वारा द्योत्य होते हैं। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि पाँचों अर्थ नाम के ही होते हैं। प्रत्ययांश स्वतन्त्र रूप से निरर्थक है। सार्थकता उसी में मानी जा सकती है, जिसका अर्थप्रकाशन दूसरे की सहायता के बिना भी होता हो।¹¹¹ नाम में कारकत्व एवं संख्या प्रच्छन्न रूप में उपस्थित होते हैं। विभक्तियाँ केवल उनका द्योतन करती हैं।

आख्यात पद के द्वारा व्यापार, फल, पुरुष, वचन, काल एवम् उपग्रह का वाचन होता है। व्याकरणिक विश्लेषण से प्राप्त निष्कर्षों के अनुसार आख्यात के दो अंशों में धातु के द्वारा व्यापार एवं फल वाच्य होते हैं, जबकि शेष-पुरुष (कर्त्ता), वचन (संख्या), काल तथा उपग्रह (जो अन्ततः आख्यात द्वारा ही वाच्य हैं) का द्योतन तिङ् विभक्तियों के द्वारा होता है।

निपात वस्तुतः अव्यय होते हैं तथा अपने-अपने अर्थों का स्वतन्त्र वाचन करते हैं। यास्क ने इनके तीन अर्थ - उपमा, संयोजन (कर्मोपसंग्रह) तथा पदपूरण माने हैं। पदपूरण शुद्ध रूप से अर्थ न होकर प्रयोजन मात्र है। पाणिनि ने स्वरादि तथा चादि के अन्तर्गत इनका पाठ किया है। इनके स्वतन्त्र प्रयोग की अर्हता इनकी अर्थवाचकता को सिद्ध करती है। वैयाकरण उपसर्गों की भाँति इन्हें भी द्योतक ही मानते हैं।

पाणिनि के अनुसार प्रादि गण में पठित शब्द उपसर्ग होते हैं। ये स्वतन्त्र प्रयुक्त नहीं होते तथा क्रिया के साथ प्रयुक्त होकर उसमें निहित अर्थ का द्योतन या प्रकाशन करते हैं। यास्क ने इस सम्बन्ध में गार्ग्य एवं शाकटायन के दो

विरोधी मत प्रस्तुत किये हैं। पाणिनि ने इनके अर्थ स्पष्ट नहीं किये हैं, जबकि यास्क ने इनका दिङ्मात्र अर्थनिर्धारण किया है।

(ग) पाश्चात्य दृष्टि

पाश्चात्य तत्त्वविद् अपनी विभिन्न शास्त्रीय धाराओं का उत्स यूनानी परम्परा (विशेषतः सुकरात, प्लेटो एवं अरस्तू) में उसी प्रकार खोजने का प्रयत्न करते हैं, जिस प्रकार भारतीय-विद्वान् वेदों में। भाषा-विज्ञान के क्षेत्र में भी सर्वप्रथम दार्शनिक दृष्टिकोण प्लेटो द्वारा संगृहीत 'क्रैटिलस' में मिलता है। इसमें सुकरात के साथ क्रमशः - हर्मोजिनीज़ तथा क्रैटिलस के संवाद उल्लिखित हैं। दोनों शब्दार्थ-सम्बन्ध के बारे में परस्पर विरुद्ध विचारधाराओं को उपस्थापित करते हैं।¹¹² भाषा की उत्पत्ति से सम्बद्ध दिव्य एवं रूढ मतों का उल्लेख भी हमें प्राप्त होता है। इसके अतिरिक्त प्लेटो ने व्युत्पत्ति, उद्देश्य-विधेय तथा वाच्यों की ओर भी सङ्केत किया है। अरस्तू ने 'Poetics' में वर्णों को अविभाज्य स्वन बताया है। उसने आठ शब्द-भेदों का निर्धारण किया तथा ग्रीक कारकों पर पहली बार विचार किया।¹¹³ इनके अतिरिक्त तृतीय सदी ई०पू० Stoic वर्ग के वैयाकरणों ने अधिक रूपात्मक पद्धति से व्याकरण के प्रारम्भिक विचारों को स्थापित किया, जो लैटिन भाषा के माध्यम से पाश्चात्य-मान्यता में परम्परागत हो गये। डायोनीसियस थैक्स ने प्रथम यूनानी-रूपात्मक व्याकरण लिखा, जो अगले हजार वर्षों तक आदर्श बना रहा। रोमन वैयाकरणों ने भी यूनानियों द्वारा सम्मत व्याकरणिक शब्दावली एवं कोटियों को आदर्श बनाया, यद्यपि इसके कुछ (जैसे - Marcus Terentius Varo में) अपवाद भी मिलते हैं। डोनाटस तथा ग्रीशियन के व्याकरण मध्यकाल में अत्यधिक प्रभावी रहे। रोमन काल की मुख्य प्रगति व्याकरणिक-वर्णन का मॉडल था, जो कई लेखकों के माध्यम से यूरोप तक हस्तान्तरित हुआ और अन्ततः मध्यकाल एवं पुनर्जागरण के समय भाषा शिक्षण का आधार बना।¹¹⁴

भाषासम्बन्धी आधुनिक विचारधाराओं को हम यूरोप एवं अमरीका महाद्वीपों के आधार पर बाँट सकते हैं। यूरोपीय भाषाविज्ञान संस्कृत भाषा के अध्ययन से सम्भव हुए तुलनात्मक-भाषिकी की विधियों एवं सिद्धान्तों के साथ उदित

हुआ। इसके अन्तर्गत लिखित सन्दर्भों (Records) के ऐतिहासिक-विश्लेषण एवं व्याख्या पर अधिक बल दिया गया। इस स्थिति में बदलाव तब आया जब सॉसूर द्वारा जीवित भाषाओं की संरचना के नियामक तत्त्वों के अध्ययन पर बल दिया गया। अमरीकी मानवशास्त्रियों ने भी ऐतिहासिक अध्ययन की जगह स्थानीय जनभाषाओं के विश्लेषण को प्रमुखता दी। इनमें बोआज़ तथा सपीर मुख्य थे। इस प्रयास से भाषिक-संरचना के नवीन प्रकार ज्ञात हुए।

ब्लूमफील्ड के नेतृत्व में संरचनावादी भाषाविदों का एक बड़ा वर्ग सक्रिय हुआ जिसने वाक्य की संरचना में विभिन्न अभिलक्षणों को पहचानने तथा वर्गीकृत करने के लिये अनेक तकनीकों का उपयोग किया। भाषिक अर्थ के अध्ययन में इनका दृष्टिकोण व्यवहारवादी था।¹¹⁵ 1950 के दशक में संरचनात्मक-भाषिकी की सीमाओं के विरुद्ध तीव्र प्रतिक्रिया हुई। वाक्य विश्लेषण तथा प्रजनन की और अधिक समर्थ एवं सार्वभौम विधियाँ खोजी जाने लगीं। फलस्वरूप चॉम्स्की का रूपान्तरण-प्रजनक व्याकरण, येम्स्लेव का - ग्लॉस्मेटिक्स, हैलिडे का व्यवस्थापरक व्याकरण, के०एल्० पाइक का टैगमेनिक्स, एस्०एम्० लैम्ब का स्तरपरक-व्याकरण तथा चार्ल्स फ़िल्मोर का कारकीय व्याकरण, आदि विधियाँ प्रकाश में आईं।

इन प्रमुख सम्प्रदायों एवं विश्लेषणात्मक व्याकरणों के आधार पर अगले पृष्ठों में पाश्चात्य दृष्टि के अनुसार भाषिक व्यवस्था एवं विभिन्न भाषिक प्रकार्यों का वर्णन किया जायेगा।

आन्तरिक भाषिक व्यवस्था

इस अध्याय के प्रारम्भ में विभिन्न परिभाषाओं के विश्लेषण द्वारा स्पष्ट किया गया है कि सभी विद्वान् भाषा को सामान्यतया एक व्यवस्था के रूप में स्वीकार करते हैं। सॉसूर के अनुसार 'भाषा पदार्थ नहीं रूप है'¹¹⁶ (La Langue est une forme et non une substance)। वास्तविक वस्तु-भाव आदि का मानसिक-बिम्ब भाषा का अर्थ-पक्ष (Signified) है तथा ध्वनि का मानसिक बिम्ब भाषा का अभिव्यञ्जक पक्ष (Signifier) है, इनकी संज्ञेत-व्यवस्था (Sign-system) ही भाषा है।

यह स्पष्ट किया जा चुका है कि भाषा एक ऐसी जटिल व्यवस्था है जिसकी विभिन्न स्तरों पर अनेक उप-व्यवस्थाएँ होती हैं। इन व्यवस्थाओं के सम्यक् विश्लेषण हेतु पाश्चात्य जगत् के विभिन्न भाषा सम्प्रदाय प्रयत्नरत हैं।

यहाँ भी भाषिक-व्यवस्था को आन्तर एवं बाह्य दो भागों में बाँट जा सकता है, जिसे सॉसूर क्रमशः भाषा एवं वाक् तथा चॉम्स्की, सामर्थ्य एवं निष्पादन नाम से अभिहित करते हैं। यह विभाजन यद्यपि भारतीय विभाजन की भाँति सूक्ष्म, पूर्ण, तथा दर्शनोन्मुख नहीं है तथापि पश्चिम की दृष्टि में नवीन होने के नाते क्रान्तिकारी सिद्ध हुआ है।

आधुनिक भाषाविज्ञान के जन्मदाता कहे जाने वाले विद्वान् फर्डिनांद सॉसूर (1857-1913) का जन्म स्विट्ज़रलैण्ड में हुआ था। वे जेनेवा विश्वविद्यालय में भाषाशास्त्र के प्राध्यापक थे। सॉसूर का मौलिक योगदान भाषा एवं वाक् (Langue & Parol) के मध्य भेद का प्रतिपादन था। वाक् भाषा की बाह्य व्यवस्था है तथा भाषा (Langue) आन्तर-भाषिक व्यवस्था का नाम है। Langue प्रत्येक भाषा-भाषी के मस्तिष्क में प्रच्छन्न रूप से सदैव बनी रहती है। इसका अनुमान वाक् के प्रयोग एवं अवगम के द्वारा होता है। दूसरे शब्दों में एक ही भाषा-भाषी समुदाय के सदस्यों के वाक्-प्रयोग से निष्कृष्ट सामान्य तत्त्वों (या नियमों) का संग्रह भाषा (Langue) है। भारतीय शब्दावली में इसे भाषा जाति के रूप में समझ सकते हैं, जिसके बिना व्यक्ति-स्थानीय वाक् (parol) का अस्तित्व ही सम्भव नहीं है। पैरॉल इसी लाँग की प्रतिव्यक्ति ध्वन्यात्मक-अभिव्यक्ति है, जो स्वाभाविक रूप से प्रतिव्यक्ति-भिन्न तथा मूर्त होती है। इसके विपरीत लाँग की सत्ता भावनात्मक है। इस प्रकार वाक् भाषा का वैयक्तिक रूप है तथा भाषा वाक् का सामान्यीकृत तथा अमूर्त रूप है। इस विचारधारा का परवर्ती भाषा शास्त्र पर अत्यधिक प्रभाव पड़ा है।

उपर्युक्त विचार से लगभग मिलता-जुलता विचार सामर्थ्य एवं निष्पादन का है। इसके प्रस्तुतकर्ता पाश्चात्य-भाषा शास्त्र के आधुनिक अमरीकी विद्वान् नोम चॉम्स्की (1928-) हैं। भाषा की आन्तर-व्यवस्था को चॉम्स्की ने वक्ता का भाषिकसामर्थ्य - Competence कहा है। 'कम्पीटेंस' वक्ता के भाषिक

नियमों की व्यवस्था के ज्ञान की ओर संकेत करता है, जिसके बल पर वह उस भाषा के असंख्य वाक्यों के सृजन एवं अवगम के साथ-साथ व्याकरणिक अशुद्धियों एवं अस्पष्टताओं को भी पहचान सकता है।¹¹⁷ भाषिक-सामर्थ्य शब्दों एवं वाक्यों का समूह नहीं अपितु उनके प्रेक्षणों से प्राप्त सारभूत नियमों का संग्रह है। ये प्रजननात्मक-नियम अनुमेय (Predictive) होते हैं साथ ही भाषा सामान्य से सम्बद्ध वाक्यों के पारस्परिक सम्बन्ध के बारे में प्राक्कल्पना प्रकट करने वाले होते हैं। इन नियमों को वक्ता किसी के बताये बिना ही आत्मसात् कर लेता है। यहाँ तक कि वह स्वयं भी इनके अधिगम से अनजान रहता है। वक्ता इन नियमों का अन्वाख्यान नहीं कर सकता तथापि असंख्य, वाक्यों के सृजन एवं परीक्षण की शक्ति से इनका अनुमान सहज ही हो जाता है।¹¹⁸ भाषिक सामर्थ्य के अन्तर्गत रूपिम, शब्द, उनके उच्चारण, उनके अर्थ एवं उनका पारस्परिक संयोग सम्मिलित होते हैं।¹¹⁹ वक्ता में स्थित नियमों के सम्पूर्ण समुच्चय को परिभाषित करने वाला व्याकरण कॉम्पिटेंस व्याकरण कहलाता है। कुछ विद्वान् व्याकरणिक ज्ञान की भाँति संकेत प्रायोगिक ज्ञान (Pragmatic knowledge) को भी भाषिक-सामर्थ्य का एक अङ्ग मानते हैं।¹²⁰ इस प्रकार सामर्थ्य का क्षेत्र अत्यन्त व्यापक है। व्याकरण (रू०प्र०) वक्ता द्वारा प्रयुक्त सीमित भाषिक सामग्री को ही अपने विश्लेषण का विषय नहीं बनाता अपितु वह किसी भाषा की सारी सम्भावनाओं को ध्यान में रखकर उसकी असीमित वाक्य-निर्माण क्षमता को हमारे सामने प्रस्तुत करता है। ये सीमित नियम सूत्रों के रूप में होते हैं, जिनका संग्रह ही भाषिक सामर्थ्य कहलाता है।

वक्ता का भाषिक निष्पादन (Performance) उसके भाषिक सामर्थ्य से नियन्त्रित होता है। भाषिक-सामर्थ्य का स्तर एवं अनुमान इसी से सम्बन्धित होता है। आन्तर-सामर्थ्य विचार के स्तर पर विद्यमान होने के कारण अप्रत्यक्ष एवं अमूर्त है, जबकि निष्पादन समाजीकरण से सम्बन्धित है। अतः इसे भाषा की बाह्य व्यवस्था कह सकते हैं। स्वनिमविज्ञान, ध्वनिविज्ञान तथा शैलीशास्त्र जैसे ध्वनिसम्बद्ध शास्त्रों का आधार भी निष्पादन ही है। इसके अतिरिक्त संकोच तथा अधूरी-संरचना (जो वक्ता पर प्रभावी विभिन्न मनोवैज्ञानिक

अथवा सामाजिक कठिनाइयों के कारण उत्पन्न होते हैं) आदि ऐसे तत्त्व भी निष्पादन में संगृहीत हो सकते हैं, जिनका सम्बन्ध अमूर्त-नियम-व्यवस्था (Abstract-rule-system, i.e. competence) से नहीं है। इनका मुख्य उपयोग मनोभाषिकी में होता है।¹²¹

इस प्रकार सामर्थ्यरूपी आन्तर व्यवस्था वक्ता से सम्बद्ध, स्वनहीन, वैचारिक तथा अपेक्षाकृत नित्य है, जबकि निष्पादन रूपी बाह्य व्यवस्था श्रोतृसम्बद्ध, स्वनयुक्त, अनित्य एवं सामाजिक वस्तु मानी जा सकती है।

विश्लेषण योग्यता केवल बाह्य व्यवस्था में सम्भव है। इसकी आन्तरिक उप-व्यवस्थाओं को लेकर विद्वानों में पर्याप्त मतभेद है। भाषा प्रकार्य युक्त, अन्तःसम्बद्ध एवं कई उप-व्यवस्थाओं से युक्त स्तरों की व्यवस्था का नाम है।

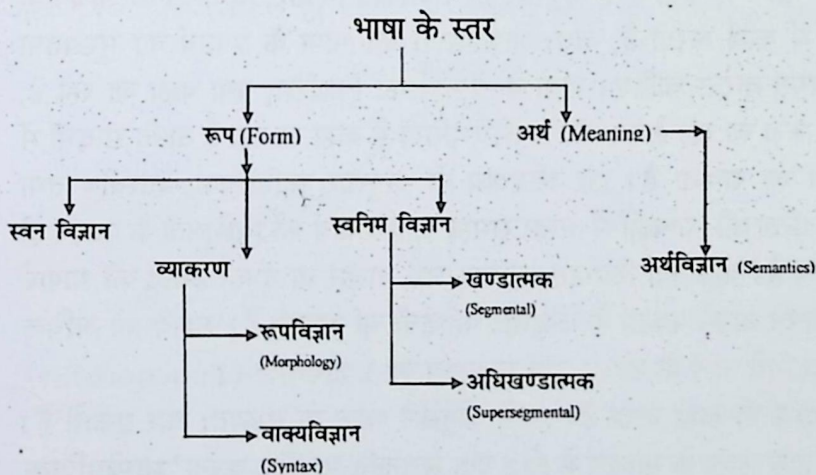
जे०आर० फ़र्थ (1890-1960) लन्दन सम्प्रदाय के प्रोसोडिक स्कूल (Prosodic-school) से सम्बद्ध प्रमुख अर्थ वैज्ञानिक रहे हैं। इनके अनुसार घटकों के रूपावली सम्बन्धी समुच्चय को व्यवस्था कहा जाता है जिनमें एक घटक दूसरे घटक का प्रतिस्थापन कर सकता है।¹²² इनके अनुसार भाषा में व्यवस्था पाँच स्तरों पर होती है - ध्वनि, शब्द, रूप, वाक्य एवं अर्थ। वे भाषा के पाँच स्तरों की इकाइयों को क्रमशः स्वनिम, शब्द, रूपिम, वाक्यीय कोटि एवं आर्थी कोटि नाम देते हैं। इनके सन्दर्भ भी इन्हीं नामों से जाने जाते हैं। भाषा के सम्बन्ध में फ़र्थ ने बहुआयामी सिद्धान्त (Multi-dimensional theory) को प्रस्तुत किया है। इसके अनुसार भाषा में उपर्युक्त स्तरों पर कई आयाम होते हैं, जिनके आधार पर व्यवस्था को स्पष्ट किया जा सकता है।

अमरीकी भाषा वैज्ञानिक एस०एम०लैम्ब (1929-) ने 1960 में स्तरपरक व्याकरण की पद्धति विकसित की। इनके अनुसार भाषा संरचना से सम्बद्ध स्तरों की व्यवस्था है। इनके अनुसार भाषा के विभिन्न स्तरों का अपना विशिष्ट विन्यास और अपनी व्यवस्था होती है। इस प्रकार भाषा बहुस्तरीय संरचना की एक जटिल व्यवस्था है। इस जटिलता का एक कारण भाषा में प्रयुक्त ध्वनि एवं अर्थ की प्रकृति का अन्तर है। इस सम्प्रदाय में ध्वनि, व्याकरण एवं अर्थ के छः स्तर (अधःस्वनिमिक → स्वनिमिक → रूपिमिक → कोशिमिक → अर्थिमिक → अति-अर्थिमिक) माने गये हैं। हर स्तर का

अपना विन्यास होता है। लैम्ब ने प्रत्येक स्तर में इसकी मूल इकाई तथा अगले उच्च स्तर से सम्बद्ध इकाई की आरोही क्रम में कल्पना करके सम्बन्धों की व्याख्या की है।¹²³

व्यवस्थात्मक व्याकरण का प्रस्ताव 1960 में ब्रिटिश भाषा-शास्त्री एम्.०.ए.के.० हैलिडे (1925-) ने किया। इनके अनुसार व्याकरण अन्तःसम्बद्ध व्यतिरेकों का जाल है। विभिन्न व्यवस्थाओं से चुने गये विकल्प एक साथ मिलकर वाक्य बनाते हैं तथा एक पर एक कई संरचनाएँ लदी होती हैं।¹²⁴ इन्होंने भाषिक व्यवस्था में चार कोटियाँ एवं चार आयाम चिह्नित किये हैं। कोटियाँ → इकाई, संरचना, वर्ग एवं व्यवस्था हैं तथा आयाम → श्रेणी, घोटन, सूक्ष्मता एवं गहराई हैं। कोटियाँ स्तरों की विशेषताएँ हैं, जबकि आयाम भाषिक विश्लेषण के विभिन्न आयामों से सम्बन्धित हैं। इनका विस्तृत वर्णन द्वितीय अध्याय में किया जायेगा।

इस प्रकार विभिन्न विद्वानों ने भाषिक व्यवस्था में स्तरों की संख्या 2 (रूप, अर्थ), 3 (उच्चारण, व्याकरण, अर्थ), 4 (स्वन, स्वनिम, व्याकरण, अर्थ), 5 (हैलिडे → स्वन, स्वनिम, व्याकरण, कोशीय - Lexis, प्रकरण - Semantics), 6 (लैम्ब - उपरिनिर्दिष्ट) (डेविड क्रिस्टल → स्वन, स्वनिम, रूप, वाक्य, शब्दम तथा प्रोक्ति), तक मानी है। इसे निम्नाङ्कित रेखाचित्र द्वारा स्पष्ट किया जा सकता है-



भाषिक प्रकार्य

भाषा पदार्थ नहीं अपितु रूप है। भाषा का यह रूप हमें प्रकार्य के रूप में प्राप्त होता है। भाषा आन्तरिक हो या बाह्य हमारे सामने उसके प्रकार्य ही आते हैं। फलतः कहा जा सकता है कि भाषा एक क्रिया है।¹²⁵

भाषा की सामाजिक अथवा वैयक्तिक उपयोगिताएँ उसके विभिन्न प्रकार्यों द्वारा सम्पादित एवं प्रयोजित होती हैं। भाषा का व्याकरणिक विश्लेषण भी वस्तुतः उसके विभिन्न प्रकार्यों की पहचान के लिये ही किया जाता है।

प्रकार्यों की पहचान दो दृष्टियों से हो सकती है। प्रथम - क्या भाषा प्रकार्यों को एक इकाई के तौर पर सम्पादित कर रही है? अथवा द्वितीय - यह कार्य भाषागत इकाइयाँ कर रही हैं। पाश्चात्य जगत् में भाषा के-प्रकार्य-पक्ष पर सर्वाधिक बल देने वाले प्राग एवं कोपेनहेगन-सम्प्रदाय हैं। इनमें से प्रथम सम्प्रदाय के अनुसार प्रकार्य से तात्पर्य भाषा के द्वारा सम्पादित किये जा सकने वाले सामान्य कार्य (जैसे सम्प्रेषण, अभिव्यक्ति आदि) हैं, जबकि दूसरे के अनुसार भाषाज्ञों के पृथक्-पृथक् कार्य अर्थात् 'भाषिक इकाइयों की परस्पर निर्भरता' भाषा का प्रकार्य है।

(i) भाषा के प्रकार्य

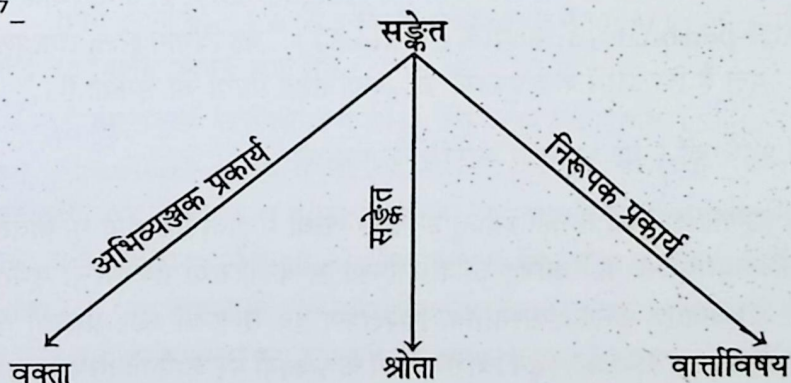
प्राग सम्प्रदाय के अनुसार भाषा आपसी विचार-विनिमय के साधन के रूप में कार्य करती है, अतः भाषाशास्त्री को भाषा के प्रकार्य का मुख्यतया अध्ययन करना चाहिए। भाषा के प्रकार्य का निर्धारण, क्या कहा जा रहा है, कैसे कहा जा रहा है तथा किन परिस्थितियों में कहा जा रहा है आदि सन्दर्भों में किया जा सकता है। इस सम्प्रदाय के अनुसार साहित्यिक, शास्त्रीय तथा पत्रकारिता की भाषाओं में अन्तर समझ पाना प्रकार्य की विभिन्नता के कारण ही सम्भव है। यही नहीं लिखित-कथित, घर-बाज़ार या दफ़्तर आदि की भाषाएँ भी अपने अपने प्रकार्य के अनुसार पहचानी जा सकती हैं। प्रकार्य को अधिक महत्त्व दिये जाने के कारण प्राग सम्प्रदाय को प्रकार्यवादी (Functionalist) सम्प्रदाय भी कहा जाता है। इसके अनुसार भाषा के मुख्यतः चार प्रकार्य हैं। भाषा द्वारा वक्ता के माध्यम से श्रोता तक सूचनादि सम्प्रेषित करना 'साम्प्रेषणिक

प्रकार्य' है। भाषा द्वारा वक्ता की अभिव्यक्ति भी होती है, जो इसका 'अभिव्यक्तिक प्रकार्य' है। इन दोनों से अतिरिक्त भाषण आदि केवल श्रोता को प्रभावित करने के लिए प्रयुक्त होते हैं। यह भाषा का 'प्रभाविक (Conative) प्रकार्य' है। इन सभी तीन प्रकार्यों से समन्वित भाषा की जो संरचना होती है, समष्टि रूप से उसका भी प्रकार्य होता है जिसे समष्टिगत प्रकार्य कहा जा सकता है।

प्रकार्यवादी भाषाविद् ए० मार्टिने के अनुसार प्रकार्यपरक भाषाविज्ञान कोई अलग धारा नहीं है, अपितु सामान्यतः भाषाविज्ञान को प्रकार्यपरक ही होना चाहिए। उनके द्वारा स्वीकृत मुख्य प्रकार्य हैं - 1. सम्प्रेषण, 2. विचारों को अस्तित्व में लाना, 3. अभिव्यक्ति, 4. प्रभावी प्रकार्य, 5. सौन्दर्यपरक प्रकार्य (यह साहित्य में प्राप्त होता है)। उनके अनुसार इनमें सम्प्रेषण ही भाषा का केन्द्रीय प्रकार्य है।¹²⁶

मार्टिने ने भाषा के विभिन्न स्तरों पर होने वाले प्रकार्यों का भी वर्णन किया है।

भाषा के प्रकार्यात्मक सिद्धान्त पर सर्वाधिक विकसित विचार ऑस्ट्रिया के मनोवैज्ञानिक कार्ल व्यूह्लर द्वारा प्रकट किये गये हैं। इनके अनुसार भाषिक परिस्थिति के तीन आधारभूत कारक हैं जो भाषिक संकेत के साथ सम्बद्ध होते हैं। इनमें से किसी एक में भी परिवर्तन होने पर भाषिक संकेत में परिवर्तन हो जाता है। ये सह-सम्बन्ध ही व्यूह्लर के अनुसार भाषा के आधारिक-प्रकार्य हैं¹²⁷ -



अर्थात् संकेत तथा वक्ता का सहसम्बन्ध अभिव्यञ्जक प्रकार्य, संकेत तथा श्रोता का सहसम्बन्ध आकर्षण प्रकार्य और संकेत तथा वार्ता विषय का सम्बन्ध निरूपक प्रकार्य होता है। व्यूहलर द्वारा प्रतिपादित इन उपर्युक्त तीन प्रकार्यों का उपयोग त्रुबेत्स्कॉय ने स्वनप्रक्रिया में किया।

डेविड क्रिस्टल द्वारा संपादित 'The Cambridge Encyclopedia of Language' में सात मुख्य भाषिक प्रकार्यों का परिगणन है -

भावनात्मक अभिव्यक्ति (Emotional Expression), सामाजिक-व्यवहार (Social Interaction), खेल आदि में प्रयुक्त होने वाले शब्द-समूह जो निरर्थक होते हुए भी उपयोगी होते हैं (The power of Sound), ओझाओं या पुजारियों द्वारा प्रयुक्त तथाकथित सम्भाषणात्मक प्रकार्य (The control of reality), लेखन अथवा ध्वनिमुद्रण द्वारा तथ्य संग्रह (Recording of Facts), मनुष्य द्वारा स्पष्टता हेतु, या एकाग्रता हेतु गणित आदि के प्रश्न सम्बन्धी उच्चारण (The instrument of thought), हमारी भाषा हमारे क्षेत्र, जाति, धर्म, मानसिकता, लिङ्ग, पेशा, शिक्षा, आयु आदि वैयक्तिक तथ्यों का खुलासा करती है। (The expression of identity¹²⁸)

एम्० ए० के० हैलिडे ने समाज में भाषा प्रयोग के विभिन्न व्यवहार क्षेत्रों के आधार पर भाषा-रूपों के भेदों की गणना की है, जिसमें "प्रयुक्ति" को भाषा-प्रकार्य का एक प्रमुख आधार स्वीकार किया गया है। इनके अनुसार भाषा के तीन प्रकार्य हैं - 1. संप्रत्ययात्मक (Ideational), 2. अन्तर्वैयक्तिक (Inter-personal), 3. पाठपरक (Textual)।¹²⁹ यह विभाग इतना समावेशी एवं स्थूल है कि इसमें शेष प्रकार्यों को अन्तर्निहित किया जा सकता है।

(ii) भाषाङ्गों (या भाषिक स्तरों) के प्रकार्य

पूर्णता वस्तुओं में नहीं अपितु उनके सम्बन्धों में होती है। भाषा भी केवल अपने अवयवों से नहीं अपितु उनके आपसी सम्बन्धों तथा प्रकार्यों से पूर्णता पाती है। अतएव उसका वास्तविक विश्लेषण इन सम्बन्धों और प्रकार्यों के विश्लेषण से हो सकता है। इन विभिन्न स्तरों के प्रकार्यों पर कोपेनहेगन सम्प्रदाय के भाषाविदों ने सम्यक् विचार किया है।

अपने सिद्धान्त की प्रकृति के अनुकूल येम्प्लेव प्रकार्य (Function) शब्द का प्रयोग तर्कशास्त्र एवं गणितीय अर्थ में करते हैं। प्रकार्य से उनका आशय दो भाषिक इकाइयों की पारस्परिक निर्भरता से है। इन इकाइयों को वे प्रकार्यक (Functive) की सञ्ज्ञा देते हैं। इनके दो प्रकार हैं – अनिवार्य तथा निवार्य¹³⁰। अनिवार्यता एवं निवार्यता के आधार पर प्रकार्य तीन प्रकार के हो सकते हैं –

1. प्रतिनिर्भरता (Interdependence) जिसमें दोनों प्रकार्यक अनिवार्य हों। 2. एकनिर्भरता (Determination) जिसमें एक ही अनिवार्य हो। 3. अनिर्भरता (Constellation) जिसका कोई भी प्रकार्यक एक दूसरे पर निर्भर न हो अर्थात् दोनों निवार्य हो।¹³¹ इसी सम्प्रदाय के विद्वान् उल्डाल ने वस्तु के सम्बन्ध में अरस्तू के त्रय सिद्धान्त¹³² को भाषा पर भी प्रयुक्त किया। इनके अनुसार भाषा की विशेषताएँ एवं कार्य एक ही हैं तथा अस्तित्व उसमें समाहित हैं। इस प्रकार उल्डाल तीनों को एक में मिलाकर उसे प्रकार्य की सञ्ज्ञा देते हैं। पूरी मानविकी तथा भाषा-विश्लेषण में इनका मुख्य ध्यान इस प्रकार्य पर ही था।

Functive भी स्वनिमविज्ञान में किसी भाषा के स्वनिमों को मालूम करने के लिए उन्हें प्रकार्य के आधार पर वर्गीकृत करने पर बल देते हैं। अर्थ में भिन्नता प्रदान करना स्वनिमों का विशिष्ट-प्रकार्य है।

वाक्य रचना के क्षेत्र में भी इनके अनुसार वाक्य में प्रयुक्त प्रत्येक सार्थक इकाई का विशेष प्रकार्य होता है।

भाषिक प्रकार्य के सम्बन्ध में सॉसूर का वाच्य एवं वाचक (Signifier and Signified) सिद्धान्त उल्लेखनीय है। ये शब्द-सम्प्रत्यय तथा स्वन-प्रतिबिम्ब के स्थान पर प्रयुक्त किये गये हैं। इन दोनों का ही मनोवैज्ञानिक अस्तित्व है। मस्तिष्क में इनके बीच साहचर्य सम्बन्ध होता है। अतः भाषिक संकेत किसी वस्तु तथा उसके नाम को नहीं अपितु सम्प्रत्यय तथा ध्वनि-प्रतिबिम्ब को जोड़ता है। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि भाषा के इन दो मानस-विभागों का प्रकार्य मानसिक स्तर पर ही सम्पादित होता है। इस प्रकार उनके अनुसार 'ध्वन्यात्मक अभिव्यक्ति' द्वारा 'संकेतन' का प्रकार्य सम्पादित होता है। 'संकेतन'

‘अर्थ’ का होता है तथा दोनों के बीच यादृच्छिक सम्बन्ध है। इस विचारधारा का परवर्ती भाषाविज्ञान पर अत्यधिक प्रभाव पड़ा है।

भाषिक-व्यवस्था एवं प्रकार्य के अध्ययन के सन्दर्भ में टैगमेमिक्स का उल्लेख महत्वपूर्ण है। इसके अनुसार बन्धिम (टैगमीम) ऐसा भाषिक तत्त्व है, जो व्यवस्था एवं प्रकार्य का सहसम्बन्ध है। ‘बन्धिम’ की सत्ता शब्द या रूप की तरह मूर्त नहीं है। यह एक अमूर्त सङ्कल्पना है। इस सम्प्रदाय के आलोचक एल्सन एवं पिकेट स्पष्ट करते हैं—

“The Correlation of a grammatical function or slot with the class mutually substituted items that fill the slot (is called tagmeme)”¹³³

उपसंहार (निष्कर्ष)

भाषिक व्यवस्था एवं प्रकार्य के उभयपक्षीय अध्ययन के फलस्वरूप उभरे कुछ प्रमुख बिन्दुओं को निम्नाङ्कित प्रकार से देखा जा सकता है—

1. भारतीय एवं पाश्चात्य विभाजनों में प्रमुख अन्तर यह है कि भारतीय शास्त्रज्ञों का विभाजन मुख्यतः सैद्धान्तिक है तथा पाश्चात्यों का मुख्यतः विश्लेषणात्मक। इसका प्रमुख कारण उपयोगिताओं की विभिन्नता है। भारतीय भाषाविदों को विशिष्ट भाषा के सर्वाङ्गीण शिक्षण हेतु प्रयत्न करना था जबकि पश्चिम के विद्वान् भाषा सामान्य के तत्त्वों के अन्वेषण की ओर उन्मुख हैं।
2. पश्चिमी विद्वान् यद्यपि भारतीय सिद्धान्त की तरह भाषा की बौद्ध-सत्ता भी मानने लगे हैं तथापि आन्तर-भाषा का वर्णन एवं विवरण इतनी सूक्ष्मता, स्पष्टता एवं दार्शनिकता के साथ वहाँ होना अभी शेष है।
3. भारतीय-भाषा तत्त्वज्ञों के अनुसार आन्तर-भाषा केवल सम्प्रेषण तथा वैयक्तिक उपयोग तक सीमित नहीं है। अपितु प्राणिमात्र के क्रिया-कलाप इसी आन्तरिक भाषा तत्त्व के द्वारा सञ्चालित अथ च नियन्त्रित होते हैं -

अर्थक्रियासु वाक् सर्वान् समीहयति देहिनः ॥¹³⁴

सन्दर्भ

1. यह तत्त्व भर्तृहरि की शब्द-भावना से तुलनीय है- ('न विना शब्दभावनाम्' वा०प० 1/122)।
2. अर्थात् ध्वनि-सम्बद्ध-अनुकरण अथवा निष्पादन (Performance) अन्तःस्थ-शब्दभावना का ज्ञापक-कारण ही है, न कि कारक-कारण।
3. पाणिनीय धातुपाठ, भ्वादिगण - 613
4. वा०प० (1/123)
5. वही (1/121)
6. इदमन्धं तमः कृत्स्नं जायेत भुवनत्रयम्।
यदि शब्दाह्वयं ज्योतिरासंसारान् दीप्यते॥ काव्यादर्श (1/4)
7. द्रष्टव्य - Vāk - as a Pratyavamarśa : Navajīvan Rastogi, Unpublished paper, presented in International Seminar on Bhartrihari: Language and Reality, Delhi-December 2002
8. शतपथब्राह्मण - 2/1/4/10
9. ताण्ड्यब्राह्मण - 7/7/9
10. भाषा-विज्ञान का इतिहास, महेश प्रसाद जायसवाल - पृ० 127 पर उद्धृत
11. वही - पृष्ठ-114 पर उद्धृत
12. वही - पृ० 112 पर उद्धृत - Language : An introduction to the study of speech से
13. आधुनिक भाषा-विज्ञान की भूमिका
14. Glossary of Linguistic Terminology, p. -141
15. भाषाविज्ञान की भूमिका : आचार्य देवेन्द्र नाथ शर्मा, पृ० 20
16. भारतीय चिन्तन के नितान्त शास्त्रीय होने के कारण तथा विश्लेषण की सुविधा हेतु वाक्य को ही भाषा का प्रतिनिधि मानकर विश्लेषित किया गया है। भाषा में प्राप्त सभी तत्त्व वाक्य के स्तर पर भी प्राप्त होते हैं, इसीलिये वाक्य को भाषा का प्रतिनिधि कहा जा रहा है।
17. आधुनिक भाषाविज्ञान की भूमिका - डॉ. मोतीलाल गुप्त, पृ० 1
18. वही, पृ० 1
19. A Dictionary of Linguistics and Phonetics - David Crystal (under the entry - 'System')
20. आधुनिक भाषा-विज्ञान - भोलानाथ तिवारी, पृ० 40 पर उद्धृत
21. A Dictionary of Linguistics and Phonetics - David Crystal (under the entry - 'System')

22. आधुनिक भाषाविज्ञान - डॉ० भोलानाथ तिवारी, क्रमशः पृ० 40, 154 पर उद्धृत
23. वही, पृ० 40, 154 पर उद्धृत
24. भाषाविज्ञान परिभाषा कोश - (द्वितीय भाग 'स्तर' के अन्तर्गत)
25. 'द सौसे' उद्धृत आधुनिक भाषाविज्ञान की भूमिका, पृ० 157
26. वही, उद्धृत
27. वा०प० (1/95)
28. Psychology and Language - Herbert H. Clark; Eve V. Clark.
29. A Dictionary of Linguistics and Phonetics - David Crystal (Under the entry 'function')
30. गुणभूतैरवयवैः समूहः क्रमजन्मनाम्।
बुद्ध्या प्रकल्पिताभेदः क्रियेति व्यपदिश्यते ॥ (वा०प० समु०-4)
31. A Dictionary of Linguistics and Phonetics' (P. 191)
32. भाषाविज्ञान परिभाषा कोश (भाग दो) पृ० 113
33. आधुनिक भाषाविज्ञान का इतिहास, पृ० 78
34. 'ब्राह्मणार्थो यथा नास्ति कश्चिद्ब्राह्मणकम्बले।
देवदत्तादयो वाक्ये तथैव स्युरनर्थकाः ॥' (वाक्य० 2/14)
35. 'ग्रहणोपाय एव सः', (वा०प० 1/85)
36. परमलघुमञ्जूषा - शक्तिनिरूपणम् (प्राथमिक पङ्क्तिर्वाच्य)
37. 'रक्षोहागमलध्वसन्देहाः प्रयोजनम्'। (महाभाष्य - पस्पशाह्निक)
38. Language - विश्वनाथ प्रसाद कृत हिन्दी अनुवाद 'भाषा', पृ० 10
39. 'चत्वारि वाक्परिमिता पदानि तानि विदुर्ब्राह्मणा ये मनीषिणः।
गुहा त्रीणि निहिता नेङ्गयन्ति तुरीयं वाचो मनुष्या वदन्ति ॥' ऋग्० 1/164/45
40. वा०प० (1/126)
41. वही, (1/44)
42. 'बुद्ध्यर्थादेव बुद्ध्यर्थे जाते तदपि दृश्यते।' (वा०प० 3/3/33)
43. वा०प० (3/3/32)
44. ऋग्वेद (1/164/45)
45. 'बुद्धौ कृत्वा सर्वाश्चेष्टाः कर्ता धीरस्तन्वन्नीतिः।
शब्देनार्थान् वाच्यान् दृष्ट्वा बुद्धौ कुर्यात् पौर्वापर्यम् ॥' (म०भा० 1/4/109)
46. 'यथा प्रयोक्तुः प्राग् बुद्धिः' इत्यादि, वा०प० (1/54)
47. 'वितर्कितः पुरा बुद्ध्या' इत्यादि, वा०प० (1/48)
48. 'यां पूर्वाहितसंस्कारो बालोऽपि प्रतिपद्यते' (वा०प० 1/122)
49. उपर्युक्त कारिका की स्वोपज्ञ वृत्ति, पृ० 110

50. 'स्वरूपज्योतिरेवान्तः परा वागनपायिनी' (अथर्व० सा०भा० में उद्धृत)
51. परमलघुमञ्जूषा; स्फोटप्रकरण
52. 'अविभागेन वर्णानां सर्वत्र संवृतक्रमा' (अथर्व० सा०भा०) एवं वा०प० 1/143 की वृत्ति में उद्धृत
53. 'पश्यन्ती मयूराण्डरसोपमा' (वही)
54. 'नाभिपर्यन्तमागच्छता तेन वायुनाऽभिव्यक्ता मनोगोचरीभूता पश्यन्ती वाग् उच्यते।' (प०ल०मं०, स्फोटनिरूपणम्)
55. वही।
56. भाषा: एक भारतीय दृष्टिकोण-अनिल विद्यालङ्कार ('भाषिकी' में संगृहीत लेख, पृ० 17)
57. वा०प० (1/143)
58. अथर्व० सा०भा०
59. (क) 'केवलं बुद्ध्युपादाना क्रमरूपानुपातिनी।
प्राणवृत्तिमतिक्रम्य मध्यमा वाक्प्रवर्तते॥'
(वा०प० 1/143 की स्वोपज्ञ वृत्ति में उद्धृत)
- (ख) 'मध्यमा त्वन्तःसन्निवेशिनी परिगृहीतक्रमेव बुद्धिमात्रोपादाना।' (वही)
60. 'ध्वनिप्रकाशिते शब्दे स्वरूपमवधार्यते।' (वा०प० 1/84)
61. 'इन्द्रियाणि पराण्याहुरिन्द्रियेभ्यः परं मनः।
मनस्तु परा बुद्धिर्बुद्धेर्यः परतस्तु सः॥' (श्रीमद्भगवद्गीता 3/42)
62. 'ततो हृदयपर्यन्तमागच्छता तेन वायुनाभिव्यक्ता तत्तदर्थवाचकशब्दस्फोटरूपा श्रोत्रग्रहणायोग्यत्वेन सूक्ष्मा जपादौ बुद्धिनिर्ग्राह्या मध्यमा वागुच्यते।' (परमलघुमञ्जूषा, स्फोटनिरूपणम्)
63. नागेश भट्ट ('संस्कृत भाषादर्शनम्' - यज्ञवीरदहिया; में उद्धृत, पृ० 472)
64. प०ल०मं० में नागेश द्वारा उद्धृत, पृ० 24
65. वा०प० (1/76)
66. वही, (1/52)
67. वा०प० (1/94)
68. महाभाष्य, तथा संग्रह - 'स्फोटशब्दो ध्वनिस्तस्य व्यायाम उपजायते।'
69. 'तादृशमध्यमानादव्यङ्ग्यः शब्दः स्फोटात्मको नित्यश्च' (प०ल०मं०, स्फोटनिरूपणम्)
70. 'ध्वनिना सोऽनुगृह्यते' (वा०प० 1/47)
71. वा०प० (1/84) एवम् (1/85)
72. व्याकरणिक कोटियों का विश्लेषणात्मक अध्ययन, डॉ० दीप्ति शर्मा, पृ० 24

73. '...तत्र चतुष्ट्वं नोपपद्यते' (यास्क-निरुक्त, प्रथम अध्याय/प्रथम पाद)
74. 'शब्दस्य न विभागोऽस्ति कुतोऽर्थस्य भविष्यति' (वा०प० 2/13)
75. 'शास्त्रेषु प्रक्रियाभेदैरविद्यैवोपवर्ण्यते।' (वही 2/233)
76. विस्तृत चर्चा हेतु - 'व्याकरणिक कोटियों का विश्लेषणात्मक अध्ययन', डॉ० दीप्ति शर्मा, पृ० 22
77. भारतीय भाषा-चिन्तन की पीठिका - डॉ० विद्यानिवास मिश्र, पृ० 110
78. 'साधुत्वज्ञानविषया सैषा व्याकरणस्मृतिः।' (वा०प० 1/141)
79. 'एकस्यैवात्मनो भेदौ शब्दार्थावपृथक्स्थितौ।' (वा०प० 2/31)
80. 'अर्थम् वाचः फलपुष्पमाह' (निरुक्त 1/6), पृ० 55
81. वाक्यपदीय (2/2)
82. 'द्विधा कैश्चित्पदं भिन्नं चतुर्धा पञ्चधापि वा।' (वा०प० 3/1)
83. उपसर्ग एवं निपात पाणिनि के अनुसार अव्यय हैं। उनसे आये सुप् का 'अव्ययादाप्सुपः' 2/4/82 से लुक् हो जाता है। फलतः ये भी सुबन्त ही हैं।
84. 'सत्त्वप्रधानानि नामानि / भावप्रधानमाख्यातम्।' निरुक्त प्रथम अध्याय प्रथम खण्ड।
85. 'गुणभूतैरवयवैः समूहः क्रमजन्मनाम्।
बुद्ध्या प्रकल्पिताभेदः क्रियेति व्यपदिश्यते॥' (वा०प०, क्रिया-समुद्देश 1)
86. विस्तृत प्रतिपादन हेतु देखें - व्याकरणिक कोटियों का विश्लेषणात्मक अध्ययन, डॉ० दीप्ति शर्मा, प्रस्तुत प्रकरण
87. 'न निर्बद्धा उपसर्गा अर्थान्निराहुरिति।' (निरुक्त प्रथम अध्याय)
88. The Paninīya Shiksha notes by Manmohan Ghosh
89. वा०प० (2/13)
90. 'प्रतिपत्तुरशक्तिः सा ग्रहणोपाय एव सः' (वा०प० ब्रह्मकाण्ड)
91. काव्यप्रकाश-2/1, पृ० 160
92. ऋगु० 10/121/5
93. अधिक सन्दर्भों हेतु - Linguistic speculations of Hindoos, (P.C. Chakravorti)
94. वा०प० (1/119) एवं, (1/126) की स्वोपज्ञवृत्ति में उद्धृत
95. वही
96. "शब्दपूर्वको ह्यर्थे सम्प्रत्ययः" (महाभाष्य)
97. वा०प० (1/123)
98. काव्यादर्श (1/4) तथा वा०प० (1/123)
99. वा०प० (1/120)
100. (क) 'वागेवार्थं पश्यति वाग्ब्रवीति वागेवार्थं निहितं सन्तनोति।
वाच्येव विश्वं बहुरूपं निबद्धं तदेतदेकं प्रविभज्योपभुङ्क्ते॥'

(ख) 'वागेव विश्वा भुवनानि जज्ञे वाच इत्सर्वममृतं यच्च मर्त्यम्।
अथेद् वाग् बुभुजे वागुवाच पुरुत्रा वाचो न परं यच्चनाह॥'
(वा०प० 1/1 की स्वोपज्ञवृत्ति में उद्धृत)

101. वा०प० (1/125)
102. 'अत्यन्तमतथाभूते निमित्ते श्रुत्युपाश्रयात्।
दृश्यतेऽलातचक्रादौ वस्त्वाकारनिरूपणा॥' (वा०प० 1/129)
103. 'खण्डनखण्डखाद्य', पृ० 60 एवं 424 पर श्लोक वार्तिक (2/6) से उद्धृत
104. काव्यादर्श (1/6)
105. ऋग्वेद 10/71/9
106. 'भाषाविज्ञान की भूमिका' आचार्य देवेन्द्र नाथ शर्मा, पृष्ठ-43
107. वही पृष्ठ - 269 पर उद्धृत
108. 'आवृत्या न तु स ग्रन्थः प्रत्यावृत्ति निरूप्यते।' (वा०प० 1/82)
109. 'स्वसमभिव्याहृतपदनिष्ठवृत्त्युद्बोधकत्वं द्योतकत्वम्" नागेश भट्ट, व्याकरणिक कोटियों का विश्लेषणात्मक अध्ययन, पृष्ठ 197 पर उद्धृत।
110. वही - पृष्ठ-46
111. वही - पृष्ठ 46
112. 'The Cambridge Encyclopedia of Language' - D. Crystal, Part XI, P. 404
113. भाषाविज्ञान का इतिहास, म०प्र० जायसवाल, पृ० 8
114. 'The Cambridge Encyclopedia of Language' D. Crystal, part XI, P. 405
115. प्राचीन भारतीय भाषा-चिन्तन की आधुनिकता और प्रासंगिकता, आचार्य देवेन्द्रनाथ शर्मा के भाषण का लिखित रूप
116. आधुनिक भाषाविज्ञान, भोलानाथ तिवारी, पृष्ठ-29
117. A Dictionary of Linguistics and Pnonetics - David Crystal
118. An Introduction to Language V. Tromkin & R. Rodman, p.- 7-9
119. An Introduction to Language - V. Tromkin & R. Rodman, P. 158
120. Ibid. P. 187
121. A dictionary of Linguistics and Phonetics - David Crystal, P. 343
(Under the entry 'performance')
122. आधुनिक भाषाविज्ञान की भूमिका, मोतीलाल गुप्त, पृ० 84 पर उद्धृत।
123. विस्तृत वर्णन हेतु - आधुनिक भाषाविज्ञान, भोलानाथ तिवारी, पृ० 123-124
124. वही, पृ० 154
125. विल्हेम वॉन हम्बोल्ट, भाषाविज्ञान का इतिहास, पृ० 54 पर उद्धृत
126. आधुनिक भाषाविज्ञान, भोलानाथ तिवारी पृष्ठ-165 पर उद्धृत।

127. आधुनिक भाषाविज्ञान का इतिहास, मोतीलाल गुप्त पृष्ठ 65 पर उद्धृत।
128. The Cambridge Encyclopedia of Language, David Crystal, p. 10-13
129. भाषाविज्ञान परिभाषा कोश - पृ० 114
130. (i) अनिवार्य - जिसका आना दूसरे प्रकार्यक के लिए अनिवार्य हो
(ii) निवार्य - जिसका आना दूसरे प्रकार्यक के लिए आवश्यक न हो
131. इसके अन्य नाम - अन्योन्याश्रय, निर्धारण एवं संघात भी प्रयुक्त हैं
132. आधुनिक भाषा-विज्ञान, भोलानाथ तिवारी, पृष्ठ 165
133. 'आधुनिक भाषा-विज्ञान' (डॉ० भोलानाथ तिवारी) पृष्ठ 110 पर उद्धृत
134. वा०प० (1/127)

द्वितीय अध्याय

वाक्य-संरचना

(क) भर्तृहरि द्वारा इङ्गित आठ सिद्धान्त

1. वाक्य-संरचना सम्बन्धी दो प्रारम्भिक मत : पदवाद एवं वाक्यवाद

भाषा के संरचनात्मक-विश्लेषण के लिये भाषावैज्ञानिक, वैयाकरण अथवा अन्य दार्शनिक सामान्यतया वाक्य का ही ग्रहण करते हैं। इसका कारण यह है कि वाक्य में प्रतिनिधि रूप से भाषा के सभी अभिलक्षण प्राप्त हो जाते हैं। वस्तुतः भाषा अमूर्त एवं जातिस्वरूपिणी है जिसका उपयोग या अनुमान हम वाक्य के द्वारा ही कर पाते हैं। यही कारण है कि भाषा-विश्लेषण के नाम पर प्राचीन भाषाशास्त्रियों ने सदा वाक्य का ही विश्लेषण किया - 'ऋजुमार्गेण सिध्यतोऽर्थस्य वक्रेण साधनायोगात्'।¹ अतः वाक्य के विवरण तथा विश्लेषण से प्राप्त तथ्यों को भाषा से सम्बन्धित माना जा सकता है।

भारत में प्राचीन काल से ही वाक्य की संरचना से सम्बन्धित स्पष्ट रूप से दो मत रहे हैं - पदवाद एवं वाक्यवाद। इनमें प्रमुख मतभेद चूँकि वाक्य की विभाजन-योग्यता पर आधारित है, अतः इन्हें क्रमशः सखण्ड पक्ष एवं अखण्डपक्ष भी कहा जा सकता है। दोनों ही पक्ष ऋग्वेद प्रतिशाख्य के एक ही प्रमाणभूत वाक्य को समासभेद से अपने-अपने पक्ष में समर्थित करते हैं - 'पदप्रकृतिः संहिता'।² (स्पष्टीकरण अग्रिम पृष्ठों पर)। वाक्य के स्वरूप का वर्णन विद्वानों ने अपने-अपने दार्शनिक-सिद्धान्तों एवं मान्यताओं के अनुरोध से भिन्न-भिन्न प्रकार से किया है। वैयाकरणों के अतिरिक्त प्रायः सभी चिन्तक वाक्य को पदों

से संघटित मानते हैं। भर्तृहरि द्वारा प्रस्तुत लक्षणों में इन्हीं दो पक्षों के आठ प्रतिनिधि मत वर्णित हैं, अतः इनका सामान्य स्पष्टीकरण प्रकृत प्रसङ्ग में उपयोगी होगा—

(i) पदवाद

उपर्युक्त दो वादों का आधारभूत प्रश्न यह है कि भाषा की कौन सी इकाई अपने में सम्पूर्ण अर्थ देने वाली है? सखण्ड-पक्ष की मान्यता का आधार यह है कि वाक्य-संरचना में पृथक्-पृथक् शब्द एवं शब्दार्थ पहले से ही उपस्थित होते हैं। वाक्य की रचना के बाद शब्द को वाक्य का एवं शब्दार्थ को वाक्यार्थ का अङ्ग मान लिया जाता है। अतः इस मत के अनुसार 'वाक्य' खण्डों से निर्मित एक सम्पूर्ण इकाई है। वे इस विचार को बहुव्रीहि-वृत्ति के द्वारा समर्थित करते हैं - "पदानि एव प्रकृतिः यस्याः सा संहिता"। (अर्थात् पद ही संहिता के मूल हैं)। पदवादी पदसङ्घात के रूप में तो वाक्य की सत्ता मानते हैं परन्तु उनके अनुसार अर्थबोधकता वाक्य में नहीं पदों में होती है। वाक्यार्थ वाक्यजन्य नहीं अपितु पद-जन्य अर्थों का समूह मात्र है। इनके अनुसार, सम्प्रेषण के समय वर्णों एवं पदों तथा उनके अर्थों का क्रमशः अवधारण होना एक सार्वजनीन अनुभव है अतः वाक्य की अखण्डता को स्वीकार करना प्रत्यक्ष का अपलाप करना है। ऋक्प्रातिशाख्य के अतिरिक्त बृहदेवता^१ में भी सखण्ड पक्ष की मान्यता का स्पष्ट समर्थन मिलता है। शाबरभाष्य में पदों का स्वतंत्र अस्तित्व तथा वाक्यार्थ में उनकी कारणता का वर्णन है।^२ विद्वानों ने मीमांसकों को सखण्डवाद का मुख्य पक्षधर स्वीकारा है।^३ मीमांसकों के अनुसार पदों को एक इकाई में समन्वित एवं संघटित रखने वाले तत्त्व आकाङ्क्षा, योग्यता एवं सन्निधि हैं। ये वाक्यार्थ के सहकारी कारण भी होते हैं। इस प्रकार वाक्यार्थ बोधरूपी समान प्रयोजन में साकाङ्क्ष एवं योग्य होने के कारण पद परस्पर जुड़े होते हैं। ऊह इत्यादि पद पर आधारित लक्ष्यों की पूर्ति के लिये पदों की सत्यता का समर्थन मीमांसकों की बाध्यता है। मीमांसकों के अतिरिक्त नैयायिक एवं आलंकारिक भी अपने विभिन्न शास्त्रीय प्रयोजनों की पूर्ति के लिये सखण्डवाक्यवाद का समर्थन तथा अखण्ड पक्ष का खण्डन करते हैं।

(ii) वाक्यवाद

आचार्य भर्तृहरि ने सखण्डवादियों (पददर्शिनः) का अकुण्ठ खण्डन करके अखण्ड वाक्यवाद की दृढ़ प्रतिष्ठापना की है। तथ्य अथवा कल्पना के रूप में कोई भी विचार वक्ता के मन में एक इकाई के रूप में ही स्थित रहता है तथा इसकी अभिव्यञ्जना भी एक इकाई के रूप में ही होती है। यह इकाई वाक्य है। ध्यातव्य है कि इसका अवगम भी श्रोता को एक इकाई के रूप में ही होता है। वर्णों एवं पदों की उपस्थिति आभासी है। ध्वनियाँ सम्भाषण की अनिवार्य शर्त हैं। इनका स्वभाव है - क्रमशः उच्चरित होना। ध्वनियों की क्रमवत्ता जो वर्ण या पद के रूप में प्रत्यक्ष होती है वह वाक्य पर आरोपित हो जाती हैं⁶, अन्यथा वाक्य के अन्तर्गत भासमान वर्ण या पद उसी तरह नितान्त असत् हैं, जिस प्रकार ए, ऐ आदि वर्णों के कल्पित (अ, इ, ए आदि) वर्णभाग। वाक्य को खण्डहीन सिद्ध करने के साथ ही वैयाकरण पदों को वाक्य से अपोद्धत (निकाला हुआ) स्वीकार करते हैं ताकि भाषा-शिक्षण आदि लौकिक एवं शास्त्रीय व्यवहार सम्भव हो सकें। पदों की अवास्तविकता को सिद्ध करने में उनका तर्क है कि पदों का स्वरूप तथा अर्थ दोनों अनिश्चित तथा सन्दिग्ध होते हैं। वे स्वतन्त्र व्यवहार के योग्य भी नहीं होते।⁷ फलतः असत्य पद वाक्यार्थ की संरचना में असमर्थ हैं। 'पदानां प्रकृतिः संहिता' इस षष्ठीतत्पुरुष समास के माध्यम से वे वाक्य को ही पदों का कारण मानते हैं। वाक्य केवल उच्चरित और श्रूयमाण सत्ता नहीं है, वह एकात्मक विचार है जिसका विभाजन स्वाभाविक रूप से असम्भव है। विभाजन योग्यता केवल ध्वनियों में है, जो विचार के स्तर पर स्थित वाक्य की अभिव्यञ्जक अथवा प्रकाशक मात्र हैं। उच्चारण से पहले वाक्य वक्ता एवं बाद में श्रोता की बुद्धि में अखण्डरूपेण स्थित रहता है। वैयाकरण वाक्य को ही वाक्यार्थ का एकमात्र कारण मानते हैं क्योंकि पदों की सत्ता तो है ही नहीं जिससे कि वह कारण बन सके। भर्तृहरि शक्तिग्रह, आकाङ्क्षा, योग्यता अथवा सन्निधि जैसे सहकारी कारणों की बात भी नहीं करते, क्योंकि सम्प्रेषण पदों द्वारा होता ही नहीं, जिसके लिए इनकी आवश्यकता पड़े। वे वाक्यार्थ को प्रतिभा-स्वरूप मानते हैं जिसके लिए

अन्तर्निहित शब्द-भावना उत्तरदायी है। यह आन्तर शब्दभावना ही है जो भर्तृहरि को समकालीन दार्शनिकों की अपेक्षा कहीं अधिक प्रबुद्ध विचारक सिद्ध करती है।

आचार्य ने स्पष्ट रूप से अखण्डवाक्यवाद का पक्ष लेते हुए, प्रतिपक्ष द्वारा उठायी गयी शङ्काओं का समुचित निवारण किया है, जिसका वर्णन यथावसर किया जायेगा।

भर्तृहरि भाषा के एकमात्र प्रतिनिधि के रूप में वाक्य की महत्ता को अच्छी तरह से जानते थे। अतः आचार्य ने अपने महनीय ग्रन्थ वाक्यपदीय के सम्पूर्ण द्वितीय काण्ड को वाक्य के ऊहापोह एवं खण्डन-मण्डन पूर्वक वर्णन को समर्पित किया है। प्रथम काण्ड में जहाँ प्रतिपक्ष का लगभग अभाव सा दीखता है, वहीं इसके विपरीत वाक्यकाण्ड में वाक्य एवं वाक्यार्थ सम्बन्धी प्रश्नों एवं प्रतिप्रश्नों का अद्भुत संग्रह है।^१ वाक्यकाण्ड के प्रारम्भिक १ श्लोकों में उन्होंने वाक्य संरचना से सम्बन्धित विभिन्न आचार्यों के आठ प्रमुख मत गिनाए हैं -

आख्यातशब्दः संघातो जातिः संघातवर्त्तिनी।

एकोऽनवयवः शब्दः क्रमो बुद्ध्यनुसंहतिः ॥१॥

पदमाद्यं पृथक् - सर्वपदं साकाङ्क्षमित्यपि।

वाक्यं प्रति मतिर्भिन्ना बहुधा न्यायवादिनाम् ॥२॥

विभिन्न सम्प्रदायों द्वारा प्रस्तुत कारिकाओं के शब्द परिवर्तन एवं संख्या परिवर्तन पूर्वक अनेकधा व्याख्यान हुए हैं।^१ यहाँ हमें पुण्यराजसम्मत पारम्परिक आठ मत ही अभीष्ट तथा अनुमत हैं। इनके अनुसार सखण्ड पक्ष के पाँच मत हैं, जो क्रमशः अभिहितान्वयवाद तथा अन्विताभिधान पक्ष के अन्तर्गत वर्गीकृत किये जा सकते हैं। १. क्रम एवं २. सङ्घात को 'अभिहितान्वयवाद' तथा १. आख्यातशब्द, २. आद्यपद एवं ३. साकाङ्क्ष पृथक् सर्वपद, पक्षों को 'अन्विताभिधानवाद' के अन्तर्गत रख सकते हैं। शेष तीन पक्ष १. संघातवर्त्तिनी जाति, २. एक अनवयव शब्द तथा ३. बुद्ध्यनुसंहति, अखण्डवाक्यवाद के अन्तर्गत रखे जाते हैं। सखण्डवाद में अन्तर्भूत विभिन्न पक्षों का स्पष्टीकरण अवसरप्राप्त है।

2. सखण्ड पक्ष से सम्बद्ध मत

सखण्ड पक्ष का केन्द्रीय विचार यह है कि वाक्य से पूर्व भी पदों की वास्तविक सत्ता होती है तथा उनसे जुड़कर वाक्य निर्मित होता है। संयोगज सत्ता का खण्डसहित होना अनिवार्य ही है, अतः वाक्य का सखण्ड होना ही तर्कसङ्गत है। वाक्यगत वाक्यार्थ के स्वरूप के अनुसार सखण्ड पक्ष को दो वादों, अभिहितान्वय एवं अन्विताभिधान के अन्तर्गत वर्गीकृत किया गया है। ध्यातव्य है कि इस प्रकार का वर्गीकरण अथवा मतों की स्पष्ट नामग्राह चर्चा भर्तृहरि ने कहीं नहीं की है। यह भेद वाक्यकाण्ड के टीकाकार पुण्यराज द्वारा किया गया है, जिसका अनुसरण आधुनिक व्याख्याकारों ने भी किया है। इससे स्पष्ट होता है कि भाट्ट एवं प्राभाकर मतों द्वारा इनके स्पष्ट एवं सूक्ष्म विवेचन से पूर्व भर्तृहरि के समय में भी ये सिद्धान्त विचारजगत् में विद्यमान थे।

सबसे पहले अभिहितान्वयवाद से सम्बन्धित दो मतों का स्वरूप एवं उनमें आचार्य द्वारा उपस्थापित अनुपपत्तियों का वर्णन किया जा रहा है -

(i) अभिहितान्वयवाद से सम्बद्ध दो पक्ष एवं उनके खण्डन

अभिहितान्वयवाद मूलतः वाक्यार्थ से सम्बद्ध मान्यता है, जिसका विस्तृत वर्णन तृतीय अध्याय में किया जायेगा। इस प्रसङ्ग में केवल इतना जानना आवश्यक है कि अभिहितान्वयवाद के अनुसार वाक्यगत पद, अस्तित्व एवं अर्थ दोनों की दृष्टि से स्वतन्त्र तथा निरपेक्ष होते हैं। पद अपने-अपने स्वतन्त्र अर्थों का अभिधान करके अर्थ में रहने वाली आकाङ्क्षा एवं योग्यता के फलस्वरूप एकात्मक वाक्यार्थ की प्रतीति कराते हैं। अन्वय बताने वाली शक्ति अभिधा से अतिरिक्त (लक्षणा) होती है। वाक्य का स्वरूप चूँकि वाक्यार्थ के अनुरूप एवं उनसे प्रयोजित है अतः वाक्य के लक्षणों को भी अभिहितान्वयवाद के अन्तर्गत रखा गया है। भर्तृहरि द्वारा वर्णित लक्षणों में दो लक्षण अभिहितान्वयवाद के अन्तर्गत आते हैं। इनका वर्णन आगे किया जा रहा है -

(क) सङ्घात पक्ष

सङ्घात पक्ष अभिहितान्वयवादियों का सर्वाधिक स्वीकृत पक्ष है। इसके अनुसार अर्थ के द्वारा परस्पर सम्बद्ध पदों का सङ्घात अर्थात् समूह वाक्य है।

समान प्रयोजन वाले पदों के खण्ड समवेत रूप से वाक्य कहलाते हैं। केवल क्रियापद अथवा आदि-पद को वाक्य स्वीकार करने पर भी अन्य पदों का अध्याहार अनिवार्य होता है। फलतः ये पक्ष भी अन्ततोगत्वा सङ्घातपक्ष में ही पर्यवसित होते हैं। शौनक-कृत बृहदेवता (2/117) के 'पदसङ्घातजं वाक्यम्' इस कथन से प्रस्तुत सिद्धान्त की प्राचीनता ज्ञात होती है। जैमिनि, शबरस्वामी एवं कुमारिलभट्ट जैसे मीमांसकों¹⁰ के अतिरिक्त प्राच्य एवं नव्य नैयायिक¹¹ भी पदसङ्घात-पक्ष का स्पष्ट समर्थन करते हैं। जैमिनिकृत वाक्यलक्षण 'अर्थैकत्वादेकं वाक्यं साकाङ्क्षं चेद्विभागे स्यात्' भी सङ्घातपक्ष का पोषक है। यहाँ विभाग शब्द से दो बातें - 1. वाक्य की विभाज्यता एवं 2. वाक्य की सखण्डता स्पष्ट होती है। इस पक्ष के अनुसार वाक्य में संयुक्त होने से पहले पद का जो स्वतन्त्र अर्थ होता है, वाक्य का अङ्ग होने पर भी उसका वही अर्थ रहता है।¹² तीन पत्थर मिलकर जिस प्रकार बटलोई को धारण करते हैं अथवा चार कहार मिलकर जैसे पालकी उठाते हैं उसी प्रकार वाक्यगत पद मिलकर वाक्य या वाक्यार्थ को सम्भव बनाते हैं।¹³ फलतः वाक्य का स्वरूप पद से अतिरिक्त कुछ भी नहीं है।¹⁴ तथा वाचकता भी मात्र पद में निहित होती है। भर्तृहरि इसे स्पष्ट करते हैं-

यथाऽस्यावयवा वर्णा विना ऽ। च्येन केनचित्।

अर्थवन्तः समुदिता वाक्यमप्येवमिष्यते॥ (वा०प० 2/54)

(जिस प्रकार अकेला वर्ण नहीं अपितु वर्णों का समुदाय वाचक होता है, उसी प्रकार वाचकता पदों में नहीं बल्कि पदों के समुदाय अर्थात् वाक्य में होती है।)

भर्तृहरि ने इस पक्ष की आलोचना वाक्यार्थमुखेन की है। यह पक्ष संसर्ग को वाक्यार्थ मानता है। इसके अनुसार पहले पदों का सामान्य-अर्थ आता है तत्पश्चात् अन्य पदों के संसर्ग से उसमें विशिष्टार्थ (वाक्यार्थ) का आधान होता है। भर्तृहरि के अनुसार सामान्य-अर्थ के तिरोहित हो जाने पर शब्द विशेष-अर्थ का वाचन नहीं करा सकता। शब्दार्थ सम्बन्ध के नित्य होने के कारण पहले तो सामान्य-अर्थ का परित्याग नहीं हो सकता। यदि ऐसा हो भी जाय तो परित्यक्त सामान्यार्थ कहाँ जायेगा, इसका उत्तर देना कठिन है। सामान्यार्थ एवं विशेषार्थ की विवक्षा भी एक साथ नहीं हो सकती। शब्द से सामान्य-अर्थ

आता है तथा संसर्ग से विशिष्टार्थ, अगर ऐसा मान लिया जाये, तो पदार्थ अशब्द हो जाएगा। संसर्ग-लभ्य पदार्थों से घटित वाक्यार्थ भी अशब्द-लभ्य प्रसक्त होगा। फलतः वाच्य-वाचक-भाव रूप शब्दार्थ-सम्बन्ध की हानि हो जायेगी।¹⁵ क्योंकि इस पक्ष के अनुसार अर्थ शब्द से नहीं बल्कि संसर्ग से प्राप्त हो रहा है।

इस प्रकार वाक्यार्थ-बोध को ठीक से परिभाषित नहीं कर पाने के कारण, 'सङ्घात पक्ष' वाला वाक्य लक्षण खण्डित हो जाता है।

(ख) क्रम

क्रम पक्ष के अनुसार पदों का विशिष्ट क्रम वाक्य कहलाता है। जिस प्रकार वर्णों की विशिष्ट आनुपूर्वी को पद कहते हैं उसी प्रकार वाक्य भी पदों का एक क्रम है। क्रम एवं वाक्यार्थ में अन्वय-व्यतिरेक सम्बन्ध होने से सिद्ध होता है कि क्रम ही वाचक होता है, वाक्य नहीं।¹⁶ क्रम को काल का धर्म कहा गया है, उसकी वाचकता सिद्ध होने पर 'वाक्य' जैसे किसी अर्थबोधक तत्त्व की विद्यमानता सिद्ध नहीं होती।¹⁷ क्रम को वाचक मानने से क्रम के भेद से वाक्यार्थ में भेद उपपन्न हो जायेगा, फलतः अनेक शक्तियाँ नहीं माननी पड़ेंगी। इस प्रकार इस पक्ष में लाघव होता है। क्रम अश्राव्य है तथा काल का धर्म है, जिसे पदों पर आरोपित कर दिया जाता है। इस पक्ष में भी संसर्ग को वाक्यार्थ माना गया है। इस प्रकार इस पक्ष में वाक्य को अवास्तविक तथा व्यवहार-मात्र माना गया है।¹⁸

भर्तृहरि ने इस पक्ष का स्पष्ट खण्डन किया है। उनके अनुसार वाक्य एवं वाक्यार्थ का सम्बन्ध शब्द के धर्मों से है जिन्हें सदैव शब्द से प्राप्त होना चाहिए। अन्यथा शब्दार्थ-सम्बन्ध का नित्य होना - जो व्याकरण एवं मीमांसा दोनों में समान रूप से अनुमत है, खण्डित हो जायेगा। क्रम काल का धर्म है।¹⁹ इसे वाचक मानने पर वाक्य एवं वाक्यार्थ की शब्द-लभ्यता अनुपपन्न हो जायेगी तथा संघात-पक्ष की भाँति शब्दार्थ सम्बन्ध की हानि होने लगेगी। कुमारिलभट्ट ने भी 'गौः अस्ति' एवं 'अस्ति गौः' आदि वाक्यों में क्रमभेद से अर्थभेद का सम्बन्ध नहीं होना' सिद्ध करके इस पक्ष का खण्डन किया है।²⁰

इस प्रकार वाक्य की सत्ता एवं नित्य शब्दार्थ-सम्बन्ध को स्वीकार नहीं करने के कारण यह पक्ष भी वैयाकरणों को सम्मत नहीं है।

(ii) अन्विताभिधानवाद से सम्बद्ध तीन मत एवं उनका खण्डन

अन्विताभिधानवादी शब्द के स्वतन्त्र तथा सामान्य अर्थ की वाचकता को स्वीकार नहीं करते। इनके अनुसार शब्दों (पदों) के अर्थ वाक्यगत अन्य पदार्थों से विशिष्ट एवं संसृष्ट होकर आते हैं तथा वे परस्पर जुड़कर वाक्यार्थ देते हैं। इस पक्ष को स्वीकार करने से एक ओर अभिहितान्वयवाद में प्रसक्त दोष नहीं आते हैं तो दूसरी ओर अन्वय हेतु किसी अन्य शक्ति का आश्रय न लेने से लाघव भी होता है। वाक्यार्थ से सम्बद्ध अन्विताभिधानवाद प्रस्तुत पुस्तक के तृतीय अध्याय का मुख्य विषय है। इसका विशद वर्णन वहीं प्राप्य है। इस वाक्यार्थ सिद्धान्त से प्रेरित तीन वाक्य लक्षणों को भर्तृहरि ने उद्धृत किया है जिनका वर्णन अग्रिम-पङ्क्तियों में किया जा रहा है।

(क) आख्यात शब्द

आख्यात शब्दवाद के अनुसार आख्यात-शब्द अर्थात् क्रियावाचक पद ही वाक्य है। भर्तृहरि ने इस मान्यता की विस्तृत चर्चा की है। आख्यात वाक्यवाद का यह अर्थ नहीं है कि केवल आख्यातघटित शब्द ही वाक्य है अथवा आख्यात से अतिरिक्त पदों की वाक्य संघटना में कोई महत्त्व नहीं है। अपितु इसका तात्पर्य यह है कि वाक्य के घटक पदों में सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण एवं अनिवार्य पद आख्यात होता है। यदि वाक्य एक क्रिया पद वाला हो और उतने ही से सम्पूर्ण अर्थ की निराकांक्ष समाप्ति हो जाय तो उसे भी वाक्य कहा जाना चाहिए। उदाहरण के लिए 'वर्षति' कहने से 'देवो जलं वर्षति' का पूर्ण बोध होता है अतः यह भी एक सम्पूर्ण वाक्य है। अन्य कारक पदों के बिना प्रयुक्त आख्यात-पद भी आकाङ्क्षा द्वारा उन्हें अध्याहत करके अपने को पूर्ण करता है—

आख्यातशब्दे नियतं साधनं यत्र गम्यते।

तदप्येकं समाप्तार्थं वाक्यमित्यभिधीयते॥ (वा०प० 2/326)

क्रियापदों में अपने योग्य कारकों के चुनाव तथा परिसीमन की शक्ति होती है।¹ वाक्य में अन्य पदों की अपेक्षा क्रिया पद की महत्ता का यही कारण है। जैसे 'लिखति' कहने से कर्ता के रूप में चैतन्ययुक्त एवं पर्याप्त अधीती व्यक्ति का ही अध्याहार हो सकता है। कर्म एवं करण के बारे में भी यही सत्य है। वाक्य में क्रिया हो या न हो, क्रिया के बिना वाक्यबोध असम्भव है। अतएव क्रियात्मकता को ही वाक्य का लक्षण माना गया है। क्रियापदयुक्त वाक्य ही सभी वाग्-व्यवहारों का साधन है।² इस प्रकार वाक्य की निराकाङ्क्ष एवं परिपूर्ण प्रतीति कराने तथा सम्यक् एवं शीघ्र अर्थावबोध में कारण होने के नाते विद्वानों ने क्रिया को ही 'वाक्य' माना है। 'कारक' वाक्य में क्रिया के प्रति गौण होते हैं³, क्योंकि उनका अपना अर्थ भी क्रिया के बिना प्रतीत नहीं होता-

क्रियाऽनुषङ्गेण विना न पदार्थः प्रतीयते।

सत्यो वा विपरीतो वा व्यवहारे न सोऽस्त्यतः॥ (वा०प० 2/424)

क्रिया-मात्र से अर्थ की प्राप्ति हो जाने पर भी वाक्यगत अन्य पद उसी क्रियार्थ के अनुवादक (कथित का कथन करने वाले) अथवा नियामक होते हैं। 'अनुवाद' एवं 'नियमन' से वाक्यार्थ और स्पष्ट हो जाता है। जैसे 'देवः' एवं 'जलम्' इन पदों द्वारा 'वर्षति' पद के अर्थ का अनुवाद ही होता है। 'आश्रयति' इस क्रियार्थ का 'माणवकम्' पद नियमन करता है। 'आख्यातं साव्ययकारकविशेषणं वाक्यम्' कात्यायन द्वारा दिये गये वाक्य के इस लक्षण में 'आख्यात' पद को विशेष्य बनाने से इस पक्ष को पुष्टि मिलती है। वैयाकरणों का वाक्यार्थबोध भी 'धात्वर्थमुख्यविशेष्यक' ही माना गया है। वाक्य में केवल क्रियेतर पद के रहने पर क्रिया का अध्याहार किये बिना वाक्य पूर्ण नहीं होता -

वाक्यं तदपि मन्यन्ते यत्पदं चरितक्रियम्।

(वा०प० 2/325)

भर्तृहरि ने यद्यपि आख्यातपक्ष का खण्डन नहीं किया है, तथापि वे इसको मानने के पक्ष में नहीं हैं। इसमें कारण हैं - 1. वाक्य के एकात्मक होने से तदन्तर्गत पदों के मध्य गौण-मुख्य भाव उन्हें अभिप्रेत नहीं है। 2. क्रिया के अभाव में दैनन्दिन व्यवहृत क्रियारहित वाक्यों का वाक्यत्व प्रस्तावित हो

इस्य २ कृत स्थिति
नयपुर कारसर, जयपुर
पुस्तकालय
31409

जायेगा। 3. यदि उनमें क्रियापद का अध्याहार सिद्ध करें तो कहा जा सकता है कि भर्तृहरि अध्याहारवाद को नहीं मानते तथा वे अभिलषित अर्थ की पूर्ति प्रकरण द्वारा मानते हैं।²⁴ 4. प्रस्तुत पक्ष में क्रिया को वाक्यार्थ माना गया है जिसे प्रतिभावाक्यार्थवादी आचार्य सहन नहीं करते।

(ख) आद्य पद

इस मत के अनुसार पदसमूह में से पहले पहल प्रयुक्त पद को वाक्य कहते हैं— चाहे वह क्रिया का वाचक हो या साधन (कारक) का वाचक। अन्विताभिधानवाद के अनुसार सभी पद विशिष्ट अर्थों के ही वाचक होते हैं, अतः प्रथम पद भी अन्य अतिरिक्त (प्रयुज्यमान) शब्दों के अर्थों के साथ विशिष्ट अर्थ को ही देता है। इस प्रकार प्रथमतः प्रयुक्त पद से ही सम्पूर्ण वाक्य का अर्थ आ जाता है। अतः इसे ही वाक्य मानना समीचीन है। आद्य पद से सम्पूर्ण वाक्य का अस्पष्ट सा भान हो जाता है। श्रोता स्पष्टीकरण हेतु अन्य पदों की अपेक्षा करता है जो पूर्वतन अर्थ में कुछ भी नवीनता नहीं लाते। वस्तुतः अर्थ की पूर्णता ही वाक्य की कसौटी है। यदि अर्थ एक (आद्य) पद से भी पूर्ण हो जाता है, तो वही वाक्य है। यदि अर्थ कई पदों से पूरा नहीं होता तो उन्हें भी पद ही माना जायेगा वाक्य नहीं। अर्थ प्रथम पद से ही पूर्ण हो जाता है। अन्य पद उस अर्थ के सहकारी अथवा द्योतक होते हैं। जैसे — साक्षात् क्रियते में 'क्रियते' पद द्वारा भी 'साक्षात्' पद से अवगत अर्थ का ही प्रकाशन हो रहा है। सम्पूर्ण वाक्य का अर्थ आद्य पद द्वारा व्यक्त होने से — 'देवदत्त गां बधान' एवं 'देवदत्त गामभ्याज' वाक्यों में देवदत्त पद में समानता की प्रतीति होना केवल भ्रम है। प्रथम शब्द का उच्चारण शब्दार्थ के लिए ही नहीं अपितु सम्पूर्ण संसृष्ट वाक्यार्थ के लिये किया जाता है। प्रथमतः उच्चरित शब्द या तो क्रिया होगा या कारक। दोनों, परस्पर अविनाभूत हैं।²⁵ अतः शुरुवाती शब्द (अपने धर्मभूत) दूसरे पदों के अर्थों की उपस्थिति उसी प्रकार करवाता है जैसे धूम अग्नि की। इस प्रकार आदि पद से अतिरिक्त दूसरे पद, नियम अथवा अनुवाद हेतु प्रयुक्त किये जाते हैं।²⁶ ऐसा नहीं है कि आद्यपदवादी केवल आद्यपद को ही वाक्य मानते हैं। ये बातें वाक्य में अर्थ की दृष्टि से आद्यपद महत्त्व को ध्यान में रखकर कही गई हैं।

इस मत का खण्डन मुख्य रूप से आदि पद के अतिरिक्त अन्य पदों के वैयर्थ्य की आशङ्का उठाकर की गई है। भर्तृहरि इस प्रश्न का समाधान देते हुए भी इस मत से सन्तुष्ट नहीं दीखते हैं।

(ग) पृथक् सर्वपदसाकाङ्क्षवाक्य-वाद

आदिपद की ही भाँति वाक्य में स्थित सभी पद अलग अलग भी सम्पूर्ण वाक्यार्थ का बोध कराने में समर्थ हैं। अतः सभी को वाक्य कहा जा सकता है। चूँकि (अन्विताभिधानवाद के अनुसार) सभी पद पृथक्-पृथक् भी वाक्यगत पदों के अन्य अर्थों से संसृष्ट अर्थ का ही बोध कराते हैं अतः सभी पदों को वाक्य कहना निरापद है। इस प्रकार वाक्यार्थ प्रतिपद अवबुद्ध होता है -

तेषां तु कृत्स्नो वाक्यार्थः प्रतिभेदं समाप्यते। (वा० प० 2/18)

संघातवाद में पद परतन्त्र रहते हैं जबकि यहाँ पदों की पूर्ण अर्थद्योतकता के नाते वे परिपूर्ण एवं स्वतंत्र होते हैं। यही इन दोनों मतों में मुख्य अन्तर है। लक्षण में 'पृथक्' पद इसे संघातवाद से, तथा 'सर्व' पद 'आद्यपदवाद' से एवं 'आख्यातशब्दवाद' से अलग करने हेतु लगाया गया है। इस पक्ष के अनुसार भी वाक्यार्थ संसृष्ट ही होता है।

भर्तृहरि आदिपदवाद अथवा पृथक् सर्वपदसाकाङ्क्षवाद को स्वीकार नहीं करते परन्तु योगदर्शन उसे स्वीकार करते हुए प्रतिभासित होता है। योगदर्शन में सभी पदों में वाक्यशक्ति स्वीकार की गई है -

सर्वपदेषु चास्ति वाक्यशक्तिः। वृक्ष इत्युक्ते अस्तीति गम्यते।

न सत्तां पदार्थो व्यभिचरति। (यो० सू० व्यासभाष्य 3/17)

इस प्रकार सखण्डपक्षवादियों के मतों के स्पष्टतया प्रतिपादन के साथ-साथ भर्तृहरि ने उनसे असन्तुष्ट होते हुए उनकी मान्यताओं का खण्डन किया है। प्रतिपक्ष का प्रतिपादन पुरस्सर एवं ऊहापोह पूर्ण समीक्षा तथा समालोचना आचार्य की प्रिय विवेचन पद्धति रही है। विरोधी पक्ष की मान्यताओं का वर्णन भी अत्यन्त उदारतापूर्वक किया गया है, ताकि शिष्यवर्ग एवं आगामी अध्येतृगण की बुद्धि तर्कसम्पन्न एवं विवेक युक्त हो -

प्रज्ञा विवेकं लभते भिन्नैरागमदर्शनैः।

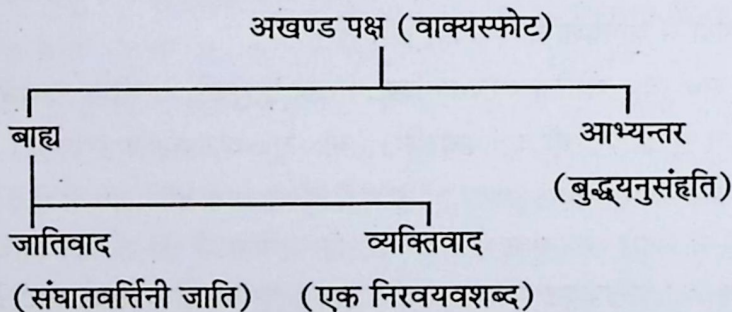
कियद् वा शक्यमुन्नेतुं स्वतर्कमनुधावता॥

(वा०प० 2/486)

3. अखण्ड पक्ष से सम्बद्ध तीन मत तथा इनमें उत्थापित एवं सम्भावित शङ्काओं का निवारण

सखण्डपक्षवादी वाक्य की एकात्मकता एवं वाचकता दोनों का खण्डन करते हैं। भर्तृहरि ने उनके विरोध में अखण्डवाक्यवाद की स्थापना की है। यह सिद्धान्त मुख्यतः मीमांसकों के पद-पदार्थ नित्यत्ववाद के विरोध में स्थापित है। भर्तृहरि के अनुसार एकमात्र वाक्य ही अर्थ का वाचक है जो एक तथा अखण्ड है। आचार्य ने वाक्य एवं वाक्यार्थ के अखण्डत्व का स्थूणानिखननन्याय से पक्ष-प्रतिपक्षपूर्वक विशद वर्णन एवं स्थापन किया है। इस प्रसङ्ग में उन्होंने अखण्डवादियों के कुल तीन मत दिये हैं। इन्हें दो वर्गों में रखा जा सकता है बाह्य तथा आन्तरिक।

जब वाक्य को पूर्ण उच्चारण द्वारा अभिव्यक्त किया जाता है, तब इसका स्वरूप बाह्य होता है। इसके पहले या बाद में जब यह वक्ता या श्रोता के मस्तिष्क में रहता है, तब इसका स्वरूप आन्तरिक होता है। दोनों स्थितियों में यह एक अविभाज्य इकाई है। इस विभाजन को निम्नाङ्कित ग्राफ़ द्वारा देखा जा सकता है -



भर्तृहरि के टीकाकार पुण्यराज ने इसको वाक्यस्फोट पक्ष कहा है। वस्तुतः भर्तृहरि ने स्वयं इस शब्द का प्रयोग कहीं नहीं किया।

आगे भर्तृहरि सम्मत इन सिद्धान्तों का क्रमशः वर्णन किया जाना है।

(क) संघातवर्तिनी जाति

वैयाकरणों ने जातिस्फोटपक्ष में क्रियावाचक अथवा कारकवाची पदों में विद्यमान शब्दजाति को वाक्य मानकर उसकी वाचकता सिद्ध की है। ध्यातव्य है कि व्याकरण-आगम में 'सत्ताजाति' के अतिरिक्त 'शब्दत्वजाति' भी स्वीकार की गई है अर्थात् शब्द के द्वारा शब्द से वाच्य अर्थ के अतिरिक्त उसके पूर्व शब्दजाति भी भासित होती है -

स्वा जातिः प्रथमं शब्दैः सर्वैरेवाभिधीयते।

ततोऽर्थजातिरूपेषु तदध्यारोपकल्पना॥

(वा०प० 3/16)

यही कारण है कि 'शब्द' के स्वरूप अवधारण के बिना उसके वाच्य अर्थ का ज्ञान असम्भव होता है।²⁷ स्वरूपावधारण से श्रोता शब्दजाति को ग्रहण करता है।

यहाँ पदसंघात को एक शब्द मानकर उसमें स्थित अमूर्त जाति को वाक्य एवं अर्थ का बोधक माना गया है। वाक्य को जातिस्वरूप मानने से उसका एकत्व एवं अखण्डत्व अनायास ही सिद्ध हो जाते हैं। एक ही वाक्य का विभिन्न पुरुषों द्वारा उच्चारण किये जाने पर भी अथवा एक ही व्यक्ति द्वारा विभिन्न क्षणों में उच्चरित होने पर भी, उस वाक्य की समान प्रतीति होती है, जिससे सिद्ध होता है कि वाक्य जात्यात्मक है। वाक्य व्यक्तियाँ भिन्न-भिन्न होते हुए भी यदि पृथक् अर्थ नहीं देती तो इसका कारण यह है कि उन व्यक्तियों में एकत्व की प्रतीति कराने वाली जाति विद्यमान है। यदि जाति में वाचकता शक्ति न मानें तो असंख्य व्यक्तियों के लिए उतनी ही शक्तियों की कल्पना करनी होगी, जिससे आनन्त्य दोष प्रसक्त होगा। इससे बचने हेतु यदि एक ही शक्ति को अन्य वाक्यों में भी गतार्थ मानें तो व्यभिचार नामक दोष दुवार होगा।²⁸ भर्तृहरि ने जाति को समझाने हेतु भ्रमण क्रिया का दृष्टान्त लिया है। जिस प्रकार भ्रमण रूप कार्य में यद्यपि बहुत सी विभिन्नताएँ होती हैं तथापि प्रत्येक आवृत्ति में भ्रमण रूप एक ही जाति मानी जाती है, उसी प्रकार वर्ण, पद या वाक्य में प्रति उच्चारण अभिव्यक्ति यद्यपि नितान्त भिन्न होती है तथापि

जातिरूपेण वह एक ही मानी जाती है। इस प्रकार भिन्न व्यक्तियों से व्यक्त निरवयव जाति ही वाचक तथा नियमतः वाक्य है। भर्तृहरि के अनुसार जाति का स्वरूप है -

सम्बन्धिभेदात् सत्तैव भिद्यमाना गवादिषु।

जातिरित्युच्यते तस्यां सर्वे शब्दा व्यवस्थिताः॥

(वा०प० 3/33)

प्रथम काण्ड में भी -

अनेकव्यक्त्यभिव्यङ्ग्या जातिः स्फोट इति स्मृतः।

(वा०प० 1/94)

‘जातिवाद’ एवं ‘व्यक्तिवाद’ को व्याकरण दर्शन में वाजप्यायन एवं व्याडि के सिद्धान्त के रूप स्मृत किया गया है। पस्पशाह्निक में भी इन दोनों पक्षों को मान्यता दी गयी है।²⁹ वाक्य एवं वाक्यार्थ के सम्बन्ध में जातिवाद को स्वीकार करने पर वाक्य की एकता एवं अविभाज्यता के मत को बल मिलता है, साथ ही साथ महान् लाघव भी होता है। यही कारण है कि वैयाकरण वाक्य रूप जाति को ही वाचक मानते हैं।

(ख) एक निरवयवशब्द

प्रस्तुत मत वाक्य-व्यक्ति-वादियों का है। इनके अनुसार वाक्य एक अवयवरहित तथा अखण्ड शब्द है। ध्यातव्य है कि बुद्ध्यनुसंहति पक्ष में वाक्य की एकात्मकता उच्चारण के पूर्व एवं श्रवण के अनन्तर ही मानी जाती है, जबकि इस पक्ष में उच्चरित वाक्य को भी अखण्ड माना जाता है - शब्दस्य न विभागोऽस्ति। इस पक्ष में सर्वाधिक कठिनाई वाक्य के अन्तर्गत स्पष्टतः प्रतिभासमान भागों की है। इन भागों की असत्ता भर्तृहरि ने बड़ी ही तर्कपूर्ण पद्धति से सिद्ध की है। उनके अनुसार वाक्य में पदों अथवा पदार्थों का अर्थ निश्चित नहीं होता, उनका निर्धारण तो वाक्यगत प्रसङ्ग से ही होता है।³⁰ वे अन्य प्रसङ्ग में नितान्त भिन्न अर्थ भी दे सकते हैं। फलतः वाक्य एवं वाक्यार्थ ही सत्य हैं, पद एवं पदार्थ नहीं। उनका अपोद्धार केवल शास्त्रीय है। सामान्य

व्यवहार में हम सम्पूर्ण वाक्य का ही प्रयोग, श्रवण एवं अर्थावगम करते हैं। वाक्य का पदशः विभाजन भाषा-शिक्षण के लिए है। मनुष्य की ग्राह्यता शक्ति इतनी समर्थ नहीं होती कि वह वाक्य जैसी बड़ी इकाई का एक साथ ग्रहण तथा अवधारण कर सके। अतः उसे वाक्य का ग्रहण खण्डशः कराया जाता है। बुद्धि अवबोध के अनन्तर या समकाल उसका विश्लेषण करती है।³¹ इसे भर्तृहरि एवं उनके टीकाकार अनेक उदाहरणों से स्पष्ट करते हैं। जिस प्रकार ज्ञान (सामान्य) एक ही है, परन्तु विषयों के अनुसार वह घटज्ञान, पटज्ञान आदि विभिन्न रूपों में भासित होता है, वाक्यार्थ बोध के समय पदज्ञान की भी वही स्थिति होती है।³² जिस प्रकार चित्र का दर्शन एवं अवगम एक इकाई में होता है, परन्तु बाद में उसमें नील, रक्त आदि वर्णों का अलग से अवधारण कर लिया जाता है। जैसे चित्रगत नील आदि वर्ण स्वयं चित्र नहीं हैं, उसी प्रकार वाक्यगत पद स्वयं वाक्य नहीं हैं अपितु केवल वाक्य-ज्ञान के उपाय हैं।³³ वाक्य की एकात्मकता को नृसिंह एवं मयूराण्डरस के उदाहरण से सिद्ध किया है।³⁴ जिस प्रकार समासगत पदों का अपना भिन्न-स्वतन्त्र अर्थ नहीं समझा जाता, उसी प्रकार वाक्यगत पद भी अपने आप में निरर्थक होते हैं।³⁵ सम्पूर्ण समासपद की ही तरह सम्पूर्ण वाक्य भी एक अवयवरहित शब्द है जो पूर्णतया समुदित होने पर ही अर्थ का अभिधान करता है। 'एकोऽनवयवः शब्दः' इस लक्षण में 'शब्द' पद का प्रयोग वाक्य की एकात्मकता को दृढ़ करता है। पदों में वर्णभाग की तरह वाक्य में पदभाग भी वाक्य से अत्यन्त भिन्न नहीं, अपितु वाक्य के ग्रहण में उपाय मात्र हैं। इस मत को "वाग्वै पराच्यव्याकृताऽवदत्" जैसे श्रुतिवाक्य एवं 'इन्द्रियनित्यं वचनमित्यौदुम्बरायणः' इस निरुक्तगत वाक्य से भी पुष्टि प्राप्त होती है। इस मत की धर्मकीर्ति, जयन्त भट्ट एवं कुमारिल भट्ट ने समालोचना की है जिसका प्रत्युत्तर मण्डनमिश्र ने 'स्फोटसिद्धि' में सम्यक् प्रकार से दिया है।³⁶

(ग) बुद्ध्यनुसंहति

वक्ता अथवा श्रोता की बुद्धि में अवधार्यमाण पद भागों का परिणाम ही वाक्य है।³⁷ "वाक्यस्य बुद्धौ नित्यत्वम्" (वा०प० 2/342) वाक्य की

एकता या अखण्डता की बात बुद्धि के स्तर पर ही की जा सकती है, क्योंकि बाह्यरूप में उसकी क्रमिकता तो प्रत्यक्ष होने के कारण सर्वजनसंवेद्य होती है। वाक्य उच्चारण के पूर्व वक्ता एवं श्रोता के बाद श्रोता की बुद्धि में एकाकार होता है। वाक्याकार में आकारित बुद्धि ही वाक्य है, जिससे उसका अर्थ भी अवगत होता है। श्रूयमाण ध्वनि में से तो उस बुद्धिस्थ तत्त्व का अभिव्यञ्जन मात्र होता है -

यदन्तः शब्दतत्त्वं तु नादैरेकं प्रकाशितम्।

तदाहुरपरे शब्दं तस्य वाक्ये तथैकता॥ (वा०प० 2/30)

बाह्य तत्त्व की अभिव्यक्ति से पहले वक्ता एवं श्रोता दोनों में आन्तरिक बुद्धितत्त्व का रहना अत्यन्त अनिवार्य है, अन्यथा सम्प्रेषण सम्भव नहीं हो सकता।³⁸ वस्तुतः वक्ता के मस्तिष्क में एक क्रम निश्चित होता है। बीज के पल्लवन की तरह वाक्यार्थ की अभिव्यक्ति हेतु एक-एक ध्वनि क्रमशः निःसृत होती रहती है। ध्वनियाँ उसी क्रम से श्रोता के मस्तिष्क में पहले से विद्यमान बुद्धितत्त्व में परिणत होती रहती है। इस प्रकार अर्थबोध की प्रक्रिया सम्भव हो पाती है।³⁹ इसी प्रक्रिया का वर्णन निम्नलिखित कारिका में किया गया है-

वितर्कितः पुरा बुद्ध्या क्वचिदर्थे निवेशितः।

करणेभ्यो विवृत्तेन ध्वनिना सोऽनुगृह्यते॥ (वा० प० 1/48)

जिस प्रकार लिपियाँ शब्द नहीं अपितु शब्दों के संकेत अथवा प्रतीक मात्र हैं, उसी प्रकार बाह्य उच्चारण वाक्य का स्वरूप नहीं है। वाक्य स्फोटरूप एवं आन्तर (बुद्धिस्थ) है। इस आन्तर अवस्था में ही उसमें प्रकाशक-प्रकाश्यत्व एवं कारण-कार्यत्व सदैव स्थित रहते हैं। ऐसा क्रमशः वक्ता एवं श्रोता के पक्ष की भिन्नता से होता है -

प्रकाशकप्रकाश्यत्वं कार्यकारणरूपता।

अन्तर्मात्रात्मनस्तस्य शब्दतत्त्वस्य सर्वदा॥ (वा०प० 2/32)

इसी बुद्धितत्त्व में शब्द एवं अर्थ दोनों सम्पीडित अवस्था में रहते हैं-

एकस्यैवात्मनो भेदौ शब्दार्थावपृथक्स्थितौ। (वा०प० 2/31)

इस पक्ष की व्याख्या के प्रसङ्ग में पुण्यराज ने इसे बौद्धों के सिद्धान्त के तुल्य बताया है।

इस प्रकार तीनों अखण्डवाक्यवादियों के मत का निष्कर्ष इस प्रकार है -
1. वाक्य एक खण्डरहित इकाई है तथा 2. वही वाचक है 3. पद नहीं, क्योंकि उनकी वास्तविक सत्ता नहीं है।

मीमांसकों ने अखण्ड पक्ष में अनेक अनुपपत्तियाँ दिखाकर इसका खण्डन किया है। कुछ प्रमुख पूर्वपक्षीय तर्क निम्नोक्त प्रकार से हैं¹⁰ -

1. 'व्रीहिभिर्यजेत' वाक्य में व्रीहि की अप्राप्ति में वैकल्पिक व्यवस्था अर्थात् प्रतिनिधि कल्पना नहीं हो सकती। 2. 'वनात् पिक आनीयताम्' में 'पिक' को न जानता हुआ मनुष्य 'पिक' का अर्थ पूछता है। जन सामान्य के इस व्यवहार से पद का अस्तित्व सिद्ध होता है। 3. पद की असत्ता मानने से मीमांसा के प्रमाणषट्क (श्रुति, लिङ्ग, प्रकरण, समाख्या आदि) में बलाबल के विचार से सम्बन्धित जैमिनीय मत खण्डित हो जायेगा। 4. इसके अतिरिक्त प्रसङ्ग तन्त्र-आवृत्ति-भेद-बाधा आदि मीमांसोक्त लगभग पैंतालीस वाक्यधर्म अनुपपन्न हो जायेंगे, क्योंकि वे मुख्यतः वाक्य में पदों की वास्तविक सत्ता मानकर ही प्रवृत्त होते हैं। 5. इनके अतिरिक्त वाक्यगत अवान्तर वाक्यों का स्वतन्त्र अर्थ नहीं हो पायेगा, जो वस्तुतया अनुभूत होते हैं।

भर्तृहरि व्यावहारिक-प्रयोजनों की पूर्ति के लिये वाक्य का विभाजन तो स्वीकारते ही हैं। चूँकि वाक्य का अवगम सामान्य मनुष्य अखण्डरूपेण नहीं कर सकता अतः वाक्यों के अपोद्धार से प्राप्त पदों के विश्लेषण के व्याकरणिक कार्य को मान्यता दे दी गयी है। परन्तु पदों की सत्ता वाक्य की भाँति वास्तविक नहीं है। संहितापाठ एवं पदपाठ से सम्बद्ध पतञ्जलि की उक्ति¹¹ वाक्य के अखण्डपक्ष का समर्थन करती है। सक्रमवाणी के बिना कोई भी विचार सम्प्रेषित नहीं हो सकता इसी विवशता के नाते मुग्ध लोग वाक्य को सक्रम मान बैठते हैं। पद का स्वरूप एवं अर्थ प्रतिवाक्य बदलता रहता है, फलतः उसे विश्वस्त एवं वास्तविक नहीं मान सकते। इसके अलावा भिन्न-भिन्न व्याकरण सम्प्रदाय एक

ही शब्द का अनेकधा विश्लेषण करते हैं, इससे भी उनकी वास्तविकता खण्डित होती है। अपोद्धत पद वाक्यबोध के उपायमात्र हैं। वाक्यबोध के बाद उन्हें त्याग दिया जाता है।¹² जिस प्रकार केवल शुद्ध चैतन्य ही वास्तविकता है परन्तु वह किसी न किसी वस्तु के ज्ञान से रञ्जित होकर ही प्रकाश में आता है, उसी प्रकार वाक्य का ग्रहण भी वर्ण अथवा पद के रूप में ही होता है, शुद्ध रूप में नहीं।

केवल पिक शब्द का अर्थ पूछने वाला वस्तुतः उस पूरे वाक्य के अर्थ के बारे में पूछ रहा है जिसमें पिक शब्द आया है। 'वनात् पिक आनीयताम्' एवं 'वनाद् ऋक्ष आनीयताम्' इन वाक्यों में 'वनात् आनीयताम्' अंश की समानता भ्रमवश भासित हो रही है। तथाकथित समान अंश कल्पित हैं। नीलज्ञान एवं पीतज्ञान में ज्ञानांश में समता हो सकती है परन्तु विषय के आधार पर वे दोनों नितान्त भिन्न हैं।

तदनन्तर वाक्यपदीयकार स्वयं सात शास्त्रीय शङ्काओं की चर्चा करते हैं¹³, जो पदों की स्वतन्त्र सत्ता न मानने पर प्रसक्त होती हैं तथा उन सबकी उपपत्ति वाक्यान्तर्गत पदों की व्यावहारिक एवं तात्कालिक सत्ता को मानकर करते हैं ताकि भाषा-शिक्षण एवं विश्लेषण सम्बन्धी व्याकरणिक एवं अन्य दार्शनिक प्रयोजन अच्छी तरह से सिद्ध हो सकें।

उपायाः शिक्षमाणानां बालानामुपलालनाः।

असत्ये वर्त्तमि स्थित्वा ततस्सत्यं समीहते॥

(वा०प० 2/336)

खण्ड (ख)

वाक्य-संरचना : पाश्चात्य मत

वाक्यीय संरचना हेतु प्रयुक्त 'Syntax' शब्द का सम्बन्ध यूनानी भाषा के 'Syntaxis' शब्द से है। इसका अर्थ 'व्यवस्थापन' होता है। वाक्य व्याकरणिक विश्लेषण की दृष्टि से भाषा की सबसे बड़ी अन्तिम इकाई होती है तथा Syntax के अन्तर्गत हम 'वाक्य की अपेक्षा आकार में लघु घटकों की पारस्परिक संरचनात्मक व्यवस्था का ही अध्ययन' करते हैं। भाषिक व्यवस्था का यह अध्ययन अत्यन्त प्राचीन काल से ही व्याकरणों के माध्यम से होता आ रहा है।

किसी भाषा का व्याकरण उस भाषा के विभिन्न प्रकार के वाक्य समुदायों का विश्लेषण करने वाला सिद्धान्त होता है। व्याकरणिक-संरचना के वैज्ञानिक विश्लेषण के आरम्भ से पूर्व प्रचलित व्याकरण 'पारम्परिक-व्याकरण' कहे जाते हैं। ये व्याकरण ग्रीक-लैटिन व्याकरणों की शैली में आधुनिक यूरोपीय भाषाओं के लिए रचे गये थे। इनमें भाषा के संज्ञा-सर्वनाम आदि आठ अङ्ग एवं उनके प्रयोग की विधियाँ विवेचित हुई हैं। इन व्याकरणों में वाक्य विवेचन गौण रूप में है। इसमें विधिनिषेधात्मक नियम हैं, जो मुख्यतः इसकी शिक्षणपरकता की ओर संकेत करते हैं। इनकी परिभाषाएँ नितान्त अदुष्ट एवं वैज्ञानिक नहीं होती थीं, फलतः भाषा के पूर्णतः वैज्ञानिक विश्लेषण में ये व्याकरण असमर्थ थे। आधुनिक भाषा-विज्ञान की विभिन्न पद्धतियों का आधार लेकर 20वीं शती के प्रारम्भिक दशकों में भाषा विश्लेषण का वैज्ञानिक प्रयास आरम्भ हुआ। ब्लूमफ्रील्ड नामक अमरीकी भाषाविद् एवं उनसे प्रभावित - ब्लॉक, ट्रेगर, फ्रीज़, हॉकिट, हैरिस तथा नाइडा आदि विद्वानों ने संरचनात्मक विश्लेषण से सम्बन्धित अनेक पद्धतियाँ सुझायीं, इन सबको समेकित रूप में 'संरचनात्मक व्याकरण' कहा जाता है। इसकी प्रमुख मान्यताएँ निम्नवत् हैं - भाषा एक सामाजिक व्यवहार है, जो अर्थ सम्प्रेषण हेतु मनुष्य समूहों द्वारा ऐच्छिक रूप में प्रयुक्त होती है। यह व्याकरण भाषा के वस्तुपरक अध्ययन पर बल देता है। भाषिक संरचना के अध्ययन हेतु अर्थ की उपयोगिता पर इसका ध्यान नहीं है। इसकी मान्यता के अनुसार भाषा-विश्लेषक के लिए उस भाषा का वक्ता होना आवश्यक नहीं। विश्लेषण हेतु यदृच्छ पूर्वक चयनित सीमित भाषा सामग्री का ग्रहण किया जा सकता है। भाषा विश्लेषण के समय उनकी दिशा स्वनिम से वाक्य की ओर होती है। इस क्रम से विपरीत क्रम को संरचनात्मक वैयाकरण अवैज्ञानिक मानते हैं¹⁴। वे सार्वभौम व्याकरण एवं 'प्राकृतिक भाषा' (Natural Language) सम्बन्धी विचारों से भी असहमत हैं। इसका सम्बन्ध भाषिक संरचना के केवल बाह्य पक्ष से है। इस व्याकरण की पद्धति मुख्यतः आगमनात्मक है। ब्लूमफ्रील्ड ने संरचनात्मक विश्लेषण हेतु 'निकटस्थ-अवयव' की पद्धति का उपयोग किया है। यह वाक्य के क्षेत्र में उनका प्रमुख योगदान है। वाक्य को बनाने वाले रूपिम ही वाक्य के अवयव होते हैं, जो आपस में निकटस्थ होते हैं। विभिन्न डायग्रामों द्वारा वाक्य से विश्लेषित करके शब्दों के परस्पर भिन्न वर्ग निगमित किये जाते हैं तथा उन्हें

नामित किया जाता है। इस विश्लेषण का आधार अवयवों के स्तरीय-सम्बन्ध, प्रतिस्थापन एवं विस्तार हैं। यह पद्धति वाक्य को पदों की विशिष्ट क्रम में बनी शृङ्खला नहीं मानती अपितु इसके अनुसार वाक्य पदों से बने पदबन्ध एवं उपवाक्य जैसे लघु-घटकों की माला होती है।

विश्लेषण एवं वर्णन की दृष्टि से 'संरचनात्मक-व्याकरण' परम्परागत-व्याकरणों की अपेक्षा निश्चित रूप से अधिक वैज्ञानिक एवं समर्थ है। इसके द्वारा कई सन्दिग्धार्थक वाक्यों का विश्लेषण तथा सम्बन्धों के आधार पर पृथक्करण एवं व्याख्या भी सम्भव है।¹⁵ 1950 तक यह सिद्धान्त लोकप्रिय रहा परन्तु 60 के दशक एवं उसके बाद इसकी कमियों एवं असमर्थताओं की ओर विद्वानों का ध्यान जाने लगा। इस सिद्धान्त की सबसे बड़ी कमी यह है कि यह केवल भाषिक-निष्पादन (Performance) से सम्बद्ध है जबकि भाषा का वास्तविक स्वरूप उसका सामर्थ्य (Competence) है। यह सिद्धान्त भाषा के नितान्त अर्थनिरपेक्ष विश्लेषण की बात करता है जो दुःशक एवं अव्यवहार्य है क्योंकि अर्थ एवं रूप एक दूसरे के आश्रित और पूरक हैं। स्वनिम से वाक्य की ओर विश्लेषण की दिशा अस्वाभाविक है क्योंकि वाक्य ही भाषा की मूल इकाई है। परस्पर सम्बद्ध वाक्यों के सम्बन्धों की व्याख्या में यह पद्धति असमर्थ है। इस व्याकरण ने भाषा को अन्य सामाजिक शास्त्रों से मुक्त रखने का प्रयास किया है जो कि सम्भव नहीं है क्योंकि भाषा स्वयं समाज से नितान्त सम्बद्ध है।

उपर्युक्त सिद्धान्त के दोषों को ध्यान में रखते हुए भाषा के और अधिक समर्थ, स्पष्ट एवं लाघवपूर्ण विश्लेषण पद्धतियों के विकास हेतु अनेक यूरोपीय एवं अमरीकी विद्वानों ने प्रयास किये हैं। इनके अनुसार आदर्श भाषा-विश्लेषक-व्याकरण के प्रयोजन एवं प्रकार्य निम्नवत् होने चाहिए¹⁶ -

1. यह वाक्यों की संरचना का वर्णन करता हो।
2. यह वाक्यों को उनके सम्बद्ध अंशों में विश्लेषित करता हो।
3. इसके द्वारा उन अन्यान्य वाक्यों का भी वर्णन होना चाहिए जो उन वाक्यों से अलग हैं, जिनके आधार पर व्याकरण के नियम निकाले गये हैं।

4. इसमें व्याकरण-सम्मत एवं अव्याकरणिक (दोषयुक्त) वाक्यों के विवेचन का सामर्थ्य होना चाहिए ।
5. इसमें भाषिक-सामर्थ्य से निष्पन्न सभी सम्भावित व्याकरणिक वाक्यों के निष्पादन एवं व्याख्यान का सामर्थ्य होना चाहिए, अन्यथा इससे व्याकरण की अपर्याप्तता एवं असमर्थता द्योतित होती है।
6. सन्दिग्धार्थक वाक्यों के सभी सम्भावित अर्थों का यथोचित व्याख्यान होना चाहिए।

इन विशिष्टताओं से युक्त होने का दावा करते हुए इस दिशा में अनेक व्याकरण सम्प्रदाय उदित हुए हैं जिनमें से कुछ प्रमुख सम्प्रदाय इस प्रकार हैं-

1. ग्लासीमविज्ञान (Glossematics)
2. बन्धिम विश्लेषण (Tagmemics)
3. रूपान्तरक प्रजनक व्याकरण (Transformational Generative Grammar)
4. स्तरपरक व्याकरण (Stratificational Grammar)
5. व्यवस्थापरक व्याकरण (Systemic Grammar)
6. कारकीय व्याकरण (Case Grammar)

एडिथ ए. मोराविक्सिक (Edith A. Moravcsik) के अनुसार इन विभिन्न सिद्धान्तों में मतभेद के प्रमुख आधार इस प्रकार हैं¹⁷- 1. वाक्यीय घटकों का आकार, 2. भाषाई-संवादों (Utterance) का आकार, 3. भाषा-समुच्चयों (sets) की परिभाषा, 4. भाषाई उक्तियों की प्रकृति, 5. भाषाई उक्तियों के गुण। इन सब का लक्ष्य सामान्यतः 'संरचना विश्लेषण' होते हुए भी कुछ विभिन्नताएँ लिए हुए हैं।¹⁸

उपर्युक्त व्याकरणों में समानता यह है कि इन्हें साधारणतया प्रजनक व्याकरणों की कोटि में रख सकते हैं।

पाश्चात्य जगत् में भाषिक-संरचना सम्बन्धी विश्लेषण से परिचय प्राप्त करने हेतु उपर्युक्त सिद्धान्तों का वर्णन पर्याप्त होगा।

इन सिद्धान्तों में बन्धिम-विश्लेषण, सिस्टीमिक व्याकरण तथा विशेषतः रूपान्तरक प्रजनक व्याकरण अत्यन्त लोकप्रिय, समर्थ तथा बहुग्राह्य होने से क्रान्तिकारी सिद्ध हुए हैं। अग्रिम पृष्ठों में इन व्याकरणों द्वारा उपयुक्त पद्धतियों का संक्षेप में वर्णन किया जायेगा जिससे भाषिक संरचना से सम्बद्ध इनके मुख्य मन्तव्य स्पष्ट हो जायें।

1. चॉम्स्की का सिद्धान्त

आधुनिक पाश्चात्य भाषाविज्ञान के सर्वाधिक प्रभावशाली विद्वान् नोम चॉम्स्की का जन्म फ़िलाडेल्फ़िया (अमरीका) के यहूदी परिवार में सन् 1928 में हुआ। उनके गुरु ज़ेलिंग हैरिस (Zellig Harris) उन प्रमुख संरचनात्मक-भाषावैज्ञानिकों में अग्रगण्य थे जो ब्लूमफ़ील्ड के सिद्धान्तों की सीमाओं से अवगत थे तथा भाषा के लिये और अधिक समर्थ विश्लेषण पद्धति की खोज में थे। चॉम्स्की ने 1947 से हैरिस के निर्देशन में संरचनात्मक-व्याकरण पर कार्य प्रारम्भ कर दिया था। चॉम्स्की का सिद्धान्त भाषाजगत् में 'रूपान्तरक-प्रजनक-व्याकरण' के नाम से प्रख्यात है। यह सिद्धान्त विभिन्न परिवर्तनों एवं परिवर्द्धनों से गुज़र कर अपने वर्तमान रूप में विकसित हुआ है तथा अभी भी निरन्तर विकसित हो रहा है।

दृष्टिकोणों में कालक्रम से हुए विकास को ध्यान में रखकर रूपान्तरक प्रजनक व्याकरण को तीन चरणों में विभक्त किया जाता है- 1. 1957 में प्रकाशित 'Syntactic structures' में प्रतिपादित सिद्धान्तों को क्लासिकल (Classical) सिद्धान्त के नाम से पहचाना जाता है। 2. 'मानक सिद्धान्तों' का वर्णन 1965 में प्रकाशित 'Aspects of the Theory of Syntax', तथा 1966 में प्रकाशित 'Topics in the Theory of Generative Grammar' में किया गया है। 3. 'विस्तारित मानक सिद्धान्त' में पिछले सिद्धान्तों में कथित बातों में कुछ मुख्य परिवर्धन किये गये हैं जो 1970 में प्रकाशित उनके कुछ प्रमुख लेखों में प्रतिपादित हैं। आगे इनका यथावसर उल्लेख किया जायेगा। वाक्य विवेचन की चॉम्स्कीय पद्धति के वर्णन से पूर्व भाषा सम्बन्धी उनके विचारों पर एक दृष्टि विषय के स्पष्टीकरण के लिये आवश्यक होगी।

चॉम्स्की के व्याकरण की सबसे बड़ी विशेषता यह है कि वह वाक्यगत घटकों का विश्लेषण एवं उनकी पहचान करने मात्र से अपने कर्तव्य की इतिश्री नहीं समझता। चॉम्स्की के अनुसार व्याकरण को भाषा के सभी शुद्ध वाक्यों के प्रजनन, उनकी व्याकरणिकता के निश्चय, द्व्यर्थक वाक्यों के विश्लेषण तथा वाक्यों के पारस्परिक सम्बन्धों की व्याख्या में भी नितान्त समर्थ होना चाहिए। उनके अनुसार भाषिक-व्यवहारों के मूल में मानसिक तथ्य (reality) कार्यरत होते हैं, अतः वाक्य-विश्लेषण में भी इसका सदैव ध्यान रखा जाना चाहिए। भाषा मस्तिष्क का दर्पण है अतः भाषिक-सिद्धान्तों से मानव मस्तिष्कीय विशेषताओं का प्रकाशन भी शक्य है। इस मूल-अवधारणा के प्रकाश में उन्होंने भाषिक सामर्थ्य (Competence) एवं निष्पादन (performance) का विभाजन किया तथा भाषिक सामर्थ्य को ही भाषा-विश्लेषण का आधार माना। इनका वर्णन प्रथम अध्याय में हो चुका है। दिये गये आँकड़ों के वर्गीकरण एवं विश्लेषण मात्र से हम वाक्य संरचना की पूरी प्रक्रिया एवं उसके सिद्धान्तों को नहीं समझ सकते। इसके लिए वाक्य एवं तद्गत घटकों के सम्बन्धों का अध्ययन आवश्यक होगा। 'प्रजनक व्याकरण' ऐसा सूत्रात्मक व्याकरण है जिसमें निवेश (input) एवं निर्गत (output) दोनों एक जैसे नहीं होते। इसमें निवेश (input) के रूप में श्रोता कुछ सीमित वाक्यों का ग्रहण करके उनसे अपनी मानसिक क्षमता के द्वारा नियम निकालकर अन्तर्निहित करता है तथा निर्गत (Output) के रूप में असंख्य वाक्यों का सृजन कर लेता है। 'प्रजनक व्याकरण' वस्तुतः किसी व्यक्ति द्वारा भाषा सीखने एवं प्रजनन की प्रक्रिया का शास्त्रीय प्रतिबिम्बन मात्र है। भाषा की बाह्य एवं आन्तर दो प्रकार की संरचनाओं को स्वीकार करके उनके मध्य वर्तमान अन्तर को महत्वपूर्ण माना गया है। आन्तर संरचना (Deep Structure) भाषा की धरातलीय नियमितताओं का संकेत करती हुई मस्तिष्क की अन्तर्जात भाषिक क्षमता को सूचित करती है। व्याकरण के द्वारा, नियमों के सीमित सामान्यीकरण का सम्बन्ध, केवल आन्तर संरचना से हो सकता है। बाह्य संरचना में अनियमितताओं की भरमार होती है जिनको केवल आन्तर संरचना द्वारा ही नियन्त्रित किया जा सकता है। 'बाह्य संरचना' वह क्षेत्र है जहाँ भाषा 'घटित' अर्थात् प्रकट होती है जबकि 'आन्तर संरचना' भाषा-सामान्य का क्षेत्र है जहाँ भाषा अस्तित्व पाती

है। सन्दिग्धता, द्वयर्थकता, चुनाव आदि केवल 'बाह्य संरचना' के ही विषय होते हैं। उदाहरण के लिए 'श्वेतो धावति' इस वाक्य के दो अर्थ हैं; क्योंकि आन्तरिक-संरचना में इसका सम्बन्ध दो वाक्यों से है -

1. श्वेतः धावति।
2. श्वा इतः धावति।।

एकार्थक वाक्य के आन्तरिक धरातल पर दो वाक्य भी हो सकते हैं, जैसे- 'हरिः वसन् ददर्श' में -

1. हरिः वसन् (आसीत्)।
2. हरिः ददर्श।

इस तरह रूपान्तरक प्रजनक व्याकरण ने बाह्य संरचना, आन्तरिक संरचना एवं अनुस्यूत वाक्यों के द्वारा भाषा की अधिक पर्याप्तता से व्याख्या की। संरचनात्मक सम्प्रदाय के विपरीत यहाँ निकटस्थ अवयवों को दोनों धरातलों पर लिया गया।

चॉम्स्की के व्याकरण में तीन घटक हैं - वाक्य संरचनात्मक (Syntactic), आर्थी (Semantic) तथा स्वनिमिक (Phonological)। ये तीनों ही प्राथमिक भाषाई योग्यता को दर्शाते हैं। वाक्य संरचनात्मक घटक में आधार तथा रूपान्तरक दो उपघटक पाये जाते हैं। आधार (Base) के अन्तर्गत पदबन्ध संरचनात्मक नियम (Phrase structure rules) तथा शब्दकोश आते हैं। आधार द्वारा असंख्य बाह्य संरचनाओं का प्रजनन होता है जो लोप, स्थानान्तरण, योग जैसे कुछ रूपान्तरणों से गुजरते हैं। रूपान्तरण की प्रक्रिया के बाद रूपान्तरित बाह्य संरचनाएँ स्वनिमिक एवं आर्थी घटकों से क्रमशः स्वनिमिक एवं आर्थ प्रतिनिधित्व को प्राप्त करती हैं तथा प्रयोग योग्य वाक्य हो जाती हैं।

संरचनात्मक वैयाकरणों के विपरीत; चॉम्स्की की यह मान्यता है कि आदर्श-रूप में जन्मजात वक्ता जिसके मस्तिष्क में भाषिक व्याकरण अन्तर्निहित है, वही भाषिक विश्लेषण कर सकता है। इसके अनुसार व्याकरण में न केवल 'सर्वेक्षणात्मक पर्याप्तता' अपितु 'वर्णनात्मक' तथा 'व्याख्यात्मक' पर्याप्तताएँ भी उपस्थित होनी चाहिए।⁴⁹ संरचनावादियों के विपरीत चॉम्स्की का विश्लेषण

‘वाक्य’ से प्रारम्भ होता है। गणितीय नियमों से अत्यन्त प्रभावित होने के कारण इस व्याकरण के नियमों में निश्चितता एवं सुस्पष्टता है। भाषिक सामर्थ्य से सम्बद्ध होने के कारण प्रस्तुत व्याकरण ‘निष्पादन’ में घटित होने वाले अव्याकरणिक, अधूरा होना तथा अन्य दोषों से कोई सम्बन्ध नहीं रखता।

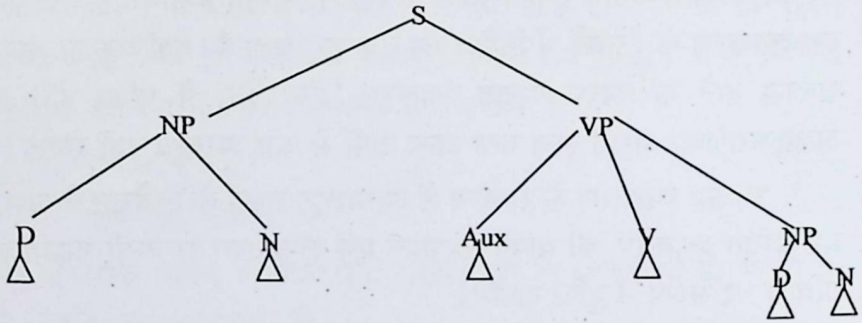
रू०प्र० व्याकरण के सम्बन्ध में आधारभूत तथ्यों के विवेचन के उपरान्त हम प्रस्तुत व्याकरण की वाक्य-उत्पादन एवं रूपान्तरण सम्बन्धी पद्धति तथा प्रविधि पर संक्षेप में दृष्टि डालेंगे।

1957 ई० से लेकर आज तक रू०प्र० व्याकरण का इतिहास नियम निर्माण के अत्यन्त समर्थ विधियों के अध्ययन का रहा है। ये नियम निश्चित करते हैं कि व्याकरण से सभी प्रकार के व्याकरण सम्मत वाक्यों का सृजन हो सके जिनमें से कोई भी अशुद्ध न हो।

चॉम्स्की की व्याकरण-प्रक्रिया के प्रथम स्तर में पदबन्ध संरचनात्मक (Phrase-structure) नियम आते हैं जिनसे हम असंख्य वाक्यों के निर्माण में समर्थ हो सकते हैं। यह संरचनात्मक व्याकरण के प्रतिवाक्य-विश्लेषण (Single sentence analysis) की प्रक्रिया से स्पष्टतया अलग है। इससे व्याकरण की शक्ति अपरिमित रूप में बढ़ जाती है।⁵⁰

चॉम्स्की ने सुझाया है कि भाषा की संरचना के दो अंश होने चाहिए। 1. पदबन्ध संरचनात्मक घटक (आधार घटक) जिसमें पुनर्लेखन नियम आते हैं, तथा 2. रूपान्तरक घटक, जिनका प्रयोग प०सं० नियमों के निर्गत वाक्यों पर होता है।

प०सं० नियम में पुनर्लेखन-प्रक्रिया को प्रारम्भ करने हेतु ‘प्रारम्भिक संकेत’ का प्रयोग होता है, जैसे $S \rightarrow NP + VP$ में ‘S’ प्रारम्भिक संकेत तथा $(S \rightarrow NP + VP)$ प्रारम्भिक श्रृंखला है। (यहाँ ‘ $\rightarrow$ ’ चिह्न पुनर्लेखन तथा ‘+’ चिह्न योग का द्योतक है।) अब - NP (संज्ञापद बन्ध) को D (निर्धारक) + N (संज्ञा) के रूप में पुनर्लिखित कर सकते हैं, तथा VP (क्रिया पदबन्ध) का पुनर्लेखन V (क्रिया) + NP के रूप में हो सकता है। ‘V’ (क्रिया) को भी Aux. (सहायक क्रिया) + मुख्य क्रिया के रूप में पुनर्लिखित करते हैं। इसे वृक्ष-आरेख द्वारा स्पष्ट किया जा सकता है।



ध्यातव्य है कि यहाँ 'NP' 'D' (निर्धारक) के बिना भी हो सकता है तथा 'VP' में अन्य 'NP' तथा 'Prep ph' (Preposition - phrase) भी प्राप्त हो सकते हैं। प्रारम्भिक शृङ्खला के अतिरिक्त बाद वाली किसी भी शृङ्खला में स्थानान्तरण, विस्तार आदि भाषाई परिस्थिति के अनुसार किये जा सकते हैं।⁵¹ उपर्युक्त चित्र में 'NP', 'VP' एवं 'NP' को अनन्तिम नोड (Non-terminal node) कहते हैं क्योंकि उनको अग्रिम घटकों में बाँट जा सकता है जबकि D, N, Aux, V, D, N आदि अन्तिम नोड (Terminal node) हैं क्योंकि उनका अग्रिम विभाजन (पुनर्लेखन) नहीं हो सकता। डेल्टा (Δ) का चिह्न यही निरूपित करता है। डेल्टा के स्थान पर शब्दकोशीय प्रविष्टियाँ (जो terminal-node की वाच्य हैं) रखी जा सकती हैं -

O	N	NP	V	AUX
अवनतः	प्राणदयितः	भूमिम्	लिखन्	आस्ते ⁵²

उपर्युक्त शब्दकोशीय प्रविष्टियों की शृङ्खला को अन्तिम शृङ्खला (terminal-string) कहते हैं, क्योंकि उनका और पुनर्लेखन नहीं हो सकता। अन्तिम नोड में क्रम का परिवर्तन तथा घटकों की संख्या प्रतिभाषा भिन्न हो सकती है। उपर्युक्त रेखाचित्र अंग्रेजी के वाक्यों के अनुसार निर्मित था, जिसका क्रम संस्कृत की वाक्य संरचना में स्वभावतः बदल गया।

उपर्युक्त प०सं० नियमों द्वारा साधु वाक्यों के प्रजनन के साथ ही साथ कई अग्राह्य वाक्य भी प्रजनित हो जाते हैं, यथा -

‘एषः वन्ध्यासुतो याति।’ आदि

इन व्याकरणसम्मत परन्तु अनर्थक वाक्यों से मुक्ति हेतु हमें प०सं० नियमों को सन्दर्भयुक्त (Context sensitive) तथा संयत बनाना होगा, जिसके लिए कोशीय प्रविष्टियों के नियमों (rules of Lexical insertions) का विधान है। इसमें सर्वप्रथम हम कोशीय कोटियों के आन्तर विलक्षणताओं का संकेत करते हैं, यथा -

‘राम’ → (+मानव), (+पुल्लिंग), (+चेतन)

‘पठ्’ → (+कर्म), (+कर्ता), (+सजीव) आदि।

यह शब्दों का उपवर्गीकरण है। ये अभिलक्षण दिखाते हैं कि किस प्रकार क्रिया द्वारा संज्ञाओं के चयन का नियन्त्रण होता है। इसके द्वारा किसी शब्द का वाक्य-संरचनात्मक-संदर्भ तय करना सम्भव हो जाता है। उदाहरणार्थ पठ् धातु कर्ता के रूप में (+चेतन), (+मानव) तथा (+साक्षर) अभिलक्षणों से युक्त प्रविष्टि का ही चयन करेगी। इन नियमों को कोशीय प्रविष्टियों का नियम कहते हैं।

तथापि प०सं० नियम भाषा के सभी प्रकार के वाक्यों की व्याख्या नहीं कर सकते। इसकी कुछ सीमाएँ हैं। ये नियम यह तो दर्शाते हैं कि किस प्रकार वाक्य पदबन्धों से पदबन्ध शब्दों एवं शब्द रूपिमाँ से निर्मित होते हैं परन्तु वे विभिन्न वाक्यों के पारस्परिक सम्बन्धों की पहचान नहीं कर पाते। सूचनात्मक - प्रश्नवाचक, कर्तृवाच्य-कर्मवाच्य, साधारण-प्रश्नवाचक, आदेशक-अनादेशात्मक वाक्य युग्मों को प०सं० व्याकरण अलग-अलग मानकर प्रक्रियारत होता है जबकि भाषा का कोई भी सचेत ज्ञाता इन्हें परस्पर सम्बद्ध ही मानेगा। दूसरे ये नियम ‘शब्दकोशीय’ अथवा ‘संरचनात्मक’ संधिधार्थकता की कोई लाघवपूर्ण व्याख्या प्रस्तुत नहीं करते। तीसरे ये व्याकरण भाषा की आवृत्तिमूलक-प्रक्रिया, जो भाषा की एक बड़ी प्रजनक क्षमता है; की व्याख्या नहीं कर पाते। वस्तुतः प०सं० व्याकरण एक वर्गीकरणात्मक सिद्धान्त है जो वर्गों का समुच्चयन, नामकरण, तथा अन्तर्भावन का अधिक्रम तो दिखा सकता है परन्तु वाक्यों के पारस्परिक संबंध को नहीं बता सकता। इसके लिए हमें रूपान्तरणों की सहायता लेनी होगी।⁵³

रूपान्तरण सिद्धान्त चॉम्स्की के सिद्धान्त के मूल में हैं। इसी के आधार पर चॉम्स्कीय व्याकरण को केवल 'रूपान्तरण-व्याकरण' भी कहते हैं। प०सं० नियम संरचनात्मक व्याकरण के अत्यन्त निकट है, ये रूपान्तरण नियम ही हैं जिन्होंने भाषिक संरचना को और अधिक गहराई से समझने की नई दृष्टि दी।⁵⁴

प०सं० नियमों से भाषा विशेष के वाक्यों का सृजन होता है तथा रूपान्तरण नियम उन वाक्यों का रूपान्तरण कर उन्हें व्याकरण के अनुकूल एवं ग्राह्य बनाने हैं। प०सं० नियमों की प्रक्रिया अन्तर्वाक्यीय होती है जबकि रूपान्तरण नियम वाक्यस्तर पर काम करते हैं। प०सं० नियम विस्तारात्मक हैं जबकि रूपान्तरण नियम परिवर्तन नियम हैं। रूपान्तरण प्रक्रिया में बीज वाक्यों (Kernal sentences) का रूपान्तरण रूपान्तरित वाक्यों- जैसे सकारात्मक-नकारात्मक, कर्तृवाच्य-कर्मवाच्य, सूचनात्मक-प्रश्नवाचक में हो जाता है, फलतः इनका अलग प्रजनन नहीं करना पड़ता, जिससे लाघव रूप महती सुविधा प्राप्त होती है।⁵⁵ उदाहरणार्थ 'Ram beats Shyam' यह बीजवाक्य जो प०सं० नियम से प्राप्त कर्तृवाच्यीय वाक्य है, इसे निम्नलिखित रूपान्तरण-नियम द्वारा कर्मवाच्य में किया जा सकता है - $NP_1-Aux-V-NP_2 \rightarrow NP_2-Aux+be+en-v-by-NP_1 \rightarrow$ 'Shyam is beaten by Ram'.

रूपान्तरण नियम 'अनिवार्य' तथा 'ऐच्छिक' के भेद से दो प्रकार के होते हैं। सकारात्मक से नकारात्मक, सूचनावाचक से प्रश्नवाचक वाक्यों के रूपान्तर नियम यदि प्रयुक्त न हों तब भी उनका वाक्यत्व व्याहत नहीं होगा, अतः ऐसे सभी नियम ऐच्छिक (optional) होते हैं। दूसरी ओर 'would have been making' की प्रजनन प्रक्रिया में अन्तिम शृङ्खला बनेगी "d+will+have+en+be+ing+make" किन्तु इस क्रम में प्रत्यय पहले हैं जिन्हें बाद में होना चाहिए, अतः अनिवार्य (obligatory) रूपान्तरणनियम - $Af+V \rightarrow V+Af$ द्वारा ग्राह्य रूप में आता है - 'Will + d + have + be + en + make + ing.'। अब रूप-स्वनिमित्त-नियम इन्हें प्रयोगार्ह रूप दे देंगे-Would have been making.

सम्बद्ध वाक्यों की दृष्टि से पुनः रू० नियम, एकीय (Singularly) तथा सामान्यीकृत (Generalized) रूपान्तरण भेद से द्विधा होते हैं। एकीय

रूपान्तरण एक वाक्य के अन्तर्गत होते हैं जैसे सामान्य वाक्य से प्रश्न या निषेध बनाते समय; जबकि सामान्यीकृत रूपान्तरण एकाधिक वाक्यों को जोड़कर एक वाक्य बनाने में प्रयुक्त होते हैं यथा संयुक्त एवं मिश्रित वाक्य बनाते समय।

रूपान्तरक व्याकरण के अनुसार ये नियम 'सार्वभौम' (Universal) तथा असार्वभौम (विशिष्ट भाषा के सन्दर्भ में उचित) दो प्रकार के होते हैं। बाह्य संरचना के किसी संज्ञा या क्रिया पदबन्ध की कोई संज्ञा आन्तरिक संरचना में भी हो तो बाह्य संरचना में आने पर उसका लोप हो जाता है। यह भाषाओं का एक सार्वभौम नियम है।⁵⁶

इस प्रकार यह सिद्ध है कि प०सं० व्याकरण एवं समृद्ध कोश (Lexicon) के अतिरिक्त रूपान्तरण नियम आवश्यक हैं, ताकि प्रजनित बीज वाक्यों के अन्तर्गत क्रमपरिवृत्ति (Permutation), योजन, लोप, परिवर्धन तथा प्रतिस्थापन आदि करके, लाघवपूर्ण रीति से अनेकानेक ग्राह्य तथा साधु वाक्य बनाये जा सकें।

लाघव के अतिरिक्त रूपान्तरण नियमों का महत्त्व यह है कि संरचनात्मक स्तर पर सम्बद्ध वाक्यों का सम्बन्ध स्पष्ट हो जाता है।⁵⁷ साथ ही साथ जटिल संरचना वाले वाक्यों के रचकों की मूल प्रकृति भी स्पष्ट हो जाती है। रूपान्तरण की प्रक्रिया में वाक्यों की आन्तरिक एवं बाह्य संरचना में अन्तर अत्यन्त स्पष्ट रूप में उभर कर सामने आ पाता है।

रू०प्र० व्याकरण में प०सं० तथा रू० नियमों के अतिरिक्त अत्यन्त महत्त्वपूर्ण नियम 'रूपस्वनिमिक (Morphophonemic) नियम' हैं। ये प्रथम दो या एक नियम लगने के बाद प्राप्त संरचना के रूपियों को भाषा विशेष में प्रयुक्त स्वनिमिक रूप देने की दिशा में काम करते हैं। ये नियम रूपविज्ञान से सम्बद्ध होने के कारण प्रकृत में अनुपयोगी हैं।

जैसा कि पहले कहा जा चुका है चॉम्स्कीय-सिद्धान्त का निरन्तर विकास एवं परिवर्द्धन होता रहा है। इसके प्रमुख कारण, चॉम्स्की का स्वयं इस क्षेत्र में अध्ययन-चिन्तन तथा अन्य विद्वानों की सकारात्मक आलोचनाएँ एवं महत्त्वपूर्ण सहयोग हैं।

चॉम्स्की के सिद्धान्त में पहले आर्थी घटक की स्पष्ट उपेक्षा की गयी

थी।⁵⁸ नवीन सिद्धान्त में इसे जोड़ा गया तथा स्वनिम एवं अर्थविज्ञान के साथ वाक्य संरचना को एकात्मक करने का प्रयास किया गया। दूसरे, प्रत्येक रूपान्तरण को अनिवार्य माना गया। बीजवाक्य तथा बीजेतर वाक्यों का रूपान्तरण भेद समाप्त हो गया तथा सभी वाक्यों की एक आन्तरिक संरचना मानी गयी। यह माना गया कि सभी प्रकार के वाक्यों के सभी अपेक्षित तत्त्व आन्तरिक संरचना में विद्यमान होते हैं। यहाँ तक कि मिश्र एवं संयुक्त वाक्यों के अमूर्त चिह्नक भी आन्तरिक संरचना में ही विद्यमान रहते हैं। काट्ज़ एवं पोस्टल (1964) ने सिद्ध किया कि रूपान्तरण नियम अर्थ परिवर्तन नहीं करते।⁵⁹ इस प्रसंग में भर्तृहरि की मान्यता का पुष्टीकरण होता है। ध्यातव्य है कि आचार्य भर्तृहरि नकारात्मक आदि वाक्यों को साधारण वाक्यों से उत्पन्न नहीं मानते। वे इन दोनों को नितान्त भिन्न मानते हैं तथा दोनों की समानता को भ्रम मात्र मानते हैं।⁶⁰ कहने की आवश्यकता नहीं कि रू०प्र० व्याकरण में इन सम्बद्ध वाक्यों की बाह्य समानता के आधार पर भ्रान्त होकर इन्हें भिन्न मान लिया गया था तथा बीज वाक्यों से इनकी उत्पत्ति मानी गई थी परन्तु बाद के विश्लेषणों से इनकी स्वतन्त्र सत्ता का भान हुआ फलतः इनकी उपस्थिति स्वतन्त्र एवं आन्तरिक संरचना स्तर पर भी मानी गई। आर्थी घटक की अनिवार्यता की बात भी भारतीय वैयाकरणों के शब्दार्थ-सम्बन्ध-नित्यत्व के सिद्धान्त को सत्यापित करता है।⁶¹ इस प्रकार अप्रत्यक्ष रूप से ही सही भाषिक चिन्तन प्राचीन भारतीयभाषाविदों द्वारा प्रदर्शित सिद्धान्तों की ओर अग्रसर होकर सुदृढ़ हो रहा है।

द्वितीय सिद्धान्त (Standard Theory) में आन्तरिक एवं बाह्य संरचना के मध्य भेद और स्पष्ट कर दिया गया जो पहले बहुत स्पष्ट नहीं था। इन अपर्याप्तताओं के बावजूद “क्लासिकल सिद्धान्त” सैद्धान्तिक भाषाविज्ञान के क्षेत्र में मील का पत्थर सिद्ध हुआ क्योंकि इसने सिद्ध कर दिया कि 40 एवं 50 के दशक में प्रचलित किसी भी सैद्धान्तिक ढाँचे के अन्तर्गत भाषिक-तथ्यों का सार्थक ढंग से व्याख्यान नहीं हो सकता।⁶²

नियमों की तीसरी अवस्था ‘विस्तारित मानक सिद्धान्त’ (Extended Standard Theory) पूर्वोक्त सिद्धान्त का ही एक विस्तारित रूप है। इसमें कास्ट एवं पोस्टल के उस पूर्वोक्त सिद्धान्त का खण्डन किया गया जिसमें यह

कहा गया था कि रूपान्तरण से वाक्य नहीं बदलते। यह माना गया कि अर्थ का सम्बन्ध बाह्य संरचना से भी होता है तथा जहाँ रूपान्तरण में संख्याबोधक तथा निषेधबोधक शब्दों का स्थान विपर्यय हो जाय, केवल वहीं अर्थ बदलता है-

Every one loves someone.

Some one is loved by everyone.

अर्थ परिवृत्ति

इसी प्रकार प्रजनक-वाक्यसंरचनाशास्त्र (Generative syntax) के अतिरिक्त प्रजनक-अर्थविज्ञान के सिद्धान्त भी महत्त्वपूर्ण हैं। इनका वर्णन तृतीय अध्याय में किया जायेगा।

सिस्टीमिक व्याकरण का सिद्धान्त

यह भाषाविज्ञान का ब्रिटिश सम्प्रदाय है जिसे 'लन्दन स्कूल', फ़र्थियन या हैलिडेयन भी कहा जाता है। यह अमरीकी संरचनावाद से नितान्त भिन्न है। एम० ए० के० हैलिडे द्वारा प्रस्तावित व्यवस्थापरक (Systemic) व्याकरण का सम्बन्ध इसी सम्प्रदाय से है। इस सिद्धान्त का आधारभूत खाका जे० आर० फ़र्थ से लिया गया है तथा साथ ही इसमें हैलिडे, हेण्डर्सन, Mitchell, पामर, रॉबिन्स, कैटफोर्ड तथा अन्यो के लेखन सम्मिलित हैं। फ़र्थ ने यद्यपि किसी सुसंघटित व्याकरणात्मक-सिद्धान्त को प्रस्तुत नहीं किया तथापि उन्होंने अपने साथ कार्यरत विद्वानों पर गहरा प्रभाव छोड़ा। फ़र्थ द्वारा प्रस्तावित अर्थ सम्बन्धी सिद्धान्त अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं जो उन्हें अमरीकी संरचनावाद से अत्यन्त भिन्न सिद्ध कर देते हैं। उनके अनुसार वाक्य या भाषा का अध्ययन पारिस्थितिक-सन्दर्भ (Context of Situation) से पृथक् होना असम्भव है।⁶³

फ़र्थ के अनुयायियों ने उनके अनेक विचारों को बीज रूप में ग्रहण कर उसे उन्नति के शिखर तक पहुँचाया। इनमें से एम० ए० के० हैलिडे प्रमुख हैं। इनका जन्म 1925 ई० में लीडज़ (इंग्लैण्ड) में हुआ था। इनके व्याकरण में फ़र्थ के सिद्धान्त इतने स्पष्ट रूप से दृष्टिगोचर होते हैं कि इनके सिद्धान्त को 'नव-फ़र्थियन' (Neo-Firthian) सिद्धान्त भी कहते हैं। इन्होंने 1960 में जो सिद्धान्त व्यवस्थित किया, उसे 'माप एवं कोटि व्याकरण' (Scale and

Category Grammar) का नाम दिया, जिसे कुछ लोगों ने 'व्यवस्था-विकल्प' (System choice) भी कहा। बाद में हैलिडे ने अपने सिद्धान्त में व्यवस्था (System) की सर्वाधिक महत्ता पर ध्यान देकर इसे सिस्टीमिक व्याकरण कहना प्रारम्भ कर दिया।

फ़र्थ के अनुसार 'वाक्' एवं 'अर्थ' इतने जटिल रूपेण सम्पृक्त हैं कि कोई भी एकदिशीय या एकव्यवस्थीय विवरण भाषा के सब पक्षों की पर्याप्त व्याख्या नहीं कर सकता। अतः भाषा-विश्लेषण हेतु उन्होंने 4 स्तरों की व्यवस्था की - स्वनिक (Phonetic), स्वनिमिक (Phonological), व्याकरणिक (Grammatical) तथा पारिस्थितिक (Situational या Semantic)। इसी दिशा में हैलिडे ने भाषिक विज्ञान को स्वनविज्ञान (Phonetics) तथा भाषाविज्ञान (Linguistics) के बीच विभाजित किया। इनमें दोनों एक सीमा तक अलग होते हुए भी एक दूसरे पर आधारित हैं। इस सिद्धान्त के अनुसार भाषिक घटनाएँ तीन अन्तःसम्बद्ध स्तरों-रूप, वस्तु (Substance) एवम् सन्दर्भ के द्वारा परिभाषित की जा सकती हैं। यह निम्नलिखित आरेख द्वारा स्पष्ट होता है -

PHONETICS ←		LINGUISTICS →	
वस्तु	←-----→	रूप	←-----→
स्वनिक वस्तु	स्वनप्रक्रिया	व्याकरण	परिस्थिति
			अतिरिक्तपाठीय
			सन्दर्भ — अभिलक्षण
लेख-वस्तु —	लेखिम विज्ञान	शब्द	

1. वस्तु, रूप एवं परिस्थिति प्रारम्भिक स्तर हैं।
2. व्याकरण एवं शब्द दो रूपीय स्तर हैं।
3. स्वनप्रक्रिया एवं सन्दर्भ वे आन्तरिक स्तर हैं जो वस्तु एवं परिस्थिति को रूप से जोड़ते हैं।

'रूप' स्तर में वक्ता 'मुक्त' अथवा 'बद्ध' चयन कर सकता है।

मुक्त-समुच्चय से चुनाव 'मुक्त चयन' होता है तथा 'बद्धसमुच्चय' से चुनाव 'बद्धचयन' कहलाता है। यहाँ शब्द (Lexis) मुक्त चयन तथा व्याकरण बद्धचयन के प्रतिनिधि हैं। इस प्रकार व्याकरण में निम्नलिखित लक्षण होने आवश्यक हैं -

1. किसी व्यवस्था में मदों (terms) की संख्या सीमित होनी चाहिए।
2. सभी मद परस्पर व्यतिरेकी होने चाहिए।
3. यदि व्यवस्था में कोई नया मद जोड़ा जाय तो वह अन्य सभी के रूपात्मक-अर्थ को बदल दे।

व्याकरणिक कोटियों के प्रसङ्ग में सिस्टीमिक-व्याकरण चार अन्तःसम्बन्धी एवं परस्पर परिभाषक प्राथमिक कोटियों का वर्णन करता है - इकाई, संरचना, वर्ग तथा व्यवस्था।

प्रथम अध्याय में वर्णन आ चुका है कि हैलिडे ने सैद्धान्तिक एवं वर्णनात्मक भेद से कोटियों के दो प्रकार माने हैं। पहली कोटि सार्वभौम तथा निश्चित होती है, जबकि द्वितीय प्रतिभाषा भिन्न तथा अनिश्चित होती है।

पूर्वोक्त चारों कोटियों के अतिरिक्त उन्होंने चार आयाम भी बताए हैं जो इन कोटियों को एक दूसरे से तथा भाषाई आँकड़ों से जोड़ते हैं। पहले इनकी संख्या केवल तीन श्रेणी (Rank), घोटन (Exponance) तथा सूक्ष्मता (Delicacy) थी; बाद में उन्होंने एक आयाम 'गहराई' (Depth) और जोड़ दिया।

व्याकरणिक कोटियों का वर्णन अवसर प्राप्त है, ताकि भाषा संरचना सम्बन्धी 'सिस्टीमिक-व्याकरण' के प्रमुख मन्तव्य स्पष्ट हो जायें -

1. इकाई (Unit)

इकाई भाषिक-क्रियावत्ता का वह विभाग (Stretch) होती है जो किसी विशिष्ट-अभिरचना को वहन करती है। प्रत्येक इकाईयाँ परस्पर भिन्न होती हैं।⁶⁴ भाषा के सम्बन्ध में व्याकरणिक-कथन के प्रयोग के समय उसका विभाग जिन वर्गों में होता है वे ही इकाईयाँ हैं। ये इकाईयाँ प्रतिभाषा भिन्न हो सकती हैं। हिन्दी में 'वाक्य, उपवाक्य, समूह, शब्द तथा रूपिम ये पाँच

वर्णानात्मक इकाइयाँ होती हैं। वाक्य बृहत्तम तथा रूपिम लघुतम इकाई होती है। प्रत्येक इकाई अपने नीचे की एक या एकाधिक इकाइयों का योग होती है। इस सैद्धान्तिक कोटि की कल्पना भाषिक विस्तार के विश्लेषण के लिए की गयी है। ये इकाइयाँ श्रेणीमान (rank-Scale) पर अधिक्रमात्मक रीति से व्यवस्थित होती हैं। नीचे की इकाई ऊपर की इकाई का अङ्ग होती है परन्तु कभी-कभी किसी ऊँची श्रेणी की इकाई किसी नीची श्रेणी की इकाई में अन्तःस्थापित (Embedded) हो जाती है, जिसे श्रेण्यन्तरण (Rank-shift) कहते हैं; जैसे एकवाक्यात्मक उत्तर - 'हाँ' एक 'रूपिम' शब्द है परन्तु तीन इकाइयों को पार कर 'वाक्य' की श्रेणी में अन्तरित (Shift) हो गया है। इकाई यदि नीचे की एकाधिक इकाइयों के मेल से बनी है तो सामान्यतः तीन स्थितियाँ होती हैं, (क) अनुक्रमात्मक (Sequencial) सम्बन्ध, जैसे अमानवत्व (अ+मानव+त्व), (ख) अन्तर्भावन (Inclusion), जैसे - 'Does your friend know me? में, Does Know (क्रि०प०) के बीच में सं०प० (Your friend) अन्तर्भूत है। (ग) संलयन (fusion) सम्बन्ध, जैसे वासुदेव (वासुदेव + विशेषण रूपिम) परस्पर संलीन हैं। इकाइयाँ मूल एवं संयुक्त के भेद से दो प्रकार की हो सकती हैं।⁶⁵ इकाइयाँ यद्यपि प्रतिभाषा भिन्न होती हैं परन्तु हर भाषा में कम से कम दो इकाइयाँ आवश्यक हैं क्योंकि ये अधिक्रमात्मक रूप से सम्बद्ध होती हैं।

2. संरचना

किसी भी भाषा में लघुतम सार्थक इकाई से अतिरिक्त ऊपर की सभी इकाइयों की अपनी संरचना होती है जो सदा अपने से निम्न इकाइयों द्वारा निर्मित होती हैं।⁶⁶ अपवादतः कभी ऊपर की इकाई भी संरचक हो जाती है जिसे श्रेण्यन्तरण कहा जाता है। सभी इकाइयों के संरचक तत्त्वों का निश्चित क्रम तथा स्थान होता है, जैसे - वाक्य → उद्देश्य + विधेय, समूह → विशेषक + शीर्ष, शब्द → उपसर्ग + शब्द आदि। संरचना शृङ्खला में जहाँ एक तत्त्व के स्थान पर दूसरा तत्त्व आ सके उसे स्थान कहते हैं। ये आदि, मध्य तथा अन्त्य के भेद से तीन प्रकार के होते हैं। संरचक तत्त्वों को स्थान तथा वर्ग दो आधारों से परिभाषित किया जा सकता है। इनकी संख्या भी प्रतिभाषा भिन्न

होती है। संरचना के कुछ तत्त्व अनिवार्य तथा कुछ वैकल्पिक होते हैं, जैसे शीर्ष (H) अनिवार्य तथा 'विस्तारक' (Modifier) ऐच्छिक होता है। संरचना के कुछ तत्त्व आपस में विरोधी तथा कुछ अविरोधी होते हैं अथ च कुछ तत्त्व मुक्त विकल्प एवं कुछ प्रतिबन्धित विकल्प होते हैं।⁶⁷ स्थान-क्रमित (Place ordered) तथा प्रत्यावर्ती भेद से संरचनाओं के दो अन्य भेद भी किये गये हैं। इसमें पहले में प्रत्यावर्तन (Recursion) नहीं होता जबकि दूसरे में होता है। पहले को पूर्णवर्गाभिमुख तथा दूसरे को आंशिक-वर्गाभिमुख कहते हैं।⁶⁸

3. वर्ग (CLASS)

'वर्ग' समान प्रकार्य वाले तत्त्वों का समूहन है। अनेक भाषिक तत्त्व संरचना में निश्चित कार्य करते हैं तथा निश्चित स्थानों पर आते हैं। ये तत्त्व अपने ऊपर की इकाई में अपना काम करते हैं जैसे 'संज्ञा' का कार्य करने वाले शब्द 'संज्ञात्मक वर्ग' में आयेंगे। इसी प्रकार 'क्रियात्मक', 'विश्लेषणात्मक' आदि वर्ग भी हैं। इन्हें बाह्य कार्य एवं आन्तरिक संरचना के आधार पर दो प्रकार से बाँट जा सकता है। वर्ग का सम्बन्ध ऊपर संरचना तथा नीचे व्यवस्था से होता है। सूक्ष्मता के मान (Scale of delicacy) के आधार पर 1. प्राथमिक एवं 2. द्वितीयक दो प्रकार के वर्ग बन सकते हैं। नामिक, क्रियात्मक, विशेषणात्मक आदि वर्ग प्राथमिक हैं, जबकि विशेषण वर्ग के अन्तर्गत गुणबोधक, वर्णबोधक, संख्याबोधक वर्ग द्वितीयक है।

4. व्यवस्था

व्यवस्था प्रतिबन्धित विकल्पों से निर्मित होती है जो एक प्रकार से व्याकरणिक अवस्था है। संरचना में व्यवस्था की उपस्थिति वहाँ होती है जहाँ व्याकरणिक स्तर पर विकल्प या चयन की संभावना हो। मुख्यतः वचन, लिङ्ग, काल, वाच्य, पक्ष आदि क्षेत्रों में आवश्यकतानुसार चयन होता है। हर व्यवस्था के क्षेत्र में जितने चयन या विकल्प की संभावना होती है उसके आधार पर ही विरोध का निर्धारण होना चाहिए। अतः द्विचर विरोध का नियम सार्वभौम नहीं है। भाषा में विभिन्न क्षेत्रों की व्यवस्थाएँ कभी अलग-अलग तो कभी एक-दूसरे से सम्पृक्त होकर कार्यरत होती हैं। जैसे 'बालिकाः' वचन की

व्यवस्था में बहु०, लिङ्ग की व्यवस्था में स्त्रीलिंग है। प्रायः व्यवस्था में इसी प्रकार की बहु-आयामिता प्राप्त होती है, अतः यह संप्रदाय व्यवस्थाओं को अन्तःकार्यक (Interacting), अन्तःपाशित (Interlocking) तथा अन्तःप्रभावी मानता है। इस प्रकार यह सम्प्रदाय भाषा के व्यवस्थापरक वर्णन को इतना महत्त्वपूर्ण मानता है कि यही कोटि इसके नामकरण का कारण बन गई है।

हैलिडे ने इन व्यवस्थाओं को भाषा की आन्तरिक संरचना माना है और इसके द्वारा भाषा की रचना को सामने लाने का यत्न किया है। भाषा की व्यवस्थाओं को एक सामान्य सिद्धान्त में डालकर उसके आधार पर दो भाषाओं की तुलना हो सकती है। उनका सिद्धान्त एक प्रकार से पुराने व्याकरण को नये रूप में प्रस्तुत करने का प्रयास है। उनकी व्याकरणिक पद्धति भाषाओं के अध्ययन के लिए सहज एवं सुलभ है।⁶⁹

अन्यान्य सिद्धान्त

पाश्चात्य भाषा-विश्लेषण सम्बन्धी सिद्धान्तों का क्रम यहाँ उनकी प्रसिद्धि तथा ग्राह्यता के आधार पर निश्चित किया गया है। रू० प्र० व्याकरण एवं व्यवस्थापरक व्याकरण निश्चित रूप से सर्वाधिक प्रसिद्ध हैं तथा इन पर पूरे विश्व में बहुलता से शोध किये गये हैं और किये भी जा रहे हैं। यही कारण है कि इन्हें अन्यान्य सिद्धान्तों से पृथक् तथा विशद रूप से वर्णित किया गया यद्यपि अन्य सिद्धान्त इनके पहले के अथवा इनके साथ के ही हैं। अन्यान्य सिद्धान्तों में हम अन्य प्रसिद्ध, समर्थ एवं ग्राह्य तीन सिद्धान्तों का संक्षिप्त वर्णन प्रस्तुत करेंगे -

1. बन्धिम विज्ञान (Tagmemics)
2. स्तरपरक व्याकरण (Stratificational Grammar)
3. कारकीय व्याकरण (Case Grammar)

1. बन्धिम विज्ञान

इसके प्रस्तुतकर्ता केनेथ एल्० पाइक महोदय हैं। इससे सम्बद्ध मुख्य

सिद्धान्त क्रमशः 1954, 55 तथा 60 में तीन खण्डों में पाइक की प्रमुख पुस्तक 'Language in relation to a unified theory of the structure of Human Behaviour' - में प्रकाशित हुए। पाइक के अतिरिक्त इस विषय पर उनके अनुयायियों, जैसे - रॉबर्ट ई० लांगेकर, वी० पिकेट, एल्सन मेरिफ़ील्ड तथा नाइडा आदि ने भी कार्य किये।

पाइक के सिद्धान्त केवल भाषा पर आधारित न होकर सम्पूर्ण मानव-व्यवहार पर आधारित हैं। इसका कारण यह है कि भाषा एक मानव व्यवहार है और उसका अध्ययन मानव के भाषेतर व्यवहारों के सन्दर्भ में भी होना चाहिए। व्यवहारों का उचित एवं यथार्थ अध्ययन अन्तःप्रेक्षण अथवा अन्तःप्रज्ञा द्वारा न होकर व्यक्तिनिरेपक्ष बाह्यप्रेक्षण (Observation) द्वारा होना चाहिए अतएव टैगमीमिक्स के अनुसार 'भाषा का अध्ययन ऐसा होना चाहिए कि उसमें अन्तःप्रेक्षण कम से कम हो और बहिःप्रेक्षण अधिक से अधिक हो।'⁷⁰ यहाँ यह ध्यातव्य है कि चॉम्स्कीय सिद्धान्त भाषिक अध्ययन को सामर्थ्य का अध्ययन मानता है जो मानव की अन्तःप्रज्ञा द्वारा ही व्यक्त होता है। पाइक ने मानव के संरूपित व्यवहार को अपने अध्ययन का विषय बनाया। इनके अनुसार व्यवहार के तीन पक्ष होते हैं 1. व्यवहार का अपना वैशिष्ट्य - भेदक लक्षण, 2. व्यवहारों के अभिव्यञ्जक, 3. व्यवहार के घटित होने की सम्भावना - वितरण। चूँकि भाषा भी एक विशिष्ट व्यवहार है, अतः इसमें इनके प्रतिनिधि पक्ष हैं - 1. शब्दकोशीय, 2. व्याकरणिक, 3. तथा ध्वनिशास्त्रीय। ये तीनों पक्ष स्वतन्त्र होते हुए भी एक दूसरे से सम्बद्ध एवं अन्योन्याश्रित हैं अतः इन्हें अर्धस्वतन्त्र भी कहा जाता है।

बन्धिम विज्ञान, वह विशिष्ट व्याकरण पद्धति है जो भाषिक संरचनाओं पर विचार करती है तथा संरचना विशेष के विभाजन के नियमों को भी बताती है। किन्तु इस पद्धति का विभाजन अन्य सिद्धान्तों से भिन्न है। विभाजन के साथ-साथ वह खण्डीकृत संरचकों के पारस्परिक सम्बन्धों को भी बताती है। इसका विश्लेषण रूप एवं प्रकार्य दोनों को दृष्टि में रखकर पूरा होता है। जैसे - 'बालकः अद्य गृहं गमिष्यति' इस वाक्य का बन्धिमिक-विश्लेषण होगा - कर्ता का प्रकार्य करने वाली संज्ञा (बालकः) + क्रिया विशेषण का प्रकार्य

करने वाला अव्यय (अद्य) + कर्म का प्रकार्य करने वाली संज्ञा (गृहम्) क्रिया का प्रकार्य करने वाली क्रिया (गमिष्यति)। प्रकार्य की दृष्टि से संरचना के प्रत्येक संरचक या संरचना में स्थान (Slot) होता है जिसमें संरचक प्रकार्यतः उस स्थान को भरने वाले पूरक (Filler) के रूप में आता है। 'Slot' प्रकार्य-स्थान है तथा उसमें जो तत्त्व आ सकते हैं, वे पूरक (Filler) होते हैं। इन दोनों के सहसम्बन्ध को ही 'बन्धिम' (Tagmeme) कहते हैं।⁷¹ 'बन्धिम' की सत्ता वैचारिक एवं अमूर्त है। बन्धिम जिस संरचना में आते हैं उसे 'संरचना-प्ररूप' (Syntagmeme) कहा जाता है। संरचना प्ररूप एक रूपिम शृङ्खला है जिसके प्रकार्यात्मक खण्ड किये जाते हैं और ऐसे खण्ड करने पर टैगमीम उपलब्ध हो जाते हैं। टैगमीम प्रकार्य एवं उनके व्यञ्जकों का सह-सम्बन्ध है। इसमें एक प्रकार्य पक्ष एवं दूसरा तद्व्यञ्जक पक्ष होता है। ऊपर के वाक्य में 'बालकः' (Syntagmeme के पहले खण्ड) के टैगमीम में प्रकार्य 'कर्तृत्व' तथा तद्व्यञ्जक 'बालकः' है। एक Slot में आ सकने वाले तत्त्वों का अपना वर्ग (Set) होता है। इन वर्गों के तीन प्रकार हो सकते हैं क. मुक्त वर्ग, ख. सीमित वर्ग तथा ग. एकीय वर्ग। संरचना के आधार पर उनमें आने वाले बन्धिम मुख्यतः छः प्रकार के निर्दिष्ट किये जा सकते हैं।

1. अनिवार्य एवं वैकल्पिक - जो बन्धिम रचना की पूर्णता हेतु आवश्यक होते हैं उनको अनिवार्य तथा शेष को वैकल्पिक कहते हैं - "अथ अनुरूपाभिनिवेशतोषिणा गरीयसा गुरुणा कृताभ्यनुज्ञा गौरी पश्चात्तदाख्यया प्रथितं शिखण्डिमत् शिखरं जगाम।"⁷² रचना में 'गौरी जगाम' अनिवार्य बन्धिम है तथा शेष वैकल्पिक।
2. नाभिकीय एवं परिधीय (Nuclear & Peripheral) - नाभिकीय अंशों के हटते ही संरचना भङ्ग हो जाती है जबकि परिधीय अंश के न रहने पर केवल सूचना में कमी आती है - 'उषो वाजेन वाजिनि! प्रचेताः मघोनि! गृणतः स्तोमं जुषस्व'⁷³ रचना में 'उषः स्तोमं जुषस्व' केन्द्रीय रचना है, शेष परिधीय। 'स्तोमम्' पद नाभिकीय होते हुए भी वैकल्पिक है। इसी प्रकार कुछ बन्धिम नाभिकीय एवं अनिवार्य होते हैं, जैसे 'जुषस्व'। परिधीय बन्धिम

सदैव वैकल्पिक होते हैं, जैसे 'गृणतः', 'वाजेन' आदि। (कर्ता, कर्म तथा क्रिया नाभिकीय और शेष कारक एवं शब्द परिधीय माने जा सकते हैं।)

3. चलक्रम एवं अचलक्रम (Movable & Fixed) - संयोगात्मक भाषाओं में क्रम की दृष्टि से बन्धिम प्रायः मुक्त अर्थात् चल होते हैं परन्तु वियोगात्मक भाषाओं में प्रायः क्रम रेखीय एवं निश्चित होता है। जैसे - संस्कृत में - "बभूव वल्मीकभवः कविः पुरा"⁷⁴ में सामान्य क्रम के अभाव में भी अर्थ परिवर्तन नहीं होता परन्तु हिन्दी या अंग्रेजी में भाषाएँ क्रमपरिवर्तन को नहीं सह पाती, क्योंकि वहाँ अर्थतत्त्व एवं सम्बन्धतत्त्व परस्पर जुड़े नहीं होते।

सामान्यतया संरचना प्ररूप में व्याकरणिक व्यवस्था अधिक्रमात्मक होती है वाक्य → उपवाक्य → पदबन्ध → पद → शब्द → मूल। सामान्यतः नीचे की रचना ऊपरी स्तर की रचना में समाविष्ट नहीं होती। जहाँ ऐसा नहीं होता। यह प्रक्रिया 'लूप बैक' कहलाती है जिसे 'स्टीमिक व्याकरण' में 'श्रेण्यन्तर' कहा गया है। ये मुख्यतः तीन प्रकार के हैं → 1. स्तर उच्छलन (Level Skip), 2. समस्तर निवेश (Layering), 3. स्तर आवरण (feedback)।⁷⁵

4. विन्यासक्रमिम (Syntagmeme) के प्रकार -

1. अन्तःकेन्द्रिक एवं बहिष्केन्द्रिक। पहला रचना की दृष्टि से अनिवार्य तथा दूसरा ऐच्छिक होता है।
2. बद्धान्त एवं मुक्तान्त। रचनाएँ जो बढ़ाई जा सकें तथा जो बढ़ाई न जा सकें।
3. प्रत्यावर्ती एवं अप्रत्यावर्ती।
4. लघुतम एवं बृहत्तम -
 - (i) 'उपेन्द्रः रिपोः उरः भिन्नं चकार' (लघुतम)
 - (ii) 'स उपेन्द्रः कोपारुणया दृशा रिपोरुरः भिन्नं चकार।'।
 - (iii) 'स उपेन्द्रः जयति यः दूरतः क्षणलब्धलक्ष्यया

कोपारुणया दृशा रिपोः अस्रपाटलं उरः स्वयं भयाद्
भिन्नमिव चकार।' (इसे और भी बढ़ाया जा सकता
है।)⁷⁶

5. वाक्य - के० एल० पाइक ने बीज वाक्य, पूर्ण-अपूर्ण वाक्य, अनुवर्ती वाक्य लुप्तांशक वाक्य, अनुपूरक वाक्य, उत्तर वाक्य तथा अवाक्यात्मक वाक्य आदि के भेद से वाक्य के सम्बन्ध में अपने विशिष्ट विचार व्यक्त किये हैं।
6. बन्धिम एवं उपबन्ध (Allotagm) - किसी भाषा में प्राप्त बन्धिम मूलतः बन्ध होते हैं जिनके रूप, प्रकार्य एवं वितरण ये तीन पक्ष होते हैं। जिन बन्धों के केवल रूप अलग हों किन्तु उनका प्रकार्य एवं वितरण वही हो, वे बन्धिम के उपबन्ध होते हैं।

रू०प्र० व्याकरण सामर्थ्य पर आधारित है जबकि बन्धिम विज्ञान प्रयोगनैपुण्य को लेकर चलता है। भाषा-व्यवस्था के रहस्योद्घाटन में रू०प्र० व्याकरण ठीक है परन्तु उसकी सूक्ष्मताएँ सामान्य पाठक को भटका देती हैं। इसके विपरीत टैमीमिक्स के नियम उसके लिए पूर्व परिचित एवं सहज उपयोग में लाने वाले होते हैं।⁷⁷ नियमों की अपेक्षाकृत सरलता एवं लघुता के कारण बन्धिमविज्ञान भाषाशिक्षण एवं विश्लेषण के हेतु सर्वाधिक उपयुक्त है।

(ii) स्तरपरक व्याकरण (Stratificational Grammar)

भाषिक विश्लेषण की इस पद्धति के व्याख्याता अमरीकी भाषाविद् एस्० एम्० लैम्ब (1929-) हैं। इस सिद्धान्त का ऐदम्प्राथम्येन वर्णन उन्होंने 1962 में प्रकाशित अपनी पुस्तक "Outline of Stratificational Grammar" में किया है।

उनका कहना है कि भाषाओं का विश्लेषण अब तक केवल एक-स्तर युक्त मानकर किया जाता रहा है जबकि वास्तविकता है कि भाषा में संरचना के कई स्तर होते हैं। प्रत्येक स्तर का अपना विशिष्ट विन्यास होता है तथा अपनी व्यवस्था होती है। वस्तुतः प्रत्येक भाषा बहुस्तरीय संरचना की एक जटिल व्यवस्था है। अनेक अन्य विद्वानों जैसे येम्स्लेव, हॉकिट, पाइक आदि ने भी

स्तरों की चर्चा दूसरे नामों से की है तथापि स्तरपरक व्याकरण अपेक्षाकृत अधिक स्तर मानने के कारण उपर्युक्त सभी से भिन्न है। लैम्ब के अनुसार सभी भाषाओं में सामान्य स्तर नहीं होते तथापि सभी भाषाओं में कम से कम चार स्तर अवश्य होते हैं। इनके अनुसार मूल रचक तीन हैं - अर्थ, व्याकरण, ध्वनि। इन तीनों में क्रमशः दो-दो स्तर होने से कुल छः स्तर बनते हैं। अर्थ में अत्यर्थिमिक (hypersememic) तथा अर्थिमिक (Sememic); व्याकरण में कोशिमिक (Lexemic) एवं रूपिमिक (morphemic) एवं ध्वनि में स्वनिमिक (Phonemic) तथा अधःस्वनिमिक (hypophonemic or phonetic)। लैम्ब के अनुसार भाषा एक कूट की तरह चिह्नों से सूचनाओं को जोड़ती है। भाषा में सूचनाएँ वैचारिक संरचनाएँ तथा चिह्न स्वनिमिक-सामग्री होती है। वक्ता सूचना को चिह्न में संकूटित करता है जबकि श्रोता उसे विकूटित करता है। ये दोनों प्रक्रियाएँ परस्पर विभिन्न अवस्थाओं में होती हैं। भाषिक संघटना का प्रत्येक स्तर 'Stratum' कहलाता है।

भाषा की बहुस्तरीय जटिलता का प्रमुख कारण प्रयुक्त ध्वनि तथा अर्थ की प्रकृति में अन्तर है। पहले का सम्बन्ध उच्चारण तथा दूसरे का सम्बन्ध घटना आदि से है। ध्वनि एकायामी, रेखीय है जबकि अर्थ बहुआयामी होता है। लैम्ब भाषा विश्लेषण के प्रसङ्ग में 'लाघव' को अत्यन्त महत्वपूर्ण मानते हैं। इनके अनुसार भाषिक-वर्णन या विश्लेषण अन्य शास्त्रों पर आधारित न होकर भाषिक तत्त्वों पर आधारित होना चाहिए। विश्लेषण का यही सिद्धान्त सर्वोत्तम है जिसमें बाहरी तत्त्वों की सहायता के बिना व्यवस्था के प्रतिमान (pattern) अपने आप उभर जायें।

भाषा विश्लेषक, विश्लेषण के द्वारा भाषा के प्रत्येक स्तर पर एक प्रकार की भाषिक इकाइयों, उनके आपसी सम्बन्धों तथा उनके साथ दूसरी इकाइयों के सम्बन्धों का पता लगाता है। इनकी आवृत्ति बार-बार होती है अतः सामान्यीकरण के द्वारा इन सम्बन्धों का पता लगा लिया जाता है। लैम्ब ने विश्लेषण को 'सरलीकरण की प्रक्रिया' कहा है क्योंकि इसमें किया जाने वाला सामान्यीकरण भाषिक-व्यवस्था को सरल रूप में हमारे सामने ला देता है। भाषिक संरचना में प्राप्त प्रतिमानों (patterns) के आधार पर दो प्रकार के

भाषिक विश्लेषणों की आवश्यकता मानी गई है।

1. विन्यासपरक (Tactic) विश्लेषण – यदि हमारे पास मूल सामग्री यह हो –

$$abc + abd + abe + abf + abg + abh + abi$$

तो इसके समान तत्त्वों और उनकी आवृत्ति का पता लगाकर उनका सरलीकृत रूप इस तरह रख सकते हैं – $ab (c + b + e + f + g + h + i)$

यही विन्यासपरक विश्लेषण है, जिससे सामग्री की संरचनात्मक व्यवस्था सामने आ जाती है। बार-बार आने वाली समानताओं का ज्ञान करने की प्रक्रिया ही विन्यास-परक विश्लेषण का आधार है।

2. प्रतिफलनपरक (Realizational) विश्लेषण – संरचना में विन्यास से अतिरिक्त जो बातें होती हैं उनको प्रतिफलन परक विश्लेषण द्वारा विश्लेषित किया जाता है। इसके लिए इसमें चार प्रक्रियाएँ हैं⁷⁸ –

(i) पारिपार्श्विक समूहन (Horizontal grouping)

(ii) पारिपार्श्विक विभाजन (Horizontal splitting)

(iii) ऊर्ध्वाधारिक समूहन (Vertical grouping)

(iv) ऊर्ध्वाधारिक विभाजन (Vertical splitting)

भाषा के छः स्तर होते हैं तथा उनसे सम्बद्ध इकाइयाँ भी होती हैं, यथा-

स्तर	मूल-इकाई	अगले उच्च स्तर से सम्बद्ध इकाई
अत्यर्थिमिक	अति-अर्थोन	अत्यर्थिम
अर्थिमिक	अर्थोन	अर्थिम
कोशिमिक	कोशोन	कोशिम
रूपिमिक	रूपोन	रूपिम
स्वनिमिक	स्वनोन	स्वनिम
अधःस्वनिमिक		अधःस्वनिम

-eme प्रत्यय का प्रयोग ऐसी बड़ी इकाई के लिए किया गया है जिसका उससे उच्चस्तर से सम्बन्ध हो। -on प्रत्यय मूलतः भौतिकी का है जहाँ यह मूल कणों के लिए प्रयुक्त होता है। प्रत्येक स्तर का - ईम, उस स्तर की मूल इकाई - ओन से मिलकर बना होता है।

लैम्ब अपनी पद्धति में व्याकरणिक विश्लेषण हेतु परम्परागत विश्लेषण की रीति को छोड़कर मुख्य ग्राफीय रेखाङ्कन तथा कहीं-कहीं बीजगणितीय पद्धति की सहायता लेते हैं। इनके अनुसार विभिन्न विज्ञानों में जिस प्रकार निश्चित बात कहने हेतु सामान्य भाषा के अतिरिक्त इनकी सहायता उपयोगी है, इसी प्रकार भाषा-विश्लेषण में भी। लैम्ब ग्राफीय रेखाङ्कन को श्रेयस्कर मानते हैं क्योंकि यह द्विआयामी होता है। ग्राफीय एवं गणितीय पद्धति अपनाने से इनकी विश्लेषण शैली काफी बोझिल तथा जटिल हो गई है। स्तरपरक व्याकरण की प्रमुख विशेषता यह है, कि यह व्याकरण को संकेतविज्ञान एवं ध्वनिशास्त्र से दृढतया अन्तःसम्बद्ध करता है, यही विशेषता इस व्याकरण को अन्य पद्धतियों से पृथक् करती है।

(iii) कारकीय व्याकरण

कारकीय व्याकरण (Case Grammar) के प्रस्तोता अमरीका के प्रसिद्ध प्रजनक भाषाविद् चार्ल्स फ़िल्मोर (1929-) हैं। 1966 तथा 1968 में प्रकाशित क्रमशः 'Towards a modern theory of case' एवं 'A case for case' लेखों में उन्होंने रू०प्र० व्याकरण के प्रति अनास्था व्यक्त करते हुए स्पष्ट किया कि चॉम्स्की द्वारा प्रस्तुत - 'वाक्य = संज्ञा प० + क्रि०प०' यह नियम वाक्य की अपेक्षित गहराई का पर्याप्तता से विश्लेषण करने में समर्थ नहीं है। कारकीय व्याकरण भी रूपान्तरण के विचार को स्वीकार करता है तथा बाह्य एवं आन्तरिक संरचनाओं के मध्य भिन्नताओं की व्याख्या हेतु कारकीय सम्बन्धों का आश्रय लेता है।

चाम्स्कीय विश्लेषण की अपर्याप्तता का एक उदाहरण निम्नवत् है -

1. John opened the door.
2. The door opened.
3. The key opened the door.

चॉम्स्की के अनुसार तीनों जगह 'door' समान स्थिति में नहीं है। पहले, तीसरे में क्रियापदबन्ध में तथा दूसरे में सं०प० में है। फ़िल्मोर ने इसे अस्वीकार किया है। यह बाह्य विभिन्नता कारक तत्त्व की उपेक्षा करने के कारण प्रतीत होती है। वस्तुतः तीनों जगह 'door' एक ही 'कर्म' कारक में है। प्रत्येक जन्मजात वक्ता को यह तथ्य स्वीकार होगा कि ये तीनों सम्बद्ध संरचनाएँ हैं। रूपान्तरण नियम इन्हें सम्बद्ध नहीं कर सकते। ये वाक्य केवल कारकीय सम्बन्धों की शब्दावली में सम्बन्धित किये जा सकते हैं।

फ़िल्मोर ने चॉम्स्की के 'S → NP + VP' सिद्धान्त से भिन्न दृष्टि से वाक्य का विभाजन किया है - वाक्य = प्रकारता + प्रतिज्ञप्ति

प्रकारता (Modality) पूर्ण वाक्यीय तत्त्व है, जिसमें वे चीजें आती हैं जो पूरे वाक्य में व्याप्त हैं। जैसे नकारात्मकता, प्रश्नात्मकता, वाच्य, काल पक्ष, वृत्ति (Mood) आदि। इनका सम्बन्ध पूरे वाक्य से होता है। प्रतिज्ञप्ति (Proposition) में प्रकारता (Modality) से अवशिष्ट चीजें आती हैं। इसमें क्रिया एवं कारकीय सम्बन्ध आते हैं। क्रिया एवं क्रियेतर वाक्यीय तत्त्वों को जोड़ने वाला अन्तर्निहित सम्बन्ध कारक कहलाता है। फ़िल्मोर के अनुसार⁷⁹ -

1. 'कारक' नामक व्याकरणिक तत्त्व सभी भाषाओं के व्याकरणों का आधारभूत संरचक है।
2. 'कारक' का प्रयोग संरचना तथा अर्थ के अन्तर्निहित सम्बन्ध को बताने हेतु किया गया है। 'कारक-रूप' (Case-form) शब्द कारक सम्बन्ध के द्योतक चिह्नों के लिए प्रयुक्त हुआ है। यह प्रत्यय योजन अथवा शब्द क्रम अथवा अन्य साधनों के रूप में होता है।
3. वाक्य में आधारभूत संरचना के रूप में एक क्रिया एवं एक या अधिक सं०प० प्रयुक्त होते हैं। प्रत्येक क्रिया किसी विशिष्ट कारकीय सम्बन्ध से जुड़ी रहती है।

फ़िल्मोर द्वारा सम्मत कुछ कारक निम्नलिखित हैं -

1. प्रकर्त्ता (Agentive) - प्रकर्त्ता का कार्य सक्रिय होता है निष्क्रिय नहीं। उदाहरणार्थ 'रामः गच्छति' में राम 'प्रकर्त्ता' है परन्तु 'रामः सहते' में नहीं। यहाँ 'राम'

2. अनुभवकर्त्ता (Experiencer) कारक है। इस कारक को Filmore ने पहले सम्प्रदान (Dative) कहा था। 'चौरः मृतः', 'त्वं उद्विजसे' आदि में 'चौरः' एवं 'त्वम्' भी इसी कारक में हैं।
3. करण (Instrumental) - कोई भी अप्राणिवाचक जो वाक्य में 'कर्त्ता' या 'करण' के रूप में प्रयुक्त हो, करण कारक (Instrumental case) है। बाद में इसका नाम बदलकर 'प्रेरक' (Stimulus) कर दिया गया। 'रामेण (A) बाणेन (I) हतो बाली' (O) ।
4. स्रोत (Source) - गति के आरम्भ बिन्दु को स्रोत कहते हैं। 'बाल्यात् (S) परं साऽथ वयः प्रपेदे।' 'महीध्राद् (S) उत्तुङ्गाद् (S) अवनिम् (O) अवनेः (S) चापि जलधिम् (O) ।'
5. लक्ष्य (Goal) - किसी क्रिया से उत्पन्न वस्तु - यो वेदेभ्यो (S) ऽखिलं जगत् (G) निर्ममे।
6. कर्म (Objective) - 'चक्षुः (O) उन्मीलितम् (O) येन' ।
7. अधिकरण (Locative) - "कृष्णचन्द्रमुखचन्दिरे (L) सदा चित्तमेतदिह मे चकोरतात्" ।
8. सम्प्रदान (Dative) - इमं विवस्वते (D) योगं प्रोक्तवान् अहमव्ययम्। विवस्वान् मनवे प्राह मनुरिक्ष्वाकवेऽब्रवीत्॥

इनके अतिरिक्त इन्होंने स्थान (Place), समय (Time), रीति (Manner), कमिटेटिव (Comitative), बेनिफेक्टिव आदि कुछ अन्य कारकों का भी उल्लेख किया है।

प्रत्येक कारकीय कोटि और अधिक उपवर्गों में विभाजित हो सकती हैं। कर्त्ता को प्राथमिक कर्त्ता, द्वितीयक कर्त्ता आदि में तथा कर्म (O) को अनुभवित (affected), परिणामी (resultative) आदि विभागों में उपवर्गीकृत किया जा सकता है।

कारकीय सम्बन्ध भाषा की आन्तरिक संरचना में स्थित होते हैं। बाह्य संरचना में आने के बाद वे यथावत् रह भी सकते हैं और नहीं भी -

बाह्य	→	स्थाली पचति	} परिवर्तित
आन्तरिक	→	स्थाल्यां पचति (कश्चित्)।	
बाह्य	→	चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टम्।	} अपरिवर्तित
आन्तरिक	→	चातुर्वर्ण्यम् अहं सृष्टवान्।	

कारकीय तत्त्वों को द्योतित करने वाले चिह्न कारक रूप कहे जाते हैं। संस्कृत में इन्हें विभक्ति चिह्न के रूप में पहचाना जा सकता है। परन्तु कारक एवं विभक्ति चिह्न में कोई अविनाभूत सम्बन्ध नहीं है। अष्टाध्यायी में कारक प्रकरण(1/4) एवं विभक्तिविधान प्रकरण(2/3) के अलग-अलग सन्दर्भ इसी तथ्य की ओर सङ्केत करते हैं।

‘माणवकम् धर्मम् ब्रूते’ वाक्य में ‘माणवक’ सम्प्रदान कारक है परन्तु उसमें द्वितीया विभक्ति का प्रयोग है चतुर्थी का नहीं।

एक विभक्ति चिह्न कई कारकों को द्योतित कर सकता है इसी प्रकार एक कारक अनेक विभक्ति चिह्नों द्वारा व्यक्त कर सकते हैं। ‘बालकाय क्रुध्यति’ तथा ‘बालकमभिक्रुध्यति’ दोनों प्रयोगों में ‘बालक’ शब्द में अपादान कारक है। इसी प्रकार ‘वने वसति’ तथा ‘वनम् अधिवसति’ दोनों प्रयोगों में ‘वन’ शब्द अधिकरण में है। विभिन्नता केवल बाह्य संरचना में दिखाई पड़ रही है। स्पष्ट है कि कारक आन्तरिक संरचना तथा विभक्तियाँ बाह्य संरचना का विषय होती हैं।

प्रत्येक क्रिया कारकीय ढाँचे से युक्त होती है। वह अपने योग्य कारकों का चयन करती है। जैसे $\sqrt{\text{पठ्}}$ क्रिया चेतन एवं प्रबुद्ध कर्ता, कर्म एवं करण का चयन करती है। $\sqrt{\text{मृ}}$ धातु प्रकर्ता (Agentive) का चयन नहीं कर सकती।

प्रस्तुत सिद्धान्त के विश्लेषण से ज्ञात होता है कि फ़िल्मोर कारकों के प्रस्तुतीकरण एवं व्याख्यान में कई सम्भावित कारक अभी व्याख्येय हैं। जैसे - John killed the victim with **poison**. यहाँ **poison** ‘Cause’ है या करण (Instrument)?

इन अव्यवस्थाओं एवं कमियों के बावजूद इतना तो कहा ही जा सकता है कि फ़िल्मोर ने भाषिक विश्लेषण को कारकीय व्याकरण की दिशा में जो

मोड़ दिया है वह निश्चित रूप से सम्भावनाओं से भरा है। भारतीय वैयाकरणों के समर्थ तथा स्पष्ट कारकीय वितरण के साथ यदि प्रस्तुत सिद्धान्त का प्रयोग किया जाये तो निश्चित रूप से इसे और गम्भीर एवं सार्वभाषिक बनाया जा सकता है।

सन्दर्भ

1. तर्कभाषा, पृ०-108
2. ऋग्वेदप्रातिशाख्य (2/1) तथा 'पदानां संहिता योनिः संहिता वा पदाश्रया' (वा०प० 2/58)
3. 'पदसंघातजं वाक्यं वर्णसंघातजं पदम्' (बृह० 2/117)
4. शा०भा० (मी०सू० 1/1/7)
5. Iyer K.A.S. 'Bhartrhari' p. 188, & G.N. Shastri - The Philosophy of Word & Meaning, page 83
6. प्रकाशकानां भेदांस्तु प्रकाशयोऽर्थोऽनुवर्तते। (वा०प० 1/99)
7. 'नहि नाम पदं किञ्चिद् रूपेण नियतं क्वचित्।' (वा. प. 1/26 की स्वी०वृ० में संग्रह के नाम से उद्धृत)
8. K.A. Subrahmanya Iyer: 'Bhartrhari On Sentence', Paper in the Adyar Library Bulletin. 1980-81
9. विवरण हेतु 'भर्तृहरिणोद्धृतानि वाक्यलक्षणानि', के० कुञ्जुनी राजा, The Adyar Library Bulletin - 1995
10. (i) 'संघातस्य गुणत्वात्'। जैमिनि सूत्र (9/1/6/25 तथा 7/4/3/17)
(ii) 'एकार्थः पदसमूहो वाक्यम्' शा०भा० (2/1/14/46)
(iii) 'केवलः पदसंघातः प्रत्यक्षमुपलभ्यते' (तं०वा० 3/3/7/14)
11. (i) 'वाक्यविभागस्य चार्थग्रहणात्' न्या० सू० (2/1/61),
(ii) 'वाक्यं पदसमूहः वाक्यत्वं च विशिष्ट्यर्थपरशब्दत्वम्' तं०चि० (शब्दखण्ड)
12. 'वाक्यस्थं तावतोऽर्थस्य तदाहुरभिधायकम्' (वा०प० 2/41)
13. भोजप्रदत्त उदाहरण, शृ० प्र०, रामसुरेश त्रिपाठी कृत संस्कृतव्याकरणदर्शन (पृ० 338 पर उद्धृत)
14. वा०प० (1/73)
15. वही, (2/15-16)
16. 'ते क्रमादनुगम्यन्ते न वाक्यमभिधायकम्' (वा०प० 2/49)
17. 'वर्णानां च पदानां च क्रममात्रनिवेशिनी।
पदाख्या वाक्यसञ्ज्ञा च शब्दत्वं नेष्यते तयोः॥' (वा०प० 2/52)

18. 'तेन वाक्यमित्यवस्तुकमेवेदं अभिलापमात्रम् इति।' (वा०प० 2/50, स्त्रो० वृ०)
19. 'क्रमो हि धर्मः कालस्य' (वा०प० 2/50)
20. श्लो०वा० (7/55)
21. पाश्चात्य भाषाविज्ञान के प्रसिद्ध सिद्धान्त 'Theory of Valance' का मूल प्रतिपाद्य यही है।
22. 'तस्माच्छ्रूयमाणक्रियापदमनुमीयमान क्रियापदं वा वाक्यमेव सर्वव्यवहारेषूपपद्यते' (वही, स्त्रो० वृ०)
23. 'गुणभावेन साकाङ्क्षं तत्र नाम प्रवर्तते।' (वा०प० 2/48)
24. Bharttrihari on sentence, K.A.S. Iyer, The Adyar Library Bulletin, 1980-81
25. 'नियतं साधने साध्यं क्रिया नियतसाधना।' (वा०प० 2/47)
26. 'व्यक्तोपव्यञ्जना सिद्धिरर्थस्य प्रतिपत्तुषु।' (वा०प० 2/18)
27. 'विषयत्वमनापन्नैः शब्दैर्नार्थः प्रकाशते।
न सत्तयैव तेऽर्थानामगृहीताः प्रकाशकाः॥' (वा०प० 1/56)
28. न्यायकोश - 'आनन्त्य' एवं 'व्यभिचार' के अन्तर्गत।
29. महाभाष्य, पस्पशाह्निक - पृ० 62 से 64
30. 'पदानां रूपमर्थो वा वाक्यार्थादेव जायते।' (वा०प० 1/26 की स्त्रो० वृ० में संग्रह के नाम से उद्धृत)
31. 'व्यज्यमाने तथा वाक्ये वाक्याभिव्यक्तिहेतुभिः।
भागावग्रहरूपेण पूर्वं बुद्धिः प्रवर्तते॥' (वा०प० 1/90)
32. 'यथैक एव सर्वार्थप्रत्ययः प्रविभज्यते।
दृश्यभेदाऽनुकारेण वाक्यार्थानुगमस्तथा।' (वा०प० 1/216)
33. वा०पा० (2/8) एवं, तथैवैकस्य वाक्यस्य निराकाङ्क्षस्य सर्वतः।
शब्दान्तरैः समाख्यानं साकाङ्क्षैरनुगम्यते॥ (वा०पा० 2/9)
34. वा०प० (1/51-52)
35. 'ब्राह्मणार्थो यथा नास्ति कश्चिद् ब्राह्मणकम्बले।
देवदत्तादयो वाक्ये तथैव स्युरनर्थकाः॥' (वा०प० 2/14)
36. विस्तृत वर्णन हेतु द्रष्टव्य - वाक्यार्थविवेचनम्, श्री धनुर्धर झा, पृ० 60
37. 'बुद्ध्यर्थदेव बुद्ध्यर्थे जाते तदपि दृश्यते' (वा०प० 3/333)
38. 'बुद्धिशब्दौ प्रवर्तते यथा भूतेषु वस्तुषु।
तेषामन्येन तत्त्वेन व्यवहारो न विद्यते॥' (वा०प० 3/7/109)
39. 'यथानुपूर्वी नियमो विकारे क्षीरबीजयोः।
तथैव प्रतिपत्तुणां नियतो बुद्धिषु क्रमः॥' (वा०प० 1/91)

40. वा०प० 2/77-87 तक; "ते सर्वे न प्रकल्पेरन् पदम् चेत्स्यादवाचकम्।" (2/87)
41. 'न लक्षणेन पदकारा अनुवर्त्याः। पदकारैर्नाम लक्षणमनुवर्त्यम्।।' (म०भा० 3/1/109)
42. 'उपादायापि ये हेयास्तानुपायान् प्रचक्षते।' (वा०प० 2/38)
43. वा० प० (2/221-226)
44. Modern - Linguistics - S.K. Verma & N. Krishnaswamy, page - 141-42
45. आधुनिक भाषाविज्ञान, भोलानाथ तिवारी, पृ० 92
46. Syntax: A Linguistic introduction to sentence structure - Miller & Brown, Page-47
47. विस्तृत विश्लेषण हेतु देखें - Syntax and semantics : 13th Part, Edited by Edith A. Moravcsik & Jessica R. Wirth, Page-8-9
48. Ibid page - 10-12
49. Syntax : A linguistic introduction to sentence structure - Miller and Brown
50. Ibid.
51. Modern Linguistics : S.K. Verma, & N. Krishnaswamy, page -90
52. काव्यप्रकाश 4.100 - "लिखन्नास्ते भूमिं बहिरवनतः प्राणदयितः।"
53. Modern Linguistics - S.K. Verma and N. Krishnaswamy, page-103
54. आधुनिक भाषाविज्ञान - भोलानाथ तिवारी, पृ० 108
55. Chomsky : Selected Readings, Ed. by T.P.B. Allen and Paul Van Buren, Page-42
56. आधुनिक भाषा विज्ञान - भोलानाथ तिवारी, पृष्ठ-189
57. 'Putting it differently, transformational analysis brings out the fact that negatives and interrogatives (etc.) have fundamentally the same 'structure' and it can make use of this fact to simplify the description of (English) Syntax.' Chomsky: Selected Readings, Ed. T.P.B. Allen, P.V. Brown, Page-42
58. Modern Linguistics - S. K. Verma, N. Krishnaswamy, page 154
59. Ibid., page - 157
60. वा०प० (2/92)
61. 'नित्याः शब्दार्थसम्बन्धाः', (वा०प० 1/23)
62. 'It represented a land mark in the history of theoretical linguistics since it demonstrated that the facts of language could not be explained in any significant way within the framework of the linguistic theories that were popular in the forties and early fifties.' (Modern Linguistics - S.K. Verma & N. Krishnaswamy P.152)
63. 'There are no meanings of words, apart from human participants in a social context.' (From 'Papers in linguistics - 1934-51' page 225)

cited in *Modern linguistics* p. 297

64. *Modern Linguistics* Verma & Swamy, page-299
65. विस्तार हेतु - आधुनिक भाषाविज्ञान - भोलानाथ तिवारी, पृष्ठ 139 देखें
66. Halliday & Stevens - Page - 28, Mc Intosh
67. विस्तृत विवरण हेतु - 'आधुनिक भाषाविज्ञान' डॉ० भोलानाथ तिवारी, पृ० 141
68. वही
69. भाषा विज्ञान तथा भाषा शिक्षण, में संकलित श्री वी०आर० जगन्नाथन् का लेख - पृ० 139
70. 'भाषा शिक्षण तथा भाषाविज्ञान' में संगृहीत रमानाथ सहाय का लेख (अन्य भाषा शिक्षण में टैग्मीमिक्स की उपयोगिता), पृ० 97
71. *Modern Linguistics* - Verma & Swamy, page - 311
72. कुमारसम्भवम् - (5/7)
73. ऋग्वेदसंहिता - (3/61/1)
74. 'राजशेखर'
75. विस्तृत विवरण हेतु आधुनिक भाषाविज्ञान - भोलानाथ तिवारी, पृ० - 113-114
76. कादम्बरी, मङ्गलपद्य 3
77. भाषा विज्ञान तथा भाषा शिक्षण में संगृहीत लेख - रमानाथ सहाय (अन्य भाषा शिक्षण में Tagmemics की उपयोगिता), पृ० 106-107
78. विस्तार हेतु आधुनिक भाषा विज्ञान, भोलानाथ तिवारी, पृ० 122
79. *Universals in Linguistic theory*, Bach & Harms

तृतीय अध्याय

वाक्यार्थ

(क) भारतीय-सिद्धान्त

‘वाक्यार्थ’ भारतीय-चिन्तन-पद्धतियों के प्रमुख विवेच्य एवं वैमत्यपूर्ण विषयों में से एक रहा है। इस विषय पर वैयाकरणों सहित लगभग सभी आस्तिक एवं नास्तिक दर्शन-प्रस्थानों ने अपने सूक्ष्म तथा मौलिक विचार प्रस्तुत किये हैं। इनमें पारस्परिक खण्डन-मण्डन, आक्षेप-प्रत्याक्षेप तथा प्रश्न-प्रतिप्रश्न की अति-समृद्ध परम्परा रही है। यह परम्परा प्राचीन-भारतीय विद्वानों की सूक्ष्म तथा संदेहरहित विचार-पद्धति से भलीभाँति परिचित करा देती है। इन दार्शनिकों के वाक्यार्थ-सम्बन्धी चिन्तन अपनी-अपनी दार्शनिक मान्यताओं के परिप्रेक्ष्य में किये गये हैं। यही कारण है कि इनके चिन्तन में अनेक स्थूल एवं सूक्ष्म भेद उभर कर सामने आये हैं। आचार्य भर्तृहरि के अनुसार -

अविकल्पेऽपि वाक्यार्थे विकल्पा भावनाश्रयाः।^१

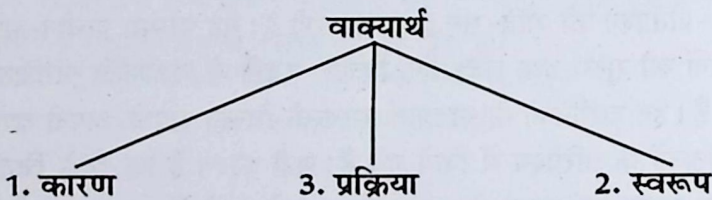
आचार्यों ने प्रायः ‘वाक्यार्थ’ को ‘शाब्दबोध’ पद से निर्दिष्ट किया है। उच्चरित एवं सार्थक शब्द समूह (वाक्य) को भली प्रकार सुनकर श्रोता को किसी विशिष्ट अर्थ की प्रतीति होती है, जो वाक्य के घटक शब्दों के अर्थ से अतिरिक्त होती है। यही प्रतीति (बोध) ‘शाब्द-बोध’ अथवा ‘वाक्यार्थ बोध’ कहलाती है। वाक्यार्थ की इस प्रक्रिया के सम्बन्ध में सभी विद्वान् एकमत हैं।^२ नैयायिक जगदीश के अनुसार -

वाक्यभावमवाप्तस्य सार्थकस्यावबोधतः।

सम्पद्यते शाब्दबोधः।^३

बौद्धों⁴ के अतिरिक्त सभी भारतीय-दार्शनिक शब्द से प्राप्त इस ज्ञान को प्रत्यक्ष एवं अनुमिति दोनों प्रकार के ज्ञानों से भिन्न मानते हैं।⁵ उपर्युक्त दोनों अनुभवों में समाविष्ट न हो सकने के कारण उन्होंने इस बोध को स्वतन्त्र 'शब्द-प्रमाण' के रूप में स्वीकार किया है। भारतीय-आस्तिक परम्परा लौकिक जगत् में आप्त पुरुषों के वाक्य तथा इसके अतिरिक्त सम्पूर्ण-वैदिक-वाङ्मय को शब्द प्रमाण के अन्तर्गत रखकर उसे परम प्रमाण मानती है।⁶ वैदिक मन्त्रों के अर्थों के प्रति भारतीयों की संवेदनशीलता तथा उत्कट जिज्ञासा भी वाक्य तथा वाक्यार्थ सम्बन्धी चर्चाओं की प्रचुरता की प्रमुख प्रयोजक रही है क्योंकि मन्त्र वाक्यात्मक हैं तथा वाक्य का स्वरूप समझे बिना मन्त्रों का अर्थ या उनका किसी कर्म विशेष में विनियोग जानना दुष्कर है।

वाक्यार्थ सम्बन्धी भारतीय चिन्तन जिन प्रमुख दिशाओं में प्रवृत्त हुआ है, उन्हें निम्नवत् देखा जा सकता है।



वाक्यार्थ के ऊहापोह की इन तीन दिशाओं का क्रमशः वर्णन प्रस्तुत किया जा रहा है। विद्वानों के मध्य वाक्यार्थ के कारण को लेकर पर्याप्त मतभेद है।⁷ वैयाकरण वाक्य को अवयवरहित अतएव अखण्ड मानते हैं। यद्यपि क्रमवान् ध्वनियों से अभिव्यक्त होने के कारण उच्चारण दशा में यह क्रमवान् सा प्रतीत होता है। अखण्ड वाक्य के श्रवण के बाद वक्ता की बुद्धि में स्थित स्फोट जागृत होता है तथा उससे शाब्दबोध प्रतिभासित हो जाता है, अतः वैयाकरण वाक्य को ही वाक्यार्थ का कारण स्वीकार करते हैं। अभिहितान्वयवाद के अनुसार सुने गये पद पहले अपने स्वतन्त्र एवं अन्वयरहित अर्थों को प्रकट करते हैं। उसके बाद वे पदार्थ परस्पर अन्वित (सम्बद्ध) होकर वाक्यार्थ का बोध कराते हैं। अतः उनके अनुसार पदार्थ ही वाक्यार्थ के कारण

हैं। यहाँ उल्लेखनीय है कि नैयायिक भी पदों से स्वतन्त्र अर्थ का ही अभिधान मानते हैं परन्तु अभिहितान्वयवादियों से उनके सूक्ष्म मतभेद हैं, जो यथास्थान विवेचित होंगे। अन्विताभिधानवादी मीमांसक पदों को ही वाक्यार्थ का कारण मानते हैं। इनके अनुसार वाक्यगत पदों से हमेशा परस्पर अन्वित अर्थ ही आता है। परस्पर विशिष्ट पदार्थ ही वाक्यार्थ हैं।

मतवैभिन्न्य का दूसरा आधार वाक्यार्थ का स्वरूप है। वाक्यार्थ के स्वरूप को प्रथमतः दो प्रकारों का मान सकते हैं - 1. संसर्गात्मक वाक्यार्थ एवं 2. भेदात्मक वाक्यार्थ।⁸ पहले पक्ष के अनुसार सभी वाक्यगत पद संसृष्ट अर्थात् परस्पर सम्बन्धित होकर एक विशिष्ट अर्थ (वाक्यार्थ) का अभिधान करते हैं, जबकि भेदात्मक- वाक्यार्थवादियों के मत में वाक्यगत पदार्थ एक दूसरे को परस्पर से व्यावृत्त अथवा भिन्न करते हैं। बौद्धों के अतिरिक्त सभी विचारक वाक्यार्थ को संसर्गात्मक ही मानते हैं। बौद्धों के अनुसार वाक्य में प्रत्येक शब्द अपोहात्मक अर्थात् तदिभन्न-भिन्न अर्थ को देता हुआ अन्य पदों के अर्थों से अपना भेद भी करता है।⁹ इस प्रसङ्ग में यह ज्ञातव्य है कि प्राचीनकाल में भी वाजप्यायन वाक्यार्थ को 'संसर्गात्मक' एवं व्याडि 'भेदात्मक' मानते थे।¹⁰ इन मान्यताओं के मूल में एक सुदीर्घ परम्परा के प्रमाण मिलते हैं।

'शब्द' के सम्बन्ध में बौद्ध दार्शनिकों का 'अपोह-सिद्धान्त' भारतीय विचारजगत् में महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है। इसके अनुसार शब्दों के द्वारा जो मानसिक-आकृतियाँ पहचानी जाती हैं, वे वास्तविक नहीं अपितु शब्दप्रदत्त बोध होती हैं, जो वस्तुशून्य अर्थात् अवास्तविक होती हैं - "विकल्पयोनयः शब्दाः विकल्पाः शब्दयोनयः।"¹¹

शब्द वस्तु के केवल उस अंश को द्योतित करता है जो अन्य वस्तुओं से भिन्न (अपोह) होता है। द्योत्य या सङ्केत्य वस्तु की स्वतः अखण्ड सत्ता है तथा शब्द वस्तु के जिस खण्ड (अंश) को द्योतित करता है, वह तो मानस-जगत् का उत्पादन मात्र ही है।¹² इस सिद्धान्त के अनुसार कोई शब्द अर्थ का वाचक नहीं होता तथा कोई भी अर्थ शब्द द्वारा वाच्य नहीं होता। शब्द केवल अपोहकारी वस्तु है जिसका काम है असंख्य का निराकरण करके एक को रहने देना -

(अपोहः) साध्यते सर्वधर्माणामवाच्यत्वप्रसिद्धये।¹³

क्षणिकतावादी बौद्ध किसी भी नित्य-पदार्थ को नहीं मानते हैं। जाति की नित्यता का खण्डन करके वे उसका कार्य अपोह से सिद्ध कर लेते हैं। जाति जो कार्य सकारात्मक रीति से करती है, वही काम अपोह नकारात्मक रूप से कर लेता है -

व्यवच्छेदोऽस्ति चेदस्य नन्वेतावत् प्रयोजनम्।

शब्दानामिति किं तत्र सामान्येनापरेण वः॥¹⁴

अपोह-सिद्धान्त के प्रतिष्ठापक एवं बौद्ध न्याय के जनक आचार्य दिङ्नाग के अनुसार अपोह-प्रक्रिया का सम्बन्ध उन शब्दों से है, जिनका वाक्य से अपोद्धार किया गया है। वैयाकरणों की तरह वे भी वाक्यार्थ को प्रतिभात्मक मानते हैं। वाक्यार्थ पदार्थों से पहले अस्तित्व में रहता है -

अपोद्दारे पदस्यायं वाक्यादर्थो विवेचितः।

वाक्यार्थः प्रतिभाख्योऽयं तेनादावुपजायते॥¹⁵

बौद्ध-दार्शनिक शब्दावली एवं मन्तव्य दोनों दृष्टियों से भर्तृहरि के ऋणी एवं उनसे प्रभावित हैं। भर्तृहरि से उनका मतभेद इस बिन्दु पर है कि वे प्रतिभा के स्वरूप को भी अपोहात्मक ही मानते हैं। उनके अनुसार प्रतिभा भी वस्तु को 'अन्यापोह' की प्रक्रिया द्वारा ही व्यक्त करती है।¹⁶ इस प्रकार बौद्ध दार्शनिक वाक्यार्थ सिद्धान्त को भेदपरक ही स्वीकार करते हैं।

बौद्धों के अतिरिक्त प्रायः सभी भारतीय सिद्धान्त वाक्यार्थ को संसर्गपरक ही मानते हैं। वैयाकरणों के सिद्धान्त 'प्रतिभा-वाक्यार्थपक्ष' में संसर्ग का प्रश्न ही नहीं उठता।

यहाँ ध्यातव्य है कि वैयाकरण सिद्धान्त रूप में वाक्य एवं वाक्यार्थ दोनों को बिल्कुल अखण्ड तथा अंशरहित मानते हैं। फिर भी अल्पज्ञानी मनुष्यों को भाषा खण्डशः समझाई जा सके तथा व्याकरणशास्त्र की प्रक्रियाएँ संभव हो सकें; इसलिए वाक्य में वाक्यांश-पद एवं वर्ण आदि की काल्पनिक सत्ताएँ उनको भी मान्य हैं। इसी प्रकार अखण्ड वाक्यार्थ में भी विभिन्न अंशभूत अर्थभाग स्वीकार किये जाते हैं। इन कल्पित अर्थभागों में सम्बन्ध दिखाने के लिए वे भी (एकदेशी सिद्धान्त के रूप में ही सही) संसर्गपक्ष में रखे जा सकते हैं।

वैयाकरण वाक्यार्थ (शाब्दबोध) को 'धात्वर्थमुख्यविशेष्यक' स्वीकार करते हैं। अर्थात् वाक्य में स्थित जो क्रियापद है, उसकी प्रकृति (अर्थात् धातु) का अर्थ ही वाक्यार्थ में प्रधान होता है। वाक्यगत अन्य घटक पद एवं उनके अर्थ 'धात्वर्थ' की अपेक्षा विशेषण या गौण होकर प्रतीत होते हैं। यह बात प्रामाणिक आचार्य यास्क के वाक्य "यत्रोभे भावप्रधाने भवतः"¹⁷ से और दृढ़ होती है। निष्कर्ष यह है कि नाम, आख्यात आदि अनेक पदों का समुदाय जो वाक्य है उससे उत्पन्न होने वाले वाक्यार्थ बोध में धात्वर्थ विशेष्य अर्थात् प्रधान होता है तथा शेष पदों के अर्थ गौण। वैयाकरणों के अनुसार 'रामः पचति' वाक्य का अर्थबोध होगा -

रामाभिन्नकर्तृकः पाकानुकूलो व्यापारविशेषः।

क्रिया पद में कम से कम प्रकृति (धातु) एवं प्रत्यय दो अंश होते हैं। मीमांसक वाक्यार्थ में प्रत्ययार्थ अथवा भावना को मुख्य मानते हैं। इनके अनुसार शाब्दबोध 'आख्यातार्थमुख्यविशेष्यक' होता है। प्रत्यय में दो अंश होते हैं - 1. आख्यात का अंश तथा 2. विशिष्ट (अन्यतम) लकार का अंश। ये दोनों ही अंश भावना का ज्ञान कराते हैं। पहले अंश से 'आर्थी भावना' तथा दूसरे से 'शाब्दी भावना' ज्ञात होती है। इन भावनाओं को ही वे वाक्यार्थ में प्रधान मानते हैं, क्योंकि श्रोता का ध्यानाकर्षण प्रत्ययार्थ से ही होता है। इसके अतिरिक्त कार्य के सम्पादन हेतु साध्य, साधन तथा इतिकर्तव्यता का ज्ञान भी प्रत्ययार्थ के द्वारा ही सम्भव होता है¹⁸ -

भावनैव हि वाक्यार्थः सर्वत्राख्यातवत्तया।

अनेकगुणजात्यादिकारकार्थानुरञ्जिता ॥¹⁹

उनके अनुसार धात्वर्थ भावना (प्रत्ययार्थ) के प्रति गौण है, अतः वाक्य में उसे मुख्य विशेष्य नहीं माना जा सकता -

धात्वर्थः कारकैरेवं गुणभूतोऽवगम्यते²⁰

महर्षि जैमिनि का सूत्र 'तद्भूतानां क्रियार्थेन समाम्नायः'²¹ इसी की ओर संकेत करता है।

ध्यातव्य है कि मीमांसक वाक्य के दो अंश मानते हैं - 1. उद्देश्य एवं 2.

विधेय। उनके अनुसार लौकिक व्यवहारों में चाहे 'विधेय' की प्रधानता होती हो, शाब्दबोध में सदैव भावना ही प्रधान होती है, चाहे वह वाक्य के अनुवाद्य (उद्देश्य) अंश में हो या विधेय अंश में। उदाहरण के लिए 'यजेत स्वर्गकामः' इस वाक्य में 'स्वर्ग' पद वाक्य के विधेय अंश में है परन्तु 'यजेत' पद में स्थित भावना शाब्दबोध एवं शास्त्रीय दोनों दृष्टियों से प्रधान है।²² मीमांसकों के चिन्तन की सूक्ष्मता इस उदाहरण से स्पष्टतया सिद्ध है। अस्तु, मीमांसकों के अनुसार 'रामः ओदनं पचति' इस वाक्य का बोध इस प्रकार का होगा -

ओदनरूपकर्मनिष्ठपाकजनकरामरूपकर्तृनिष्ठवर्तमानकालिकी भावना।

नैयायिकों के अनुसार प्रत्येक व्यापार के मूल में किसी चेतन वस्तु का नियन्त्रण आवश्यक होता है। वाक्य में सामान्यतः वही प्रधान हुआ करता है, क्योंकि कर्त्ता एवं क्रिया के बीच अन्वयव्यतिरेक²³ सम्बन्ध होता है। 'रथो गच्छति' आदि वाक्य लाक्षणिक हैं, इनमें भी कोई चेतन अधिष्ठाता ही बोध्य है।²⁴ वाक्य में कर्त्ता पूर्ण स्वतन्त्र होता है तथा उसे अपने अस्तित्व (अर्थात् कर्तृत्व) के लिए आख्यातादि पदों की अपेक्षा नहीं होती। अगर कर्त्ता को क्रिया पद (आख्यात) की आवश्यकता अनिवार्य रूप से होती तो 'देवदत्तः पक्ता' इस वाक्य में 'देवदत्तः' कर्त्ता सिद्ध नहीं हो पाता।²⁵ ऐसे प्रसङ्गों में हम क्रिया का अध्याहार करके काम नहीं चला सकते, क्योंकि यह पद्धति सर्वथा निर्दोष नहीं है। उदाहरण के लिए 'त्रयः कालाः' इस विशिष्ट वाक्य में 'सन्ति' इस सामान्य क्रिया के वाचक पद का अध्याहार नहीं कर सकते, क्योंकि तीनों कालों में वर्तमान का बोध होना असम्भव ही है।²⁶ 'पण्डितः चैत्रः' इस वाक्य का बोध 'पण्डिताभिन्नः चैत्रः' के रूप में ही होता है, न कि 'व्यापार' अथवा 'भावना' के रूप में। इन उपर्युक्त तर्कों के आधार पर नैयायिकों ने 'प्रथमान्तार्थमुख्यविशेष्यकशाब्दबोध' को स्वीकार किया है। इस प्रसङ्ग में 'प्रथमान्तार्थ' से केवल कर्त्ता का अर्थ नहीं समझा जाता। न्याय-शास्त्र के अनुसार शाब्दबोध में प्रधान वही माना जाता है, जो शब्द प्रथमा विभक्ति में प्रयुक्त हुआ हो। भले ही आन्तरिक संरचना (Deep Structure) में वह कर्म हो। यहाँ तक कि भाववाच्य में भाव की ही प्रमुखता से प्रतीति होती है²⁷ -

1. वाक्य - रामः ओदनं पचति। (कर्तृवाच्य)

- शाब्दबोध - ओदनकर्मकपाकानुकूलकृतिमान् रामः।
 2. वाक्य - रामेण ओदनः पच्यते। (कर्मवाच्य)
 शाब्दबोध - रामनिष्ठकृतिजन्यपाकजन्यफलशाली ओदनः।
 3. वाक्य - रामेण सुप्यते। (भाववाच्य)
 शाब्दबोध - रामवृत्तिकृतिजन्यः स्वापः।

इस प्रकार नैयायिक धात्वर्थ, भावना आदि सभी तत्त्वों को प्रथमा विभक्ति युक्त पद के अर्थ के साथ गौण भाव से अन्वित मानते हैं। शाब्दबोध विषयक न्यायशास्त्रीय मन्तव्य मुक्तावली, वाक्यवृत्ति, तर्कप्रकाश, तर्कामृत एवं पद-वाक्यरत्नाकर आदि शास्त्रीय ग्रन्थों में उपलब्ध हैं।

वाक्यार्थ बोध के कारण एवं स्वरूप के अतिरिक्त विद्वानों के मध्य मतभेद का एक और आधार इसकी 'प्रक्रिया' है। प्रक्रिया से तात्पर्य है - वाक्य के सुनने तथा वाक्यार्थ बोध के बीच होने वाला व्यापार।

वैयाकरणों के अनुसार वक्ता प्राकृतध्वनि का उच्चारण करता है। प्राकृत-ध्वनि बाद में उत्पन्न होने वाली वैकृत-ध्वनियों की सहायता से श्रोता तक पहुँचाई जाती है। प्राकृत ध्वनि से स्फोटरूपी अखण्ड वाक्य अवधारित (निश्चित) होता है। इसी वाक्य से वाक्यार्थ एकात्मक रूप में भासित होता है। यह वाक्यार्थ प्रतिभा-स्वरूप होता है। प्रतिभा चूँकि एक अखण्ड मानसिक विचार के रूप में उद्बुद्ध एवं द्योतित होती है, अतः इसका अंशतः निर्देश एवं प्रक्रिया का अवधारण (निश्चय) दोनों दुःशक हैं। यहाँ तक कि श्रोता स्वयं भी इसका इदमित्थं निरूपण नहीं कर सकता -

इदं तदिति सान्येषामनाख्येया कथञ्चन।

प्रत्यात्मवृत्ति सिद्धा सा कत्रापि न निरूप्यते।²⁸

वैयाकरणों के अनुसार शब्द एवं अर्थ दोनों वैचारिक धरातल पर स्थित (= बौद्ध) हैं। यही कारण है कि उनका विभक्त-एकाङ्गी ज्ञान तथा उनके अवबोध की प्रक्रिया का निश्चय असम्भव सा है। व्याकरणशास्त्र के प्रक्रिया ग्रन्थों में किये गये प्रकृतिप्रत्ययादि विभाग काल्पनिक हैं। ये विभाग उन प्रारम्भिक ज्ञान वाले व्यक्तियों की सुविधा के लिए हैं जो वाक्य का अखण्ड

रूप में ग्रहण नहीं कर पाते। शाब्दबोध के प्रसङ्ग में केवल उच्चारण एवं श्रवण प्रक्रिया का ही निर्धारण एवं निरूपण किया जा सकता है। उच्चारण के पहले एवं सुनने के बाद की प्रक्रिया का वर्णन दुःशक है।

श्री विश्वनाथतर्कपञ्चानन ने नैयायिकों द्वारा स्वीकृत शाब्दबोध की सूत्रात्मक सूचना निम्नवत् दी है -

पदज्ञानं तु करणं द्वारं तत्र पदार्थधीः।

शाब्दबोधः फलं तत्र शक्तिधीः सहकारिणी।²⁹

इनके अनुसार वाक्यार्थ बोध की प्रक्रिया में पदों का श्रवण सबसे आवश्यक कारण होता है। सुने गये पदों से प्राप्त पदार्थों का स्मरण अवान्तर-व्यापार होता है। पदों (शक्त) की पदार्थ (शक्य) जनन में सिद्ध क्षमता को शक्ति कहते हैं। पदों के इस सामर्थ्य का ज्ञान शाब्दबोध का सहकारी (सहायक, गौण) कारण होता है। प्राचीन नैयायिक शक्ति का स्वरूप ईश्वर की इच्छा, जबकि नव्य नैयायिक इसे इच्छा मात्र मानते हैं। पदज्ञान के बाद शक्तिज्ञान की सहायता से जिन पदार्थों का स्मरण होता है वे एक दूसरे से सम्बद्ध नहीं होने के कारण एक दूसरे की आकाङ्क्षा रखते हैं। यही पारस्परिक आकाङ्क्षा उन्हें एक विशेष प्रकार के संसर्ग में बाँधती है ताकि वे निराकाङ्क्ष हो सकें। इस विशिष्ट संसर्ग को नैयायिक 'संसर्गमर्यादा' कहते हैं -

शाब्दबोधे चैकपदार्थेऽपरपदार्थस्य संसर्गः संसर्गमर्यादया भासते।³⁰

'मर्यादा' का अर्थ मानव स्वभाव सिद्ध तथ्य से लेना चाहिए अर्थात् यह सम्बन्ध भाषा के क्षेत्र में प्रत्येक मनुष्य स्वभाव से ग्रहण कर लेता है - ऐसी मर्यादा है। संसर्गमर्यादा आकाङ्क्षा का ही एक रूप है। आकाङ्क्षा पदों में होती है, जबकि संसर्गमर्यादा पदार्थों में होती है।³¹ वाक्य में होने वाला अन्वय संसर्गमर्यादा के अधीन होता है। नैयायिकों तथा अभिहितान्वयवादियों में प्रमुख मतभेद यह है कि नैयायिकों के अनुसार पदों के माध्यम से अन्वयरहित पदार्थों का स्मरण होता है, जबकि भाट्ट मीमांसकों के अनुसार यह बोध स्मृति एवं अनुभव दोनों से विलक्षण होता है।³² दोनों में समानता यह है कि दोनों अन्वयरहित पदार्थों की उपस्थिति पदों से मानते हैं।

नैयायिकों के अनुसार उपर्युक्त प्रक्रिया स्वीकार करने पर अत्यन्त लाघव होता है, जैसे -

1. अभिहितान्वयवादियों की तरह पदार्थों के पारस्परिक अन्वय के लिए लक्षणा या तात्पर्या नामक किसी अलग शक्ति का आश्रय नहीं लेना पड़ेगा। उपर्युक्त प्रक्रिया में वाक्यार्थ को अभिधा द्वारा प्राप्त दर्शाया गया है।
2. प्राभाकर मीमांसकों की तरह पदार्थों के मध्य अन्वय की शक्ति को पदार्थों में अन्तर्निहित मानने की आवश्यकता नहीं पड़ेगी। इससे पदार्थ बोध की प्रक्रिया को वाक्यार्थ बोध तक खींचने की क्लिष्ट-कल्पना से मुक्ति मिल जायेगी।
3. वैयाकरण वाक्यार्थ बोधन की शक्ति वाक्य में मानते हैं। नैयायिकों के अनुसार यह बात प्रत्यक्ष-विरुद्ध है। प्रकृत पक्ष मानने पर यह दोष नहीं आयेगा।

इस प्रकार नैयायिकों ने अपने मत को लाघवपूर्ण एवं सबसे निरापद बताया है।

मीमांसा-शास्त्र के दोनों सम्प्रदायों अभिहितान्वयवाद एवं अन्विताभिधानवाद के मध्य शाब्दबोध की प्रक्रिया को लेकर पर्याप्त मतभेद हैं। अग्रिम पृष्ठों में इन मतों की मूल अवधारणाएँ तथा भर्तृहरि द्वारा प्रस्तुत इनके प्रमुख मत तथा उनके खण्डन प्रस्तुत किये जा रहे हैं-

अभिहितान्वयवाद : मूल अवधारणाएँ तथा भर्तृहरि की प्रस्तुति

मीमांसा शास्त्र में वाक्य एवं वाक्यार्थ सम्बन्धी सूक्ष्म तथा विशद चर्चाएँ बहुलता से प्राप्त होती हैं। यही कारण है कि इसकी प्रसिद्धि वाक्यशास्त्र के नाम से भी है। इस प्रस्थान में दो सम्प्रदाय अत्यन्त प्रसिद्ध हैं - 1. अभिहितान्वयवाद एवं 2. अन्विताभिधानवाद। वाक्यार्थ के अतिरिक्त भी इन दोनों के बीच अनेक दार्शनिक विषयों पर मतभेद प्राप्त होते हैं। अस्तु, सबसे पहले अभिहितान्वयवाद के सम्बन्ध में चर्चा प्रस्तुत की जा रही है -

मूल अवधारणाएँ

अभिहितान्वयवाद के प्रतिष्ठापक एवं समर्थक श्लोकवार्तिककार श्री कुमारिलभट्ट तथा उनके अनुयायी पार्थसारथिमिश्र इत्यादि हैं। इनके अनुसार वाक्य पदघटित होता है। पदों के अर्थ अभिधा-शक्ति से प्राप्त (=वाच्य, अभिहित) होते हैं। अभिहित पदार्थों का पारस्परिक सम्बन्ध (अन्वय) आकाङ्क्षा, योग्यता एवं सन्निधि जैसे तत्त्वों की सहायता से होता है। इस मत में पदार्थों का अभिधान (मुख्यार्थ का बोध) चूँकि अन्वय (संसर्ग) से पहले होता है, अतः इसे अभिहितान्वयवाद कहते हैं। पदों की अभिधाशक्ति उनके अर्थ बोधन में ही क्षीण हो जाती है³³ अतः उससे पदार्थों के पारस्परिक सम्बन्ध का ज्ञापन नहीं हो सकता। पदार्थों का अन्वय अभिधा से अतिरिक्त अन्य शक्ति (लक्षणा) के द्वारा माना जाता है। इस प्रकार इस मत में पदार्थ को अभिधेय तथा वाक्यार्थ को लक्ष्य स्वीकार किया जाता है -

वाक्यार्थो लक्ष्यमाणो हि सर्वत्रैवेति नः स्थितिः।³⁴

पदार्थ पद के द्वारा वाच्य होते हैं तथा वाक्यार्थ पदार्थों के द्वारा लक्ष्य-

पदार्था एव वाक्यार्थ इत्यथः सङ्गतिशालिनः।

आचक्षतेऽभिधीयन्ते पदैस्ते च तथाविधाः॥

मीमांसक अपने पक्ष के समर्थन में सूत्रकार जैमिनि तथा भाष्यकार शबरस्वामी को भी उद्धृत करते हैं -

1. 'तद्भूतानां क्रियार्थेन समाम्नायोऽर्थस्य तन्निमित्तत्वात्'।³⁵

2. 'पदानि स्वं स्वमर्थमभिधाय निवृत्तव्यापाराणि; अथेदानीं पदार्था अवगताः सन्तः वाक्यार्थमवगमयन्ति।'।³⁶

अभिहितान्वयवाद सिद्धान्त का प्रमुख प्रतिपक्षी 'अन्विताभिधानवाद' है। इसके अनुसार पदों के अर्थ परस्पर अन्वित दशा में ही प्राप्त होते हैं। अतः अन्वय के लिये किसी अतिरिक्त शक्ति को मानने की आवश्यकता नहीं पड़ती। अन्विताभिधानवाद के खण्डन में भाट्ट मीमांसक निम्नोक्त तर्क देते हैं -

- (i) परस्पर अन्वित (सम्बद्ध) दशा में अर्थों की प्राप्ति मानने पर पदों के गुण, क्रिया, जाति, द्रव्य आदि अर्थ मिश्रित अवस्था में प्राप्त हाने चाहिये। जबकि ये अर्थ हमें अलग-अलग भी प्राप्त होते हैं। फलतः इस पक्ष को मानने में प्रत्यक्ष का अपलाप होता है।
- (ii) यदि वाक्य के सभी पद परस्पर जुड़े अर्थों को प्रदान करें, तो जितने पद होंगे उतने वाक्यार्थ भी होने लगेंगे। अतः प्रत्येक पद में वाक्य कहलाने की क्षमता हो जायेगी एवं अनेक वाक्य स्वीकार किये जाने लगेंगे।
- (iii) लोक व्यवहार के द्वारा शक्तिग्रह के समय बालक अन्वयरहित अर्थ का ही ग्रहण करता है। यदि ऐसा नहीं होता तो वह पदों का आवाप-उद्वाप करने में समर्थ नहीं हो पाता।
- (iv) अन्विताभिधानवादी एकमात्र अभिधाशक्ति के द्वारा दो कार्य (क). पदार्थ एवं (ख). वाक्यार्थ का अभिधान मानते हैं। यह बात न्यायविरुद्ध है।³⁷

भाट्ट मीमांसकों के अनुसार वाक्यार्थबोध पदार्थबोध के बाद ही हो पाता है, अतः दोनों में कार्यकारण भाव मानने में कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिए-

पदार्थानाञ्च सामर्थ्यं गम्यमानमपहृतम्।

आनन्तर्याद्धि वाक्यार्थस्तद्देतुत्वं न मुञ्चति।³⁸

जैसे काष्ठ का प्रयोजन अन्ततः पाक क्रिया की सिद्धि ही है तथापि काष्ठ 'पाक' का साक्षात् कारण नहीं है। इसी प्रकार पद भी यद्यपि वाक्यार्थ के लिए ही उच्चरित होते हैं पर वाक्यार्थ का बोध साक्षात् नहीं कराते। जैसे लकड़ी अग्नि के माध्यम से भोजन पकाती है, इसी प्रकार 'पद' पदार्थों के द्वारा वाक्यार्थ का बोध कराते हैं। इस प्रकार पदार्थ ही वाक्यार्थ के अव्यवहित कारण हैं।³⁹

पदों से सामान्य पदार्थों का ज्ञान होता है तथा आकाङ्क्षा आदि के द्वारा

अन्वय होने पर विशिष्ट अर्थ की प्राप्ति होती है।⁴⁰ यही विशिष्ट अर्थ वाक्यार्थ होता है।

लक्षणा के लिए मुख्यार्थबाध आवश्यक है। अभिहितान्वयवादी इसका कारण तात्पर्य की अनुपपत्ति मानते हैं। पदों का अन्वयरहित-स्वतन्त्र अर्थ श्रोता द्वारा चाहे गये विशिष्ट अर्थ की पूर्ति नहीं करता - फलतः पदार्थ अनुपपन्न हो जाता है। पदार्थों में अन्वय के द्वारा विशिष्ट अर्थ की प्राप्ति लक्षणा शक्ति से होती है। इससे वक्ता का तात्पर्य पूरा हो जाता है तथा अनुपपत्ति का निवारण हो जाता है।⁴¹ पार्थसारथिमिश्र की निम्नोक्त कारिका अभिहितान्वयवाद को स्पष्टतः प्रतिपादित कर देती है -

“तस्मान्न वाक्यं न पदानि साक्षाद् वाक्यार्थबुद्धिं जनयन्ति किन्तु।

पदस्वरूपाभिहितैः पदार्थैः संलक्ष्यतेऽसाविति सिद्धमेतत्॥”⁴²

इस सिद्धान्त की मूल अवधारणाओं से परिचय के बाद हम देखते हैं कि आचार्य भर्तृहरि ने इसे किस प्रकार प्रस्तुत किया है -

भर्तृहरि द्वारा की गयी प्रस्तुति

आचार्य भर्तृहरि कुमारिल भट्ट एवं प्रभाकर मिश्र आदि मीमांसकों से न्यूनतम तीन शताब्दी पूर्ववर्ती हैं। उनके द्वारा प्रस्तुत मीमांसा के सिद्धान्त अत्यन्त प्राचीन एवं अपेक्षाकृत प्रारम्भिक हैं। ध्यातव्य है कि भर्तृहरि ने कहीं भी ‘अभिहितान्वयवाद’ या ‘अन्विताभिधानवाद’ की नामग्राह चर्चा नहीं की है। यह विभाजन वाक्यकाण्ड के टीकाकार पुण्यराज ने किया है। परवर्ती सभी विद्वानों ने इसका अनुसरण भी किया है। इस परम्परा के अनुसार भर्तृहरि ने अभिहितान्वयवाद सम्बन्धी तीन वाक्यार्थ-सिद्धान्त प्रस्तुत किये हैं। इनका विवरण अग्रिम पङ्क्तियों में प्रस्तुत किया जा रहा है -

(i) संसर्ग-वाक्यार्थ

संसर्ग वाक्यार्थ पक्ष के अनुसार पदों से अन्वयरहित सामान्य अर्थ का अभिधान होने के बाद वाक्यगत अन्य पदार्थों से उनका अन्वय होता है। अन्वय द्वारा एक विशिष्ट अर्थ आता है, जिसे हम वाक्यार्थ की सज्जा दे देते हैं -

सम्बन्धे सति यत्त्वन्यदाधिक्यमुपजायते।

वाक्यार्थमेव तं प्रादुरनेकपदसंश्रयम्।¹³

इस प्रकार ये पदार्थ को वाक्यार्थ नहीं अपितु उनके विशिष्ट संसर्ग को वाक्यार्थ मानते हैं। पदों का अर्थ वाक्य में रहने पर भी उतना ही होता है जितना कि उनके वाक्य से अलग होने पर।¹⁴ पदार्थ सामान्य अर्थ होता है तथा जब वह दूसरे सामान्य-पदार्थों से सम्बद्ध होता है तब हमें संसर्गात्मक विशिष्ट-अर्थ (वाक्यार्थ) की प्रतीति होती है।¹⁵

(ii) निराकाङ्क्षपदार्थ-वाक्यार्थ

निराकाङ्क्षपदार्थ-वाक्यार्थवाद के अनुसार 'वाक्यार्थ' वह 'पदार्थ' है जो सभी पदार्थों के साथ अन्वययोग्य तथा सामान्यरूप होता हुआ दूसरे पदार्थों के साथ आने के कारण आकाङ्क्षा रहित एवं विशेष (अर्थ) में विश्रान्त हो गया हो -

कार्यानुमेयः सम्बन्धो रूपं तस्य न दृश्यते।

असत्त्वभूतमत्यन्तमतस्तं प्रतिजानते।¹⁶

इस पक्ष में वाक्य एवं वाक्यार्थ के सम्बन्ध को अनुमान प्रमाण से प्राप्त माना जाता है। 'सामान्य अर्थ वाला पदार्थ विशेष अर्थ में विश्रान्त (पर्यवसित या निराकाङ्क्ष) हो जाता है' - इस कार्य से सम्बन्ध का अनुमान होता है। यह सम्बन्ध संसर्गमूलक नहीं अपितु असत्त्व जैसा होता है। संसर्गवाद की तरह यह पक्ष पदार्थों को साकाङ्क्ष नहीं मानता। यहाँ पदार्थ दूसरे पदार्थों के साथ मिलकर निराकाङ्क्ष हो जाते हैं। यह मत संसर्ग-वाक्यार्थ-पक्ष का एकदेश प्रतीत होता है।

(iii) प्रयोजन वाक्यार्थ

प्रयोजन वाक्यार्थ पक्ष के अनुसार किसी वाक्य में विभिन्न पदों का प्रयोग करते समय वक्ता का जो प्रयोजन होता है - वही वाक्यार्थ है।

अभिधेयः पदस्यार्थो वाक्यस्यार्थः प्रयोजनम्।¹⁷

वाक्यार्थ वक्ता का आशय होता है। यह आशय आकाङ्क्षा अथवा संसर्ग से नहीं अपितु वक्ता के तात्पर्य से जाना जाता है। पद अपने स्वतन्त्र अर्थों को अभिधा के माध्यम से देते हैं, जबकि वाक्यार्थ का निर्धारण (अर्थात् पदों का संसर्गजन्य अर्थ) विवक्षा के आशय से होता है।⁴⁸ यह मत अभिहितान्वयवाद का प्राचीन स्वरूप जान पड़ता है जिसमें तात्पर्यार्थ को वाक्यार्थ के रूप में ग्रहण करते हैं।⁴⁹

अभिहितान्वयवाद की समीक्षा

शब्दों में (तथाकथित) शक्तिग्रहण संवाद के माध्यम से ही होता है। तथा संवाद हमेशा वाक्यात्मक होता है। संवाद के अन्तर्गत हमें वाक्य के अतिरिक्त पद या वर्ण की अलग प्रतीति नहीं होती। ऐसी स्थिति में यदि मीमांसक पद एवं वर्ण को स्वतन्त्र एवं सार्थक इकाई मान लेते हैं तो यह निश्चित रूप से प्रत्यक्ष की उपेक्षा तथा अपलाप है। भर्तृहरि यहाँ सामान्य लौकिक व्यवहार का तर्क देते हैं -

न लोके प्रतिपत्तुणामर्थयोगात् प्रसिद्ध्यः।

तस्मादलौकिको वाक्यादन्यः कश्चिन्न विद्यते।⁵⁰

आचार्य को इस मान्यता पर कड़ी आपत्ति है कि शब्द पहले सामान्य अर्थ को देते हैं तदनन्तर विशेष को। क्योंकि जिस शब्द ने सामान्य अर्थ को देना स्वीकार कर लिया, वह उस अर्थ को छोड़ नहीं सकता। यदि शब्द उस सामान्य अर्थ को छोड़ भी दे तो वह अर्थ कहाँ गया? इसका उत्तर वादी के पास नहीं है।⁵¹

अभिहितान्वयवादी के अनुसार वाक्य का अर्थ पदार्थों से नहीं अपितु उनके संसर्ग नामक तत्त्व से जाना जाता है। इसका अर्थ हुआ कि वाक्यार्थ संसर्ग से प्राप्त होता है शब्द से नहीं। वाक्यार्थ के अशाब्द होने से पदार्थ भी अशाब्द हो जायेगा। ऐसा होने पर शब्द एवं अर्थ का नित्य सम्बन्ध खण्डित हो जायेगा, जो मीमांसकों के भी विरुद्ध है -

अशाब्दो यदि वाक्यार्थः पदार्थोऽपि तथा भवेत्।

एवं सति च सम्बन्धः शब्दस्यार्थेन हीयते।⁵²

इस दोष से बचने के लिए पूर्वपक्षी शब्दों में ही अन्वयशक्ति नहीं मान सकता क्योंकि यह उसके विरोधी अन्विताभिधानवादी का मत है। प्रयोजन को यदि वाक्यार्थ माना जाय तो वाक्यों का पारस्परिक-सम्बन्ध ठीक नहीं बैठेगा।⁵³ प्रयोजन का स्वरूप मानसिक होता है, अतः उसका निश्चय एवं उसके स्वरूप का अवधारण भी असम्भव है। यह वाद केवल श्रोता की दृष्टि से विचार करता है। अभिधान के पूर्व वक्ता के मानसिक जगत् की प्रक्रियाओं का स्पर्श भी नहीं किया गया है। अतः यह मत वस्तुतः एकाङ्गी ही है।

इस प्रकार अभिहितान्वयवाद के अनुसार वाक्यार्थ को सखण्ड एवं लक्ष्य मानना सदोष एवं गौरव-पूर्ण है।

2. अन्विताभिधानवाद : मूल अवधारणाएँ तथा भर्तृहरि द्वारी की गयी प्रस्तुति

अभिहितान्वयवाद के प्रतिपक्षी अन्विताभिधानवाद मत के व्याख्याता श्री प्रभाकर मिश्र हैं। इनका दूसरा नाम 'गुरु' भी है, जिसके आधार पर प्रकृत मत को 'गुरुमत' भी कहा जाता है। इस मत की मूल अवधारणाएँ तथा वाक्यपदीय में इसके सम्बन्ध में की गई चर्चा प्रस्तुत है-

मूल अवधारणाएँ

प्रभाकर वाक्यार्थ का कारण पदों को ही मानते हैं⁵⁴, पदार्थों को नहीं। इनके अनुसार पदार्थ ही वाक्यार्थ हैं; वाक्यार्थ पदार्थ से भिन्न नहीं है -

प्रधानगुणभावेन लब्धान्योन्यसमन्वयान्।

पदार्थानिव वाक्यार्थ सङ्गिरन्ते विपश्चितः॥⁵⁵

पदार्थ पदों से सर्वदा अन्वित (परस्पर सम्बद्ध) रूप में प्राप्त होते हैं। इन अन्वय सहित पदार्थों को ही वाक्यार्थ कहते हैं।

प्रभाकर पदों में दो प्रकार की शक्तियाँ स्वीकार करते हैं।⁵⁶ पहली स्मारिका तथा दूसरी- आनुभाविकी। पद की स्मारिका शक्ति से उसके अन्वयरहित एवं सामान्य अर्थ की प्राप्ति होती है। दूसरी (आनुभाविकी) शक्ति पद के अन्वययुक्त अर्थ का बोध कराती है। इससे भाट्ट-मीमांसकों का यह

आक्षेप निराधार हो जाता है कि अन्विताभिधानवाद में पदों के सामान्य (अनन्वित) अर्थ प्राप्त नहीं होते।

वाक्यार्थ बोध की प्रक्रिया में सबसे पहले हमारे पास पद उपस्थित होते हैं। पदार्थों का बोध तथा वक्ता का तात्पर्य पद ही स्पष्ट करते हैं।⁵⁷ फलतः वाक्यार्थ के बोध का कारण भी इन्हें ही माना जाना चाहिए। पदों की शक्ति तो पदार्थ का ज्ञान कराने मात्र में समाप्त हो जाती है। यदि पदार्थों में परस्पर अन्वय की शक्ति को पदों में न मानें तो अन्वय के लिए दूसरी शक्ति (लक्षणा) स्वीकार करनी पड़ेगी। यह प्रक्रिया गौरवपूर्ण होगी। अतः पदों में स्वार्थ एवं वाक्यार्थ दोनों की समेकित शक्ति माननी चाहिए -

पदैरेवान्वितस्वार्थमात्रोपक्षीणशक्तिभिः।

स्वार्थाश्चेद्बोधिता बुद्धौ वाक्यार्थोऽपि तथा सति।⁵⁸

भाट्टमत में शाब्द-बोध के लिए तीन शक्तियाँ माननी पड़ती हैं। 1. पदों की पदार्थाभिधान शक्ति, 2. पदार्थों की वाक्यार्थ-बोध कराने वाली शक्ति तथा 3. वाक्यार्थ को पुनः पद से सम्बद्ध करने वाली शक्ति। जबकि प्रकृत मत में केवल एक शक्ति (पदों में अन्वित-अर्थ को बताने वाली) से प्रयोजन सिद्ध हो जाता है - 'अन्वयार्थगृहीतत्वान्नान्यां शक्तिमपेक्षते।'

सभी अन्वित पदार्थ एक इकाई रूप वाक्यार्थ के प्रति प्रयोजनवान् होकर गौण होते हैं।⁵⁹ अतः 'अन्वित पदार्थ मानने से वाक्यार्थ भी अनेक हो जायेंगे' यह शङ्का निराधार है -

भूयांसो यद्यपि स्वार्थाः पदानां ते पृथक्-पृथक्।

प्रयोजनतया त्वेकवाक्यार्थं सम्प्रचक्षते।⁶⁰

पदों के समभिव्याहार (साथ-साथ उच्चारण) के समय वे ही पदार्थ परस्पर अन्वित होते हैं जो आकाङ्क्षा-योग्यता तथा सन्निधि से युक्त होते हैं। इस प्रकार विभिन्न गुणीभूत पदार्थों से विशिष्ट एकात्मक प्रधान पदार्थ को ही वाक्यार्थ कहा जाता है -

यद्यदाकाङ्क्षितं योग्यं सन्निधानं प्रपद्यते।

तेन तेनान्वितः स्वार्थः पदैरेवावगम्यते।⁶¹

भर्तृहरि द्वारा की गयी प्रस्तुति

(i) संसृष्टवाक्यार्थवाद

अन्विताभिधानवाद के अन्तर्गत विद्वान् 'आदिपद' तथा 'साकाङ्क्ष एवं पृथक्-पृथक् सभी पदों' को वाक्य मानते हैं। ये विद्वान् संसृष्टवाक्यार्थवादी हैं। इनके अनुसार पदार्थ वाक्य में स्थित अन्य पदार्थों से सम्बद्ध (संसृष्ट, अन्वित) होकर ही अस्तित्व में आते हैं। पूर्वोक्त संसर्गवाद के अनुसार पहले वाक्यस्थित पदों के अन्वयरहित अर्थ आते हैं तत्पश्चात् उनका संसर्ग (अन्वय) होता है। संसर्ग से प्राप्त नवीन एवं विशिष्ट अर्थ ही वाक्यार्थ हैं। जबकि संसृष्टवाद में पदार्थ दूसरे पदों के अर्थों से सम्बद्ध होकर ही प्रतीत होते हैं। अतः पदार्थों का परस्पर भाव ही वाक्यार्थ है। भर्तृहरि दोनों का अन्तर स्पष्ट करते हैं -

पूर्वरथैरनुगतो यथार्थात्मा परः परः।

संसर्ग एव प्रक्रान्तस्तथाद्येष्वर्थवस्तुषु।⁶²

इस मत के अनुसार वाक्यार्थ पहले ही पद से प्रतीत होने लगता है, क्योंकि उसका अर्थ अन्य पदार्थों से संसृष्ट होकर भासित होता है। परन्तु यह वाक्यार्थ चूँकि अस्पष्ट सा होता है, अतः उसे स्पष्ट करने के लिए अन्य पदों का प्रयोग करते हैं - 'व्यक्तोपव्यञ्जना सिद्धिरर्थस्य प्रतिपत्तुषु'⁶³

उदाहरण के लिए 'द्वारम्' शब्द 'द्वारम् पिधेहि' इस सम्पूर्ण वाक्य के अर्थ को स्पष्ट करने में समर्थ है।

प्रत्येक पदार्थ को वाक्यार्थ मानने वाले भी संसृष्ट वाक्यार्थवादी हैं, क्योंकि प्रत्येक पदार्थ अन्य पदार्थों के साथ अन्वित होकर सम्पूर्ण अर्थ को प्रदान करता है -

तेषां तु कृत्स्नो वाक्यार्थः प्रतिभेदं समाप्यते।⁶⁴

(ii) क्रियावाक्यार्थवाद

क्रिया पद को वाक्य मानने वाले विद्वानों के अनुसार 'क्रिया' का अर्थ ही वाक्यार्थ है। इनके अनुसार वाक्य में प्रधानता प्रवृत्ति अथवा निवृत्ति की होती

है। ये दोनों क्रिया के द्वारा ही व्यक्त होती हैं। अतः वाक्य में क्रियापद का अर्थ ही प्रधानता से प्रतीत होता है। शेष नामपदों के अर्थ गौण होने के नाते क्रियार्थ के विशेषण की तरह भासित होते हैं। नाम पदों के न रहने पर भी क्रियार्थ उन्हें आक्षिप्त करके सम्पूर्ण वाक्यार्थ को स्पष्ट कर देता है -

आख्यातशब्दे नियतं साधनं यत्र गम्यते।

तदप्येकं समाप्तार्थं वाक्यमित्यभिधीयते।⁶⁵

ज्ञातव्य है कि क्रिया पदों एवं सञ्ज्ञा पदों में स्वाभाविक-साकाङ्क्ष सम्बन्ध होता है। एक के अनुपस्थित रहने पर दूसरा उसे आक्षिप्त कर लेता है।⁶⁶

यद्यपि नाम पदों के साथ नियत सम्बन्ध होने के नाते क्रिया पद अकेले ही वाक्यार्थ का ज्ञान कराने में समर्थ हैं तथापि क्रिया के अतिरिक्त जो अन्य पद प्रयुक्त किये जाते हैं वे वाक्यार्थ को और स्पष्ट करने के लिए होते हैं -

क्रिया क्रियान्तराद् भिन्ना नियताधारसाधना।

प्रक्रान्ता प्रतिपत्तूणां भेदाः सम्बोधहेतवः।⁶⁷

समीक्षा

अन्विताभिधानवाद पदों के स्वतन्त्र अर्थों को अल्प महत्त्व देते हुए वाक्यार्थ को एक इकाई के रूप में मानता है, इसलिए वैयाकरणों की दृष्टि में अभिहितान्वयवाद की अपेक्षा यह कम दोषपूर्ण है। तथापि वाक्यार्थ बोध की इस प्रक्रिया में भी कुछ तार्किक स्खलन अवश्य आते हैं। वक्ता अर्थों का अन्वय करके उनका अभिधान करता है परन्तु श्रोता के पक्ष में वाक्यार्थ-बोध की क्या प्रक्रिया होती है, इस पर अन्विताभिधानवादियों ने स्पष्ट प्रकाश नहीं डाला है। इस प्रकार यह सिद्धान्त भी एकाङ्गी ही है। दूसरे, यदि पदार्थ-बोधन की शक्ति पद में है तो तर्कसम्मत बात यह है कि वाक्यार्थ बोधन की शक्ति को वाक्य में माना जाये। तीसरे, पदों का अर्थ पदार्थसामान्य (जाति) माना गया है परन्तु इनके अनुसार पदों से विशिष्ट (अन्वित) अर्थ प्राप्त होता है। यह मीमांसा के जाति-अर्थवाद का स्पष्ट व्यभिचार है और वदतो-व्याघात की तरह है। सामान्य एवं विशिष्ट अर्थ को एक साथ देना असम्भव सी बात है। चौथे,

क्रिया जो स्वयं अपूर्ण स्वभाव वाली (साकाङ्क्ष) होती है, वह पूर्ण (अखण्ड, निराकाङ्क्ष) अर्थ कैसे दे सकती है। क्रिया-वाक्यार्थ मानने पर पदों का चार प्रकार से शास्त्रोक्त विभाग खण्डित हो जायेगा -

“चत्वारि पदजातानि सर्वमेतद् विरुध्यते”¹⁶⁸

पाँचवें, इनके अनुसार प्रारम्भिक पद वाक्यार्थ बोध करा सकता है। ऐसा मानने पर ‘रामः गृहं गच्छति’ इस वाक्य में प्रत्येक पद वाक्य बन जायेगा, क्योंकि संस्कृत में तीनों पदों से वाक्य प्रारम्भ हो सकता है। इस प्रकार अव्यवस्था एवं अनिश्चितता व्याप्त हो जायेगी। वास्तविक समस्या यह है कि आदि पद, क्रिया पद अथवा प्रत्येक स्वतन्त्र पदों के अर्थ जो स्वतः अपूर्ण हैं, पूर्ण स्वरूप वाले वाक्यार्थ कैसे कहे जा सकते हैं?⁶⁹ इस प्रकार यह मत भी वाक्यार्थ प्रक्रिया को सन्तोषजनक रीति से समझाने में असमर्थ है।

सम्प्रेषण की प्रक्रिया सदैव द्विपक्षीय हुआ करती है। इस सार्वजनीन तथ्य की इन उपर्युक्त मतों में उपेक्षा हुई है। अतः अखण्ड वाक्य एवं वाक्यार्थ को स्वीकार करते हुए वक्ता एवं श्रोता दोनों की दृष्टि से जब तक इनका विवेचन नहीं होता, तब तक वाक्यार्थ सम्बन्धी समस्याएँ यथावस्थ रहेंगी।

भर्तृहरि-सम्मत-वाक्यार्थ

पूर्वतन अध्याय में अखण्डवाक्य-पक्ष के तीन मत दर्शाये गये हैं - 1. संघातवर्त्तिनी जाति, 2. एक अवयवरहित शब्द तथा 3. बुद्ध्यनुसंहार। इन तीनों मतों में प्रतिभा ही वाक्यार्थ है। भर्तृहरि के अनुसार वाक्यार्थ का ज्ञान कराने की शक्ति केवल एकात्मक-स्फोट रूप वाक्य में है, अन्य में नहीं -

वाक्यरूपस्य वाक्यार्थे वृत्तिरन्यानपेक्षया⁷⁰

अर्थात्, वाक्यार्थ-बोध में वाक्य को अपने अतिरिक्त किसी अन्य निमित्त की आवश्यकता नहीं होती। वह वर्ण, पद, पदार्थ, पदार्थ-संसर्ग अथवा संसर्ग-मर्यादा किसी की भी अपेक्षा नहीं करता। सभी सम्प्रदायों में समान रूप से सम्मत शाब्दबोध के जो आकाङ्क्षादि सहकारी कारण हैं, भर्तृहरि उनकी चर्चा भी नहीं करते क्योंकि उनके अनुसार श्रोता को शाब्दबोध वाक्य से होता है, पदों से नहीं - जिनके लिए इन कारणों की आवश्यकता पड़े। वैयाकरण

वाक्य को स्फोट्यत्मक, वाक्यार्थ को प्रतिभात्मक तथा इन दोनों के सम्बन्ध को अध्यासरूप मानते हैं।⁷¹ प्रतिभा पदार्थ से नितान्त भिन्न है क्योंकि वाक्यगत पदों को पृथक् पृथक् ग्रहण करने पर प्रतिभा का स्वरूप वही नहीं रह जाता -

विच्छेदग्रहणेऽर्थानां प्रतिभाऽन्यैव जायते।

वाक्यार्थ इति तामाहुः पदार्थैरुपपादिताम्।⁷²

वाक्यार्थ की प्रतीति सम्पूर्ण एवं अखण्ड विचार के रूप में एकरस होकर होती है। अतः यहाँ अभिहितान्वय या अन्विताभिधानवादों की चर्चा का कोई अवकाश नहीं है।⁷³ प्रतिभा की व्याख्या मन या बुद्धि के रूप में भी की गई है। चूँकि (वाक्यार्थ) ज्ञान बुद्धि के आकार से आकारित होता है, अतः औपचारिक रूप से वाक्यार्थ को भी प्रतिभा कह देते हैं।⁷⁴

भर्तृहरि के अनुसार हमें प्रतिभा एक चमक (Flash) के रूप में उद्भासित होती है। यही कारण है कि इसका 'इदमित्थम्' (सविकल्पक) वर्णन करना दुःशक है। यहाँ तक कि वक्ता या श्रोता अनुभव करते हुए भी इसका वर्णन नहीं कर सकते। फिर भी प्रतिभा को नकारा नहीं जा सकता क्योंकि वह अन्तःकरण के द्वारा प्रत्यक्षतः अनुभव में आती है-

इदं तदिति सान्येषा मनाख्येया कथञ्चन।

प्रत्यात्मवृत्ति सिद्धा सा कर्त्रापि न निरूप्यते।⁷⁵

प्रतिभा के कारण ही वाक्यगत पदों के अर्थों का सम्मिश्रण होकर एकात्मक प्रतीति होती है। मानो प्रतिभा सभी पदार्थों का विषय बनकर उन्हें अपना एकात्मक स्वरूप दे देती है। भर्तृहरि ने प्रतिभा को केवल शाब्दजगत् तक ही सीमित नहीं रखा है। इसका क्षेत्र मनुष्यों के वाग्व्यवहार के अतिरिक्त समस्त प्राणियों के सभी व्यापारों के मूलकारण तक व्याप्त है। इतने व्यापकतत्त्व की अवहेलना या अपलाप आत्मप्रवञ्चना ही होगी। प्रतिभा अन्तःकरण की प्रवृत्तिरूप होने के कारण परम-प्रमाण है।⁷⁶ सभी सांसारिक व्यवहारों के मूल में प्रतिभा अवश्य रहती है -

इतिकर्तव्यतायां तां न कश्चिदतिवर्त्तते। (वा०प० 2/146)

प्रतिभा कभी शब्द से तो कभी व्यवहार से उत्पन्न होती है। कभी-कभी

इसके प्रकट होने का कारण नहीं बताया जा सकता। इस परिस्थिति में विद्वान् इसे दूसरे जन्म के संस्कार का प्राकट्य मानते हैं।⁷⁷ आचार्य के अनुसार जिस प्रकार कुछ विशेष द्रव्यों के परिपाक के समय उनमें नशे की शक्ति स्वतः - बिना किसी प्रयत्न विशेष के उत्पन्न हो जाती है, प्राणियों में प्रतिभा का आधान भी वैसे ही स्वाभाविक होता है।⁷⁸ मनुष्य की प्रतिभा को जगाने के लिए कुछ प्रयत्न भी करने पड़ते हैं परन्तु पशुओं में व्यक्त प्रतिभा बिना किसी प्रयत्न के ही उद्भूत हो जाती है।⁷⁹ इस प्रसङ्ग में भर्तृहरि ने प्रतिभा के छः प्रकार बताए हैं⁸⁰ -

स्वभावचरणाभ्यासयोगादृष्टोपपादिताम्।

जिनका स्पष्टीकरण निम्नवत् है -

स्वाभाविकी प्रतिभा स्वभावसिद्ध होती है, जैसे वानर का शाखाओं पर कूदना आदि। स्वभावसिद्ध प्रतिभा संस्कार रूप में अनादि-अभ्यास के कारण अस्तित्व में रहती है। अनुकूल समय मिलते ही यह जग जाती है। इसका कारण पैतृक प्रवृत्ति या चिर अभ्यास भी हो सकता है। चरणनिमित्ता प्रतिभा तप इत्यादि से प्राप्त अलौकिक प्रतिभा है। यह प्राचीन ऋषियों में सरलता से दिखाई पड़ती है। अभ्यासनिमित्ता प्रतिभा चिरकालीन अभ्यास द्वारा मनुष्यों में आ जाती है। जैसे जौहरी अथवा संगीतज्ञ अपने विषयों को सूक्ष्मता एवं आसानी से जान लेते हैं। भर्तृहरि ने अन्यत्र भी 'अभ्यासात् प्रतिभाहेतुः सर्वः शब्दः'⁸¹ कहा है। योगनिमित्ता प्रतिभा योगियों की अलौकिक क्रिया में स्पष्ट रूप से देखी जा सकती है। अदृष्टनिमित्ता प्रतिभा उन राक्षसादियों में प्राप्त होती है जो परकाया-प्रवेशादि कार्यों में समर्थ होते हैं। विशिष्टोपहिता अर्थात् किसी विशिष्ट व्यक्ति द्वारा किसी अपेक्षाकृत सामान्य-व्यक्ति में पहुँचाई गई प्रतिभा जैसे वेदव्यास द्वारा सञ्जय को दी गई दिव्यदृष्टि।

वाक्यपदीय - कारिका 2/152 की व्याख्या में भर्तृहरि ने कहा है कि शाब्द जगत् की दृष्टि में प्रतिभा वाक्यों से प्रतिपाद्य होते हुए भी सभी वाक्यों की आधार है। वह व्याकरणिक प्रक्रियाओं से परे की वस्तु है। व्याकरण सम्मत क्रम आदि शक्तियों के नष्ट हो जाने पर भी शब्द-बीज प्रतिभा में सन्निविष्ट रहते हैं। अनुकूलता पाने पर वही प्रतिभा वर्ण, पद, वाक्य के रूप में पुनः

विस्तृत होती हुई आभासित होती है। भर्तृहरि ने अन्यत्र (वा०प० 1/123) भी प्रतिभा को अनादि तथा अपौरुषेय सिद्ध किया है।

भर्तृहरि के प्रतिभा-सिद्धान्त की विशिष्टता यह है कि इसमें वाक्यार्थ के ज्ञान की प्रक्रिया को उसी प्रक्रिया से जोड़ा गया है जिससे कि सभी प्रकार के ज्ञान सम्बद्ध हैं। वाक्यार्थ-बोध का स्वरूप एवं प्रक्रिया ज्ञान-सामान्य की प्रक्रिया से भिन्न नहीं है। शाब्द-ज्ञान भी चूँकि एक विशिष्ट प्रकार का ज्ञान ही है अतः उसका स्वरूप या उसकी प्रक्रिया ज्ञान सामान्य से भिन्न कदापि नहीं मानी जा सकती। दो ज्ञानों के लिए भिन्न-भिन्न मापदण्ड बिल्कुल तर्कसङ्गत नहीं हैं। अतः जिस प्रतिभा से अन्य सभी ज्ञान प्राप्त होते हैं वाक्यार्थ ज्ञान भी उसी से होता है। आचार्य के द्वारा प्रतिभा का प्रतिपादन एक प्रकार से ज्ञान-प्रक्रिया के क्षेत्र में अद्वैत का प्रतिपादन है। प्रतिभा न केवल वाक्यार्थ ज्ञान का कारण है बल्कि प्राणिमात्र के सभी प्रकार के ज्ञानों का कारण एवं स्वरूप है।

प्रतिभा जैसे इन्हीं मौलिक, सूक्ष्म एवं तर्क-संगत सिद्धान्तों के कारण भारतीय-भाषिक दर्शन में आचार्य भर्तृहरि का योगदान सर्वातिशायी है।

भर्तृहरि के इस स्वोपज्ञ सिद्धान्त ने परवर्ती चिन्तकों पर गम्भीर प्रभाव डाला है। दिङ्नाग ने इसी से अनुप्राणित होकर अपने वाक्यार्थ-सिद्धान्त को प्रतिभात्मक माना। भोज ने भर्तृहरि से प्रेरित होकर प्रतिभा के और अधिक विभाजन किये। कुमारिल एवं जयन्त भट्ट ने प्रतिभा के महत्त्व को अंशतः स्वीकार करते हुए भी उसका खण्डन किया।

इस प्रकार सर्वजनमनःसंवेद्य, अखण्ड, निरवयव एवं अनिरूप्य प्रतिभा वैयाकरणों को वाक्यार्थ के रूप में सम्मत है।

(ख) पाश्चात्य-सिद्धान्त

1. सामान्य अवधारणाएँ तथा प्रारम्भिक सिद्धान्त

‘अर्थ का स्वरूप क्या है?’ यह प्रश्न दार्शनिकों, तार्किकों, मानसविदों तथा भाषावैज्ञानिकों का ध्यान युगों से आकर्षित करता रहा है। इसके स्वरूप

की अस्पष्टता पौरस्त्य एवं पाश्चात्य दोनों भूखण्डों के विचारकों को समान रूप से आश्चर्यचकित करती रही है। प्रारम्भिक काल से ही 'अर्थ का तात्पर्य', 'अर्थावबोध' तथा 'अर्थ-सम्प्रेषण' जैसे विषयों से सम्बन्धित चिन्तन प्रचुर मात्रा में प्राप्त होते हैं।

मानवीय-जीवन अनुभव की तीन विभिन्न अवस्थाओं को अपने में समेटे हुए है- संज्ञानात्मक, भौतिक एवं भाषिक। इन तीन अवस्थाओं के समकक्ष हमारे पास तीन संज्ञाएँ हैं - 1. विचार, 2. वस्तु, 3. भाषिक चिह्न। संज्ञानात्मक विचारों का प्रतिरूपण भाषिक चिह्नों द्वारा होता है तथा वे 'भाषिक-चिह्न' 'भौतिक वस्तुओं' की ओर सङ्केत करते हैं। 'वस्तु' विचार को सत्यापित करते हैं। दूसरे शब्दों में 'विचारों' का मूर्तीभाव उन वस्तुओं के रूप में होता है जिन्हें वे निर्दिष्ट करते हैं। विचार हमारे मस्तिष्क में उन चिह्नों के साथ स्थित हैं जिनके द्वारा उन (विचारों) का प्रतिनिधित्व होता है। 'वस्तु' 'चिह्नों' के वाच्य हैं तथा भाषिक चिह्नों का पुनरुत्तेजन वस्तुओं के द्वारा होता है। इस प्रकार हमारे अनुभव की उपर्युक्त तीन अवस्थाओं के मध्य परस्पर-व्याख्यागम्य सम्बन्ध हैं। ये अवस्थाएं परस्पर भिन्न होते हुए भी एक-दूसरे की पूरक हैं।¹² उपर्युक्त सम्बन्धों के ग्रहण को निर्दिष्ट करने के लिए जिस पारिभाषिक शब्द का प्रयोग किया जाता है, वह 'अर्थ' है। दार्शनिक, मनोवैज्ञानिक, तार्किक आदि इन शब्दों का प्रयोग अपने अपने विभिन्न शास्त्रीय दृष्टिकोणों से करते हैं। भाषावैज्ञानिक भी भाषिक-विश्लेषण के दौरान - ध्वनि, रूप (संरचना एवं कोशीय वस्तु) तथा निर्धारित परिस्थिति में भाषिक-अभिरचना द्वारा ज्ञापित - 'अर्थ' का अध्ययन प्रस्तुत करता है। उसका अर्थ विषयक दृष्टिकोण उसके प्रयोजन एवं उपकरणों पर आधारित है।

अर्थ सम्बन्धी अध्ययन की एक सुदीर्घ परम्परा भारत की ही भौति यूरोप (मुख्यतः यूनान) में भी हमें प्राप्त होती है। यूनानी-भाषिक-सिद्धान्तों से परिचित होने के लिए 'प्लेटो' का 'रिपब्लिक' ग्रन्थ एक महत्त्वपूर्ण प्रारम्भिक स्रोत है। इसमें शब्दार्थ सम्बन्ध को लेकर सादृश्यवादियों (Analogists) तथा असंगतिवादियों (Anomalists) के सुदीर्घ विवाद की चर्चा है। सादृश्यवादी भाषागत शब्दों एवं अर्थों के बीच तार्किक अथवा व्युत्पत्तिपरक

सम्बन्ध स्वीकार करते थे। जबकि दूसरा सम्प्रदाय (असंगतिवाद) उपर्युक्त मत में विश्वास नहीं करता था। इसके अनुसार शब्दार्थ सम्बन्ध अनियमित एवं ऐच्छिक है। उपर्युक्त विवाद भारतीय सिद्धान्तगत मीमांसकों एवं नैयायिकों के सम्बन्धनित्यत्व तथा सम्बन्धानित्यत्व से जुड़े मतभेद की ओर बरबस ध्यान दिला देता है।

पूर्व-आधुनिक-यूरोपीय परम्परा में हमें दो महत्वपूर्ण परम्पराएँ दृष्टिगोचर होती हैं-

1. The Modistae (13वीं एवं 14वीं शताब्दी), तथा
2. पोर्ट रॉयल सिद्धान्त (17वीं शताब्दी)

Modistae (भाषाविदों के सम्प्रदाय का नाम, ब०व०) के Speculative व्याकरण का सम्बन्ध मध्ययुगीन यूरोप के स्कॉलेस्टिक-दर्शन (Scholastic philosophy, 1200-1350 ई०) से था। ये प्रकृति एवं संकेत (Physis-nomos=nature-convention) सम्बन्धी विवाद में संकेत सिद्धान्त के दृढ़ समर्थक थे तथा सादृश्य एवं असङ्गति (Analogy - Anomaly) के विवाद में सादृश्यवाद के समर्थक थे। उन्होंने व्याकरण के प्राचीन रूपाधारित (formal) विभाग को विशिष्ट आर्थी-कोटियों (parts of speech) में बदल दिया। उनका सबसे महत्वपूर्ण योगदान वाक्य के संरचनात्मक अध्ययन को है। वाक्य की ग्राह्यता उनके अनुसार चार सिद्धान्तों (material, formal, efficient and final) से नियन्त्रित होती है। ग्राह्यता के लिए आवश्यक तीन शर्तों की व्याख्या भी उनके द्वारा की गयी है।⁸³

दक्षिण-वर्साय (फ्रांस) के पोर्ट-रॉयल कन्वेंट में अवस्थित विद्वानों द्वारा प्रतिपादित सिद्धान्त 'पोर्ट-रॉयल-सिद्धान्त' के नाम से प्रसिद्ध हुए। वे अपने सिद्धान्तों का आधार अरस्तू को नहीं अपितु देकार्त को मानते थे। उनके द्वारा विकसित भाषिक-दृष्टिकोण के अनुसार व्याकरणिक कोटियाँ एवं संरचनाएँ, विचार के सार्वभौमिक तार्किक-अभिरचना (Universal logic pattern) से सम्बद्ध हो सकती हैं। आन्तरिक तथा बाह्य-संरचना के बीच में विभाजन तथा सार्वभौम व्याकरण की परिकल्पना जैसे सिद्धान्तों की प्रेरणा के लिए रूपान्तरण-प्रजनक व्याकरण प्रस्तुत सम्प्रदाय का अधमर्ण है।

यह सिद्धान्त, प्रतिज्ञप्तियों (Propositions) का दार्शनिक-विवरण (conceiving), निर्णय (Judging) तथा तर्कणा (reasoning) इन तीन पारिभाषिक शब्दावलियों के अन्तर्गत करता है। उदाहरणार्थ -

'Invisible God created the visible world'

इस वाक्य को कहते समय वक्ता के मन में तीन निर्णय (Judgements) गुजरते हैं⁸⁴ -

(क) God is invisible

(ख) He has created the world.

(ग) The world is visible.

इनमें (क) तथा (ग) आश्रित (गौण) प्रतिज्ञप्तियाँ तथा (ख) प्रधान प्रतिज्ञप्ति है।

विशेष्य (गौण) संरचनाओं से सम्बन्धित रूपान्तरणात्मक-व्यवहार, जो चॉम्स्कीय-रू० प्र० व्या० का पूर्ववर्ती है, का संकेत इस सिद्धान्त में हमें आसानी से मिल जाता है।

आधुनिक काल में सम्पादित आर्थी-विश्लेषणों के विभिन्न सिद्धान्तों के वर्णन से पूर्व हम यह स्पष्ट करेंगे कि विभिन्न विद्वानों के मत में अर्थ का स्वरूप क्या है।

आधुनिक काल के आरम्भ में भाषाविदों ने अर्थ-विश्लेषण को असम्भाव्य तथा निरर्थक बताकर अर्थ-विज्ञान को भाषा-संरचना विज्ञान से अलग करने तक का सुझाव दे डाला। व्यवहारवादी ब्लूमफील्ड के अनुसार -

'The statement of meaning is, therefore the weak point in language study and will remain so until human knowledge advances very far beyond its present state.'⁸⁵

जे०डी० फोडर ने उद्धृत किया है-

'It has been held to be invaluable, worthless, impossible, trivial, the salvation of mankind a harmless hobby.'⁸⁶

1957 में चॉम्स्की की पुस्तक 'Semantic-Structures' प्रकाश में

आई तथा 1963 में जे०जे० काट्ज़ तथा जे०ए० फोडर के द्वारा स्पष्टतया यह प्रश्न उठाया गया कि रूपान्तरण-व्याकरण के अन्तर्गत अर्थ से सम्बद्ध परिस्थितियों की व्याख्या कैसे की जाये? । अब तक बहुत कम भाषाविदों का ध्यान अर्थविज्ञान पर गया था तथा वाक्य-संरचना अथवा ध्वनिविज्ञान की अपेक्षा इसे कम महत्त्व दिया जाता था। पिछले कुछ दशकों में यह परिस्थिति बदल गई है। अर्थ-विज्ञान का अध्ययन भी समान विस्तार एवं गम्भीरता से होने लगा है। इसका कारण सम्भवतः संरचना एवं ध्वनि के क्षेत्र में हुई पर्याप्त प्रगति है, जिससे इन क्षेत्रों से ध्यान किञ्चित् हटकर अर्थ-विश्लेषण की ओर गया है। जे०डी० फोडर के अनुसार 'अर्थ' की समझ के बिना 'संरचना' में और अधिक प्रगति नहीं हो सकती। अर्थविज्ञान में परिवर्धित रुचि का यही कारण है।⁸⁷ अर्थ विज्ञान पर ध्यान केन्द्रित होने से भाषा-विज्ञान दर्शनशास्त्र के और निकट आ पहुँचा है। दर्शन शास्त्र भी अर्थ के स्वरूप के बारे में बहुत पहले से छानबीन करता आ रहा है। भारतीय विचार पद्धति में तो शब्द एवं अर्थ पर विचार प्रारम्भिक काल से ही भाषा-शास्त्र तथा दर्शन-शास्त्र दोनों के सम्मिलित सहयोग से होता रहा है। अस्तु, सम्पूर्ण अवधानों तथा अन्य अनुशासनों से प्राप्त सहयोगों के बावजूद अर्थ-विश्लेषण के क्षेत्र में अनेक समस्याएँ बनी हुई हैं, फलतः प्रगति मन्द है।

सामान्यतया भाषिक-विवरण का लक्ष्य कुछ सुप्रेरित तथा निर्दुष्ट-सिद्धान्तों के द्वारा भाषा के अभिव्यक्त-रूपों को उनके आशय (content) अर्थात् 'अर्थ' के साथ सम्बद्ध करना है। उपर्युक्त सहसम्बन्धन की दो विशेषताएँ होनी चाहिए⁸⁸—

1. चूँकि भाषा में वाक्यसंख्या की कोई सैद्धान्तिक-सीमा नहीं है, अतः 'रूप-अर्थ-सहसम्बन्धन' को प्रभावित करने वाली यान्त्रिकता सामान्य होनी चाहिये तथा इस योग्य होनी चाहिए कि रूप-अर्थ का सम्बन्धन वाक्यों के अनन्त-परास (range) के लिए हो।
2. रूप-अर्थ-सम्बन्ध का प्रत्यक्षतः वर्णन नकारात्मक रूप से कठिन है। अधिक सामान्यीकरणों (Generalization) के ग्रहण से सहसम्बन्धन कुछ अधिक सरल हो सकता है।

वाक्यों के अर्थ-निर्धारण के दौरान हम उनके घटक-शब्दों तथा उन घटकों के परस्पर संघटन की रीति की उपेक्षा नहीं कर सकते। वाक्य में समान शब्दों के क्रम बदल देने पर अथवा एक ही क्रम में शब्दों को बदल देने पर अर्थ में वैपरीत्य की सीमा तक परिवर्तन आ जाता है। अतः स्पष्ट रूप से वाक्यार्थ का वाक्य संरचना तथा कोशीय घटक सम्बन्धी व्याकरण-नियमों से सम्बद्ध होना अति आवश्यक है।

वाक्य की बाह्य संरचना ही उच्चारण का निर्धारण करती है तथा स्वनिमिक-घटक के निवेश को संघटित करती है। अतः अर्थविज्ञान में हमारा सुनिर्दिष्ट लक्ष्य बाह्य संरचना तथा अर्थ का सहसम्बन्धन होना चाहिए। परन्तु यह अवधारणा प्रजनक अर्थवैज्ञानिकों के द्वारा अमान्य कर दी गयी है। उनके अनुसार हम उपर्युक्त सहसम्बन्ध की उपेक्षा करके अपना ध्यान अन्तःसंरचना तथा अर्थ के सह-सम्बन्ध तक ही सीमित रख सकते हैं।⁸⁹ यद्यपि कई ऐसे भाषाविद् भी हैं जो स्वीकार करते हैं कि व्याकरण का आर्थ घटक रिक्त है तथा वाक्यों की केवल आन्तरिक संरचना भी उनके पर्याप्त अर्थ-प्रतिरूपण के संघटन में समर्थ है। ऐसा करने से अन्तः संरचना तथा अर्थ में तादात्म्य-सम्बन्ध सिद्ध हो जायेगा।

अर्थ सम्बन्धी अध्ययनों के प्रसङ्ग में कई प्रारम्भिक तथा आधारभूत समस्याएँ उत्पन्न होती रही हैं। इनमें से दो प्रश्न ऐसे हैं जिन्होंने भाषावैज्ञानिकों तथा भाषादार्शनिकों दोनों को समान रूप से आकर्षित किया है।

अर्थ-सम्बन्धी आंकड़ों के विश्लेषण तथा उनसे अनेक प्रकार की अर्थवैज्ञानिक समस्याओं को हल करते समय एक प्रश्न सदैव अनुत्तरित रह जाता है। वह है - “वस्तुतः अर्थ क्या है?” यह परिस्थिति गणितशास्त्र की भाँति है। प्राकृतिक संख्याओं (1...9) के पुनरावर्ती उपयोग के द्वारा हम गणितशास्त्र की अनेक प्रमेयगत समस्याएँ हल कर लेते हैं। तथापि ‘संख्या क्या है’, यह प्रश्न अनुत्तरित ही रह जाता है। ‘अर्थ क्या है’ यदि इस सम्बन्ध में कोई बुद्धि-संगत मत प्राप्त होता है तो यह आशा की जाती है कि अर्थवैज्ञानिक-परिस्थितियों तथा अर्थ-जातियों के बारे में कई वर्णनात्मक प्रश्नों के उत्तर दिये जा सकेंगे।

दूसरा अत्यन्त महत्वपूर्ण प्रश्न है कि “अर्थ ध्वनि समूह तथा वाच्यवस्तुओं को परस्पर सम्बद्ध कैसे करता है?” हम जानते हैं कि संस्कृत शब्द ‘गौः’ का अर्थ सास्नादिमान् पदार्थ है। परन्तु ‘गौः’ शब्द तथा सास्नादिमान् पदार्थ के पारस्परिक संसर्ग की प्रकृति क्या है?

‘ध्वनि संकेतों’ के साथ संकेत्य बाह्य पदार्थों का अविनाभूत सम्बन्ध नहीं है। अतः संकेतों की ऐच्छिकता को स्वीकार किया गया है। संकेत तथा संकेत्य पदार्थ के मध्य सम्बन्ध ज्ञान के लिए हमें प्रयोक्ता की ओर ध्यान देना होगा। अतएव यह बात परिकल्पित की जा सकती है कि ‘गौः’ शब्द का अर्थ वह है, जो कुछ यह (शब्द) करता है, जिस के कारण वक्ता जब सास्नादिमान् पदार्थ को देखता है तो इसी शब्द का प्रयोग करता है। अथवा प्रयोक्ता के मस्तिष्क में सास्नादिमान् वस्तु के विचार के साथ संयुक्त होकर शब्द का जो कार्य है वही अर्थ है।

उपर्युक्त उत्तर स्वीकार्य नहीं है। यह एक ऐसे प्रश्न के उत्तर देने का प्रयत्न है जिसका उत्तर अर्थवैज्ञानिक अधूरा ही दे पाये हैं।

अर्थ के स्वरूप-विवेचन के प्रसङ्ग में हम पारम्परिक विद्वानों के मन्तव्यों का आलोडन करके उनकी न्यूनताएँ तथा सीमाएँ जानने का प्रयत्न करेंगे।

जे०डी० फोडर ने अर्थ सम्बन्धी तीन सिद्धान्तों को उपस्थापित किया है। ये सिद्धान्त अपर्याप्त तथा असमीचीन होते हुए भी पाश्चात्य जगत् में शताब्दियों से प्रचलित हैं।⁹⁰ ये हैं—

1. सन्दर्भगत सिद्धान्त (Referential Theory)
2. सम्प्रत्यात्मक सिद्धान्त (Ideational Theory)
3. व्यवहारपरक सिद्धान्त (Behavioral Theory)

सन्दर्भगत सिद्धान्त के अनुसार कोई वाक्यात्मक अभिव्यक्ति जिसको संकेतित (refer) करती है अथवा उस (अभिव्यक्ति) से जो विचार मनुष्य के मस्तिष्क में जुड़ा रहता है, वही उसका अर्थ है। जैसे ‘गौ’ शब्द के उच्चारण से सास्नादिमान् एक जीव विशेष संकेतित होता है, अतः शब्द का अर्थ यही है।

परन्तु विचार करने पर अर्थ तथा वस्तु का तादात्म्य बुद्धिग्राह्य प्रतीत नहीं

होता। गाय में जो अर्थक्रियाकारिताएँ (दूध निकालना आदि) हैं, वे 'अर्थ' में कदापि नहीं हैं। अर्थ की जो भाषिक क्षमताएँ (सीखना आदि) हैं वे गाय पिण्ड में नहीं हैं। प्रसिद्ध विद्वान् दार्शनिक फ्रेगे (Frege) ने इस सिद्धान्त का खण्डन करते हुए कहा है कि निम्नलिखित दो वाक्यांश—'The morning star' तथा 'The evening star' दोनों एक ही पिण्ड 'शुक्र ग्रह' को संकेतित करते हैं परन्तु दोनों अभिव्यक्तियों का अर्थ समान नहीं है। अगर सन्दर्भ अर्थ का कारक होता तो The morning star is the morning star. इस वाक्य का अर्थ — The morning star is the evening star. के समान होता परन्तु वस्तुस्थिति ऐसी नहीं है।⁹¹

वस्तुतः दो अभिव्यक्तियों के सन्दर्भ समान होने का मतलब यह नहीं है कि उनका अर्थ भी समान हो। सन्दर्भ की समानता अर्थ की समानता के लिए पर्याप्त नहीं है।

सम्प्रत्यात्मक सिद्धान्त (Ideational Theory) के अनुसार वक्ता अपने विचारों (सम्प्रत्ययों) को वाक्य में रूपायित करके श्रोता के प्रति सम्प्रेषित करता है। प्राप्त करने के बाद श्रोता के पास भी वक्ता के सम्प्रत्यय आ जाते हैं अतः कोई भी अभिव्यक्ति तभी सार्थक है यदि वह किसी विचार से जुड़ी है। दो अभिव्यक्तियाँ यदि एक समान सम्प्रत्यय से जुड़ी हैं तो उनका अर्थ समान होगा।

परन्तु यह सिद्धान्त भी दोषमुक्त नहीं है। सम्प्रत्यय, जो मानसिक-बिम्ब होते हैं— परिवर्तनशील तथा यादृच्छिक हैं। इनके प्रसार (विस्तार) तथा प्रकार दोनों प्रतिव्यक्ति एवं प्रति-अवसर भिन्न होते रहते हैं। संस्कृत का 'पद' शब्द निम्नोक्त वाक्यों में नितान्त भिन्न सम्प्रत्ययों को उत्पन्न करता है⁹² —

1. शान्तमिदमाश्रमपदम् (स्थान)।
2. पादौ पदानि तव यत्र जिनेन्द्र धत्तः। (पदक्रम)
3. पदमैन्द्रमाहुः। (पदवी)
4. समर्थः पदविधिः। (सुबन्त-तिङन्त)
5. परमापदां पदम्। (वस्तु)
6. पदं सहेत भ्रमरस्य पेलवम्। (पैर)

इसके अतिरिक्त- कथम्, तथापि, ननु, च आदि शब्दों तथा सम्प्रत्ययों में कोई स्पष्ट एवं स्थायी सम्बन्ध नहीं होता। फलतः इन शब्दों के सम्बन्ध में यह सिद्धान्त असङ्गत हो जायेगा।

पाश्चात्य-जगत् में प्रचलित अर्थसम्बन्धी उपर्युक्त दोनों सिद्धान्त भारतीय बाह्यार्थ एवं बौद्धार्थ-वाद से स्पष्टतः तुलनीय हैं। हम कह सकते हैं कि सन्दर्भगत सिद्धान्तवादी नैयायिकों के तथा सम्प्रत्ययात्मक सिद्धान्त को मानने वाले वैयाकरणों के अत्यन्त निकट हैं। ज्ञातव्य है कि वैयाकरण शब्द एवं अर्थ दोनों को बौद्ध स्वीकार करते हैं - 'बौद्ध एव शब्दः, बौद्ध एव अर्थः।'।

मानसिक सम्प्रत्यय चूँकि दुर्ग्रह एवं अस्पष्ट होते हैं अतः दार्शनिक तथा मनोवैज्ञानिक विचारों तथा मानसिक बिम्बों के सम्बन्ध में चर्चा से बचते हैं। इनमें प्रसिद्ध भाषा वैज्ञानिक ब्लूमफील्ड भी प्रमुख हैं। इनके अनुसार किसी अभिव्यक्ति का अर्थ वह प्रेरक-स्थिति (Stimulus - situation) है जो उसके उच्चारण को प्रेरित करती है अथवा वह प्रतिक्रिया जो उसके कारण श्रोता की ओर से प्राप्त होती है। व्यवहार को अर्थ मानने के कारण यह व्यवहारपरक (Behavioral) सिद्धान्त कहलाता है। इसके अनुसार, समान प्रेरक स्थिति तथा समान प्रेरित प्रतिक्रिया में निःसृत अभिव्यक्तियों के अर्थ समान होते हैं।

यहाँ ध्यातव्य है कि प्रेरक-स्थिति (stimulus-situations) का सम्बन्ध वक्ता से तथा प्रतिक्रियाओं (responses) का सम्बन्ध श्रोता से है। वक्ता प्रेरक स्थिति से प्रेरित होकर अभिव्यक्तियाँ प्रकट करता है, जो श्रोता की प्रतिक्रियाओं को निर्गत कराती हैं।

यह सिद्धान्त भी अनेक अतिव्याप्तियों से भरा है। समान प्रेरक-परिस्थितियों में भी कुछ व्यक्ति निरर्थक तथा कुछ सार्थक अभिव्यक्तियाँ प्रकट किया करते हैं। समान अभिव्यक्तियों पर विभिन्न श्रोताओं की प्रतिक्रियाएँ भिन्न-भिन्न हुआ करती हैं।

प्रेरक-परिस्थितियों या प्रतिक्रियाओं तथा अभिव्यक्तियों में इतनी निश्चितता और एकात्मकता नहीं है कि उनका 'अर्थ-प्रक्रिया' से सहसम्बन्ध समर्थित किया जा सके जबकि शब्दार्थ स्वरूप निश्चित होता है। प्रेरक परिस्थिति की एकात्मकता भाषिक व्यवहार की एकात्मकता की गारण्टी नहीं देती।

निश्चित रूप से व्यवहार तथा भाषिक-अर्थ में कुछ सम्बन्ध अवश्य है परन्तु यह सम्बन्ध उलझा हुआ और अप्रत्यक्ष है, जबकि अर्थपरक सिद्धान्त अर्थ के स्वतन्त्र एवं स्पष्ट प्रतिपादन की माँग करता है।⁹³

प्रसिद्ध दार्शनिक विट्गेनस्टायन शब्द के 'प्रयोग' को ही उसका 'अर्थ' मानते हैं। उनके अनुसार किसी शब्द का भाषा में प्रयोग ही उसका अर्थ है।⁹⁴ उनका निम्नलिखित वाक्य अतिप्रसिद्ध है -

Don't ask for the meaning ask for the usage.

प्रयोग-अर्थवाद का क्षेत्र अत्यन्त विस्तृत है। इसमें उपर्युक्त तीनों मतों के दोष नहीं आते। यह सिद्धान्त किसी भी सार्थक अभिव्यक्ति को अछूता नहीं रखता।

सर्वसमावेशी होना ही इस सिद्धान्त का सबसे बड़ा दोष है। इसे अर्थपरक-सिद्धान्त बनाने के पूर्व इसकी सीमाएँ तय की जानी चाहिए। इसके अलावा वाग्व्यवहार के प्रयोग सम्बन्धी कितने ही सामाजिक, व्यावहारिक तथा शैलीपरक नियम होते हैं जिनका अर्थ से कोई सम्बन्ध प्रतीत नहीं होता अतः प्रयोग एवं अर्थ में कोई व्याप्ति-सम्बन्ध नहीं है।

श्लिक (Schlick) के अनुसार किसी प्रतिज्ञप्ति का अर्थ उसके सत्यापन की विधि (**method of verification**) होती है।⁹⁵ वाक्य के अर्थ के बारे में कुछ कहने का मतलब उन नियमों के बारे में कथन होता है जिनके अनुसार वाक्य का प्रयोग होना होता है। यह वाक्य के सत्यापन की विधि होती है। अर्थ का सत्यापनवादी सिद्धान्त अर्थ के व्यवहार को सम्पूर्ण वाक्य के स्तर पर देखता है। अभिव्यक्तियों के अर्थों की पहचान अप्रत्यक्ष रूप से उसे वाक्यार्थ के प्रति उनके योगदान से की जाती है, जिनमें उनका प्रयोग हुआ रहता है।

अर्थ को सत्यापन की विधि के साथ एकात्म करना अनेक मूर्खताओं की ओर ले जाता है। 'देवः वर्षति' इस वाक्य का अर्थ न तो किसी के हाथ को खिड़की से बाहर निकालना है और न ही मौसम-विभाग से संपर्क करना। भविष्यत्काल में प्रयुक्त वाक्य का अर्थ उसके घटित होने तक प्रतीक्षा करना नहीं है।

ऑस्टिन ने आर्थ-विश्लेषण से सम्बन्धित वाग् व्यापार सिद्धान्त

(**Theory of Speech acts**) को विकसित किया।⁹⁶ ऑस्टिन की योजना उन वाग्व्यापारों की पहचान करनी थी जो वाक्य के द्वारा या वाक्य में क्रियान्वित होते हैं। उनके अनुसार वाक्य प्रयोग के कारणभूत वाग्व्यापारों की पहचान उस वाक्य के अर्थ की पहचान होती है।

यह सिद्धान्त अन्तर्वैयक्तिक-सम्प्रेषण के दौरान वक्ता एवं श्रोता के व्यवहार में उक्तियों की भूमिका का विश्लेषण करता है। ये वाग्व्यापार तीन प्रकार के होते हैं-

1. Locutionary Act : सम्प्रेषणात्मक व्यवहार
2. Illocutionary Act : बोलते समय वक्ता का मन्तव्य
3. Perlocutionary Act : श्रोता पर उपलब्ध प्रभाव

इस वर्णन से ऑस्टिन का मन्तव्य है कि दो वाक्यों का प्रयोग एक समान वाग्व्यापार के लिए तभी किया जा सकेगा जब दोनों का अर्थ (भाव) समान हो।

वाग्व्यापार के सिद्धान्त से अत्यन्त निकट ग्राइस (Paul Grice) का 'प्रयोक्तृगत अर्थ का सिद्धान्त (**Theory of utterer's meaning**) है।⁹⁷ इस सिद्धान्त का ध्यान सम्प्रेषण हेतु भाषा के प्रयोग में अर्थ की भूमिका पर है। ग्राइस ने इस सिद्धान्त के आधार पर यह समझाने का प्रयत्न किया है कि हम अपने वास्तविक-कथन के अर्थ से अधिक अर्थ सम्प्रेषित करने में कैसे सफल हो जाते हैं।

इन्होंने कुछ सिद्धान्तों को रेखाङ्कित किया है जिनका अनुपालन हम सम्प्रेषण को सुकर बनाने के लिए स्वयं करते हैं तथा दूसरों से भी ऐसी ही आशा रखते हैं। इन्हें वार्तालाप सिद्धान्त कहते हैं। इन सिद्धान्तों के उल्लंघन होने से श्रोता को निहितार्थ हेतु वक्ता के विश्वासों तथा मन्तव्यों के बारे में अनुमान लगाना पड़ता है। फलतः सम्प्रेषण में सुकरता की मात्रा कम हो जाती है।

ग्राइस ने वाक्यार्थ की व्युत्पत्त्यात्मक व्याख्या की है - किसी भाषिक अभिव्यक्ति का अर्थ उन प्रभावों का विषय है जिन्हें वक्ता उस अभिव्यक्ति के माध्यम से श्रोता पर छोड़ना (उत्पन्न करना) चाहता है।

इस मत में सबसे प्रमुख आपत्ति यह उठाई गई है कि यह अर्थ के

सङ्केतात्मक एवं सङ्घटनात्मक पक्ष की ओर ध्यान नहीं देता। भाषिक-अभिव्यक्तियाँ उन्हीं अर्थों को प्रकाशित करती हैं जिनका संकेत उस भाषा-समुदाय में हो चुका हो। अर्थ व्यक्तिविशेष के तात्पर्य से निश्चित नहीं हो सकता।

पूर्वोल्लिखित सिद्धान्तों के वर्णन से यह स्पष्ट नहीं हुआ कि अर्थ क्या है अपितु यह निश्चित हो गया कि अर्थ क्या नहीं है। ये सभी सिद्धान्त यदि असत्य नहीं तो पूर्ण भी नहीं हैं। ये सभी के अर्थ के अपूर्ण एवं एकाङ्गी स्वरूप को बताते हैं। अर्थ ऐसा भी है जैसे ये सिद्धान्त वर्णित करते हैं तथापि अर्थ का स्वरूप इन व्याख्याओं से अतिरिक्त और भी कुछ है। वस्तुतः अर्थ मानसिक जगत् की वस्तु है। इसका अनुभव तो किया जा सकता है परन्तु इसका इदमित्थं निरूपण दुःशक है। अतः अर्थ के लक्षण को मानसिक जगत् की वस्तु ही रहने देना चाहिए, जैसा कि महामहोपाध्याय आचार्य भर्तृहरि ने किया है -

यस्मिँस्तूच्चरिते शब्दे यदा योऽर्थः प्रतीयते।

तमाहुरर्थं तस्यैव नान्यदर्थस्य लक्षणम्॥

(वा०प०2/329)

(किसी भाषिक अभिव्यक्ति के उच्चरित होने पर जो अर्थ प्रतीत होता है, वही उस अभिव्यक्ति का अर्थ होता है। अर्थ का अन्य लक्षण नहीं हो सकता।)

कारिका में 'प्रतीयते' पद महत्त्वपूर्ण है। यह अर्थ की मानसिक सत्ता के साथ ही साथ उसकी अनिरूपणीयता तथा अनुपाख्येयता की ओर भी संकेत करता है।

'नान्यदर्थस्य लक्षणम्' वाक्य इङ्गित करता है कि भर्तृहरि के समय में भी अर्थ से सम्बद्ध अनेक अपूर्ण एवं एकाङ्गी लक्षण देने के प्रयत्न किये जा रहे थे। आचार्य ने उनकी व्यर्थता सिद्ध करते हुए अर्थ के स्वरूप की मानसिक-स्थिति को अक्षुण्ण रखा।

(ख) यूरोप में विकसित सिद्धान्त

- (i) फ़र्थ तथा अर्थविषयक-सन्दर्भपरक सिद्धान्त (Contextual Thoery of Meaning)

जेम्स रूपर्ट फ़र्थ (1890-1960) भाषाविज्ञान के ब्रिटिश-सम्प्रदाय से

सम्बद्ध थे। 1920 से 1928 तक भारत में अध्यापन करते समय इन्होंने प्राच्य भाषा तथा भाषिक सिद्धान्तों का परिचय प्राप्त किया। इसका प्रभाव इनके सिद्धान्तों पर यत्र-तत्र दिखाई पड़ता है। 1944 से 1956 तक फ़र्थ लन्दन विश्वविद्यालय के 'स्कूल ऑफ ओरिएण्टल एण्ड अफ्रीकन स्टडीज़' में सामान्य भाषा-विज्ञान के प्रथम आचार्य रहे। इन्हें 'लन्दन स्कूल' के संस्थापक तथा प्रमुख सिद्धान्तशास्त्री होने का गौरव प्राप्त है। प्रसिद्ध मानवशास्त्री 'मैलिनोफ़्स्की' से सम्पर्क के बाद उनके विचारों में महत्त्वपूर्ण विकास हुआ।

मैलिनोफ़्स्की का अर्थ-विषयक सिद्धान्त 'सन्दर्भपरक-सिद्धान्त' कहलाता है। फ़र्थ ने इनके परवर्ती सिद्धान्त के आयाम को विस्तार दिया तथा उसमें कुछ संशोधन भी किये।

भाषा के सम्बन्ध में फ़र्थ के विचारों का केन्द्र 'सन्दर्भ' है। फ़र्थ ने सन्दर्भ को मैलिनोफ़्स्की के पारिस्थितिक सन्दर्भ (Context of Situation) के साथ समन्वित करते हुए भाषा को सान्दर्भिक व्यवस्था (arrangement of contexts) के रूप में परिभाषित किया। उनकी मान्यता थी कि भाषा को सामाजिक सन्दर्भ में एक सार्थक प्रक्रिया के रूप में विश्लेषित किया जाना चाहिए।

फ़र्थ के अनुसार अर्थ को सन्दर्भीय-सम्बन्धों की समष्टि माना जाना चाहिए।⁹⁸ उनके अनुसार अर्थ निम्नलिखित प्रकार्यों की व्याख्या का समावेशी पद है -

1. स्वनिक-प्रकार्य
2. शाब्दिक-प्रकार्य
3. आकृति-वैज्ञानिक प्रकार्य
4. संरचनात्मक प्रकार्य
5. पारिस्थितिक सन्दर्भ (आर्थी प्रकार्य)

फ़र्थ के मत में बोलते समय हम स्वयं को वातावरण के साथ सम्बद्ध करते हैं तथा हमारे शब्द परिस्थिति के साथ हमारी पहचान को घोषित (इङ्गित) करते हैं। सांस्कृतिक सम्बद्धता के साथ शब्दों का अध्ययन किसी भाषा के

आर्थी पक्ष को उजागर करता है।⁹⁹ यह कथ्य फ़र्थियन-लेखन में महत्त्वपूर्ण तथा पुनरावर्ती कथ्य है। वाचिक भाषा सामाजिक संसर्ग की सन्निकटता में निमज्जित रहती है। अर्थ का सन्दर्भात्मक सिद्धान्त ऐसे भावानयनों (abstractions) का प्रयोग करता है जो हमें घटना प्रवाह में होने वाली परस्पर सम्बन्धी व्यक्तिगत तथा सामाजिक-जीवन की प्रक्रियाओं के अन्तर्गत भाषा की व्याख्या करने में सहायक होते हैं।¹⁰⁰

‘A new approach to Grammar’ लेख में फ़र्थ ने व्याकरण के प्रति नये उपागम (approach) के लिए अर्थ के प्रति नये उपागम की आवश्यकता पर बल दिया है। उनके अनुसार नया उपागम सर्वप्रथम अर्थ के उस द्वायात्मक दृष्टिकोण को त्याग देने की अपेक्षा रखता है जो शब्द तथा विचार, विचार तथा अभिव्यक्ति, रूप तथा अन्तर्वस्तु जैसे शब्दों का प्रयोग करता है। इसके अतिरिक्त उक्त उपागम जिसे ‘अर्थ के प्रति मनःशारीरिक दृष्टिकोण’ कहा जा सकता है, उसे अपनाने की अपेक्षा रखता है। अर्थ किसी भाषा की संरचनाओं तथा व्यवस्थाओं के आन्तरिक सम्बन्धों में तथा उनके सामान्यीकृत स्थिति-सन्दर्भों के अन्तर्गत विस्तारित सम्बन्धों में पाया जाता है।¹⁰¹ फ़र्थ ने इस अर्थविषयक नवीन उपागम को शुद्ध भाषिक शब्दावली तथा ‘अद्वयात्मक दृष्टिकोण’ से व्यक्त किया। उन्होंने मनोविज्ञान अथवा समाजविज्ञान के क्षेत्र में अतिक्रमण किये बिना शुद्ध भाषा वैज्ञानिक शब्दावली के द्वारा सभी स्तरों पर अर्थ के रूपात्मक अध्ययन का पूर्णरूपेण समर्थन किया। उनका अधिकतम बल इस बात पर था कि विश्लेषण के समस्त स्तरों पर भाषा विज्ञान का सम्बन्ध समाज में अर्थपूर्ण मानवीय-व्यवहार से है। जो भी संरचनाएँ, व्यवस्थाएँ या भावानयन प्रतिपादित किये जाते हैं, वे एक मात्र भाषा वैज्ञानिक शब्दावली में अर्थविषयक सर्वसम (congruent) वक्तव्य देने में सहायक होते हैं।

फ़र्थ के एकतत्त्ववादी उपागम में मन-शरीर तथा विचार-शब्द के द्वैत नहीं माने गये हैं। उनके सिद्धान्त का केन्द्रीय प्रस्ताव - ‘अर्थ अथवा प्रकार्य को अवयवभूत प्रकार्यों के पदक्रम में विभाजित करना’ है। ‘प्रकार्य’ किसी भाषिक रूप अथवा तत्त्व का किसी सन्दर्भ से सम्बन्धित प्रयोग है।¹⁰²

स्पष्ट है कि फ़र्थ के अनुसार वर्णनात्मक भाषा-विज्ञान अर्थ की व्याख्या करने के लिए उसको विभिन्न स्तरों पर काम कर रही तकनीकों में वितरित करता है।

भाषिक अर्थ के निर्धारण में फ़र्थ ने सहप्रयोग के महत्त्व को रेखाङ्कित किया। सहप्रयोग द्वारा प्राप्त अर्थ विन्यासक्रमिक स्तर पर भावानयन है। यह शब्द से सम्बद्ध अर्थ के वैचारिक उपागम से प्रत्यक्षतः सम्बन्धित नहीं है।¹⁰³ यह सहप्रयोग साधारण, अद्वितीय, व्यक्तिगत अथवा असामान्य हो सकता है। अपने विचार के पोषण के लिए उन्होंने विट्गेनस्टायन के प्रयोग अर्थवाद का आश्रय भी लिया है। शब्द की संस्थितियाँ उस शब्द के सन्दर्भात्मक अथवा व्याकरणिक क्रम में नहीं अपितु संस्थित्यात्मक (सह प्रयोगात्मक) क्रम में प्रायिक अथवा प्रचलित स्थानों के विषय में वक्तव्य होती हैं। संस्थिति (सहप्रयोग) शब्दों का मात्र सन्निधान नहीं होता है; वह तो उनकी पारस्परिक प्रत्याशा का क्रम होता है अर्थात् सहप्रयुक्त शब्द पारस्परिक रूप से प्रत्याशी होते हैं।¹⁰⁴ व्याकरणिक स्तर पर अर्थ की व्याख्या पारस्परिक सम्बन्धों से उत्पादित 'मूल्य' के आधार पर की जाती है। फ़र्थ ने वाक्य-विन्यास में संरचनात्मक-व्याकरणिक कोटियों के पारस्परिक सम्बन्ध को सहवर्तिता (Colligation) कहा है। व्याकरणिक स्तर पर मूल्य-परिवर्तन के साथ अर्थ परिवर्तन भी हो जाता है।

उनके योगदान को इस प्रकार स्पष्ट किया जा सकता है - "फ़र्थ ने भाषा का अनुभूतिमूलक विश्लेषण प्रस्तावित किया। इनकी प्रणाली तो संरचनात्मक है परन्तु यह सिद्धान्ततः अर्थात्मक है। फ़र्थ के सिद्धान्त का केन्द्रबिन्दु अर्थ है। अर्थ अर्थात् प्रयोग अथवा 'संदर्भ के अन्तर्गत प्रकार्य'। पाठ अथवा स्थिति-सन्दर्भ में पाठ वह इकाई है जिसका अर्थात्मक विश्लेषण किया जाना होता है। पाठ की सर्वाधिक स्वाभाविक तथा तर्कसंगत इकाई वाक्य है। वाक्य के चार विश्लेषण स्तर होते हैं जो वस्तुतः अर्थ की विभिन्न रीतियाँ हैं - 1. स्वनिक, 2. शाब्दिक, 3. स्थितिक तथा 4. व्याकरणिक। फ़र्थ ने इस पर अत्यधिक बल दिया कि उपर्युक्त चारों स्तरों पर अर्थ को किसी भी व्यापक भाषा-वैज्ञानिक सिद्धान्त का अभिन्न अङ्ग माना जाना चाहिए। यही उनका प्रमुख योगदान है।"¹⁰⁵

इस प्रकार हम देखते हैं कि जब तत्कालीन भाषाविज्ञान स्वनिमविज्ञान के अतिरेक से पीड़ित था तथा यान्त्रिकवादी प्रणाली से अर्थ को पूर्णरूपेण अपवर्जित करते हुए 'मानसवाद' कहकर इसकी निन्दा की जा रही थी तब फ़र्थ ने अर्थ की अनिवार्यता के विषय में नवीन उपागम प्रस्तुत किया। उन्होंने यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया कि समूचा भाषाविज्ञान तथा उसकी प्रक्रियाएँ अर्थविषयक वक्तव्य देने की तकनीक मात्र हैं।

(ii) एम्० ए० के० हैलिडे

'लन्दन सम्प्रदाय' के नाम से प्रचलित फ़र्थ के सिद्धान्त अत्यधिक प्रसिद्ध हुए। इसके अनुयायियों ने फ़र्थ के सिद्धान्तों को न केवल भाषिक-अध्ययन का विषय बनाया अपितु उसका विस्तार तथा स्पष्टीकरण करने का प्रयत्न भी किया है। इस प्रकार एक नया सम्प्रदाय सामने आया जिसे 'नव-फ़र्थवादी' (Neo-Firthian) कहा जाता है। नव-फ़र्थवादियों में सबसे महत्वपूर्ण नाम एम्० ए० के० हैलिडे का है। वाक्य संरचना से सम्बद्ध पिछले अध्याय में हैलिडे के व्यवस्थापरक-व्याकरण से सम्बद्ध पर्याप्त वर्णन किया जा चुका है। यहाँ उनके अर्थ-विषयक मन्तव्यों पर प्रमुख रूप से प्रकाश डाला जायेगा। ज्ञातव्य है कि इन सिद्धान्तों के विकास में हैलिडे के अतिरिक्त एलिस तथा डिक्सन आदि अनेक दूसरे नव-फ़र्थवादी भाषाविदों का भी महत्वपूर्ण योगदान है।

इन्होंने अर्थ की सत्ता को 'रूप' के स्तर तथा 'माध्यम' एवं 'सन्दर्भ' के अन्तःस्तरों पर स्वीकार किया है। प्रदत्त पाठ का 'माध्यम' 'लिपिगत' या 'स्वनगत' हो सकता है। 'माध्यम' के अन्तःस्तर पर अर्थ को 'आशय' (Significance) कहा जाता है, जो लेखिकीय या स्वनिमीय अर्थ होता है। रूप के स्तर पर दो अर्धस्तर - 'व्याकरण' तथा 'शब्दसमूह' (Lexis) हैं। 'व्याकरण' एवं 'शब्दसमूह' तथा 'अर्थविज्ञान' एवं 'संकेतप्रयोग' विज्ञान (Pragmatics) के मध्य विभाजक रेखा स्पष्ट नहीं है। इन दोनों युग्मों में स्पष्ट विभाजन असम्भव है। व्याकरण तथा शब्दसमूह के अर्धस्तरों पर प्राप्त अर्थ को 'मूल्य' (Value) कहा जाता है तथा अन्ततः सन्दर्भ के अन्तःस्तर पर

अर्थ को 'आशय' (Content) कहा गया है। इस प्रकार इन्होंने अर्थ को तीन प्रकार से विभाजित किया-

1. A. लेखिकीय-आशय (Graphological-significance)
B. स्वनिमीय-आशय (Phonological-significance)
2. A. व्याकरणिक-मूल्य (Grammatical-Value)
B. शाब्दिक-मूल्य (Lexical-Value)
3. A. आर्थी-आशय (Semantic-content)
B. संकेत प्रायोगिक-आशय (Pragmatic-content)

सान्दर्भिक अन्तःस्तर पारिस्थितिक अभिलक्षणों तथा रूपीय कोटियों के मध्य सम्बन्ध स्थापित करता है। पारिस्थितिक-अभिलक्षणों को तीन भागों में विभाजित कर सकते हैं।

1. संज्ञानात्मक (Cognitive)
2. परिवेशीय (Environmental)
3. संस्थागत (Institutional)

संज्ञानात्मक स्तर बताता है कि वास्तविक-जगत् की घटनाओं के सम्बन्ध में वक्ता या श्रोता का विचारीकरण (Conceptionalization) किस प्रकार का है।

परिवेशीय स्तर जागतिक-घटनाओं के सांस्कृतिक प्रतिरूपण से सम्बन्धित है। इसमें प्रदत्त-वक्ता का स्वभाव, चित्तवृत्ति तथा वागव्यापार के समय भौतिक वस्तुओं की उपस्थिति आदि तत्त्व भी संगृहीत होते हैं। संज्ञानात्मक स्तर की सामग्री सान्दर्भिक अन्तःस्तर के आर्थी-परत पर बहुत हद तक प्रतिबिम्बित होती है। परिवेशीय स्तर की सामग्री सान्दर्भिक अन्तःस्तर के प्रैग्मैटिक-स्तर में प्रतिरूपित होती है। जार्ज लैकॉफ़ के अनुसार प्रैग्मैटिक तथा आर्थी स्तर सियामीज़-जुड़वों की तरह अविभाज्य है।¹⁰⁶

संस्थागत स्तर पराभाषिक या अतिरिक्त भाषिक स्तर है। यह रूप के अन्तःस्तर एवं स्तर में होने वाले भाषिक-विकल्पन (Variation) की व्याख्या करता है। यह उपभाषा, समाज बोली (Sociolect), रजिस्टर, शैली आदि

भेदों का कारक है। किसी भी रूपात्मकतया-मूल्यवान् (Formally-valuable) संरचना का अध्ययन यदि इन सभी अभिलक्षणों के सन्दर्भ में हो तो वह स्वीकार्य होगा।

इसके अतिरिक्त नव-फर्थवादियों ने स्वनिमीय तथा लेखिमीय स्तर पर अर्थ और तीन-तीन अभिलक्षण - '-emetic', '-sodic', तथा '-ational' स्वीकार किये हैं।¹⁰⁷

किसी भाषा के 'आशय' में स्वनिमात्मक इकाइयों, स्वनिगुणिमिक तथा अनुतानात्मक अभिलक्षणों का व्यवस्थित अध्ययन संगृहीत होता है। किसी स्वनिमात्मक इकाई का अर्थ इसके विन्यासक्रमिक तथा रूपावली सम्बन्धी सम्भावनाओं का प्रतिफल है।

एलिस के अनुसार किसी इकाई का स्वनिमिक (लेखिमिक) अर्थ उसके दूसरे स्वनिमिक इकाइयों के साथ सम्बन्ध तथा पूरे सम्बद्ध स्वनिमिक व्यवस्था में इसका योगदान होता है।¹⁰⁸

किसी रूपीय इकाई या कोटि, चाहे वह व्याकरणिक हो या शाब्दिक, का रूपीय अर्थ इसके दूसरे रूपीय इकाई एवं कोटि के साथ सम्बन्ध होता है। डिक्सन के अनुसार रूपीय अर्थ भाषा के उस खण्ड का अर्थ है जो इसके आन्तरिक अभिरचना से सम्बन्ध रखता है। दो इकाइयों के रूपात्मक-अर्थ भिन्न-भिन्न कहे जायेंगे यदि व्याकरणिक तथा शब्द समूह की कोटियों की शब्दावली उनके वर्णन-प्रसङ्ग में भिन्न पाई जाती है।¹⁰⁹

किसी भाषिक खण्ड के 'आशय' तथा 'मूल्य' जानने के बाद सन्दर्भ के अन्तःस्तर पर परिस्थिति के सम्बद्ध अभिलक्षणों से सम्बन्धित करके हम इसके कण्टेण्ट (पारिस्थितिक आशय) की चर्चा करने योग्य होते हैं। किसी अभिव्यक्ति का सान्दर्भिक अर्थ, इस (अभिव्यक्ति) के आन्तरिक तथा संगत अभिरचनाओं के बीच स्थापित किये जा सकने वाले अर्थ से सम्बद्ध होता है।¹¹⁰ एलिस के अनुसार पारिस्थितिक आशय को हम सन्दर्भ, व्यवस्था तथा संरचना के अन्तर्गत मूल्यात्मक प्रकार के सम्बन्धों के ताने-बाने के रूप में देख सकते हैं। व्याकरणिक तथा कोशीय सभी प्रकार के मर्दों के सान्दर्भिक-अर्थ होते हैं।¹¹¹

यहाँ ध्यातव्य है कि सन्दर्भ से सम्बद्ध रूपीय इकाई सम्भाव्य उक्ति है तथा सूक्ष्मतम इकाई वाक्य है। यहाँ Antal का दृष्टिकोण ध्यातव्य है - 'वाक्य आशय की सबसे छोटी तथा साथ ही साथ अर्थ की सबसे बड़ी इकाई है।'¹¹²

अर्थ के सान्दर्भिक उपागम का उपसंहार करते हुए निम्नोक्त बिन्दुओं पर ध्यान दिया जा सकता है¹¹³ -

1. अर्थ का अन्वेषण भाषिक विश्लेषण के विभिन्न स्तरों तथा अन्तःस्तरों पर किया जाना चाहिए।
2. प्रत्येक स्तर या अन्तःस्तर पर उक्ति का विश्लेषण हमें इकाइयों तथा अभिलक्षणों की शब्दावली में करना चाहिए तथा इनके गुण-धर्म, सहगामिता, प्रतिस्थापन-योग्यता और इनका परिसीमन भी व्याख्यायित होने चाहिए।
3. भाषाविज्ञान के क्षेत्र में आने वाला अर्थ रूप के स्तर पर तथा माध्यम एवं सन्दर्भ के अन्तःस्तर पर होना चाहिए।

अब हम हैलिडे के प्रकार्यात्मक उपागम पर दृष्टिपात करें, जिसमें मुख्य रूप से आर्थी एवं संकेत प्रायोगिक दोनों प्रकार के 'आशय' लिये गये हैं। हैलिडे की भाषिक-प्रकार्यात्मक-दृष्टि आर्थी-संरचना को केन्द्रबिन्दु मानकर चलती है, न कि कुछ अमूर्त वाक्यात्मक-संरचनाओं से घटित रूपात्मक-संरचना को। आर्थी-पक्ष की चर्चा कई प्रकार्यों तथा उपप्रकार्यों के अन्तर्गत की गई है।¹¹⁴ जो निम्नवत् हैं -

I. संज्ञानात्मक (Ideational) प्रकार्य

- | | | |
|-------------|---|----------|
| 1. आनुभाविक | } | उपप्रकाय |
| 2. तार्किक | | |

II. अन्तर्वैयक्तिक (Interpersonal)

3. वाग्मिता-सम्बन्धी (Rhetorical)
4. अभिवृत्तिक (Attitudinal)

III. पाठ-सम्बद्ध (Textual)

5. सविकरण (Thematic)

6. सूचनात्मक (Informational)

आर्थी आशय शब्द-व्याकरण (Lexicogrammar) तथा भाषा के स्वनिम विज्ञान द्वारा व्याख्यायित होता है। दूसरी ओर संकेत प्रायोगिक-आशय - 'सामाजिक-सांस्कृतिकी' अथवा 'पारिस्थितिकी' इनके आधार पर निकाला जाता है। भाषा का आनुभाविक प्रकार्य अपने सहभागियों, प्रक्रियाओं तथा परिस्थितियों के साथ आर्थ-आशय की कोटि के अन्तर्गत आता है। जहाँ तक प्रत्यक्षतः व्याख्यायित अभिलक्षणों का प्रश्न है, तार्किक प्रकार्य भी आर्थ-आशय के अन्तर्गत आता है। परन्तु जब हम अस्पष्ट सम्बन्ध की व्याख्या हेतु बाह्य-सांसारिक-ज्ञान का सहारा लेते हैं तब हम एक (Pragmatic-pool) बना रहे होते हैं। आशय का वह भाग संकेतप्रायोगिक आशय कहलाता है। एक सन्दर्भ में जो आर्थी (Semantic) है दूसरे सन्दर्भ में वह संकेतप्रायोगिक (Pragmatic) हो सकता है। इससे सम्बन्धित इस उपागम में एक आर्थी संकेत-प्रायोगिक चौखट की कल्पना की गई है।¹¹⁵

वाग्मितासम्बद्ध-उपप्रकार्य भी स्वभावतः आर्थी है। इसमें प्रश्नवाचक, निर्देशक आदि वृत्तियाँ (Moods) गृहीत होती हैं। अभिवृत्तिक उपप्रकार्य भी आर्थी-आशय का एक भाग है। इसे कोशीय मदों के चुनाव तथा अनुतानात्मक अभिलक्षणों के प्रसङ्ग में पहचाना जा सकता है। जब भी विशिष्ट चयनों की व्याख्या हेतु अतिरिक्त-वाक्यीय या अतिरिक्त-भाषिक कारणों को सम्मिलित किया जाता है तो हम प्रैग्मेटिक्स के क्षेत्र में होते हैं।

इस प्रसङ्ग में भाषाविदों ने आर्थी एवं प्रैग्मेटिक क्षेत्र की तीन अतिमहत्वपूर्ण परिकल्पनाएँ व्याख्यायित की हैं¹¹⁶ -

1. प्राक्कल्पना (Presupposition)
2. अनुलग्नता (Entailment)
3. निहितार्थ (Implication)

इस प्रकार हम देखते हैं कि फ़र्थ के अनुयायी नव-फ़र्थवादी-भाषाविदों ने फ़र्थ के सूत्र रूप में प्राप्त सान्दर्भिक-सिद्धान्त का न केवल उपबृंहण एवं

स्पष्टीकरण किया अपितु अर्थ के विषय में प्रकार्यात्मक दृष्टिकोण से विचार करके इसे और नवीन एवं विस्तृत आयामों तक पहुँचा दिया। वर्तमान काल में भी इस दिशा में गम्भीर एवं सार्थक प्रयास निरन्तर किये जा रहे हैं जिनसे नवीन तथ्यों की प्राप्ति की पर्याप्त संभावना है।

(ग) अमेरिका में विकसित सिद्धान्त

अपनी चर्चा के प्रथम खण्ड में हमने देखा कि यूरोपीय आर्थी-सिद्धान्त में अर्थ को केन्द्र में रखकर उसके सान्दर्भिक तथा संरचनात्मक अध्ययन पर बल दिया गया है। परन्तु अमेरिका में विकसित सिद्धान्तों के सम्बन्ध में ऐसा नहीं है। यहाँ पर अर्थ-सम्बन्धी अध्ययन इसके प्रारम्भिक काल से लेकर निरन्तर उपेक्षित रहा है। इस पर ध्यान काट्ज़ तथा पोस्टल द्वारा दिलाया गया, जो वाक्य-प्रजनन के साथ आर्थी-प्रतिरूपण का अध्ययन कर रहे थे। अमेरिका में विकसित अर्थ-सिद्धान्तों को मुख्यतः 'प्रजनक-अर्थविज्ञान' (Generative-semantics) कहा जाता है।

अमेरिकी आर्थी-सिद्धान्तों के मध्य हम मुख्य रूप से निम्नलिखित उपागमों पर केन्द्रित रहेंगे -

- (i) काट्ज़ तथा फ़ोडर का उपागम
- (ii) वीनरीख का उपागम
- (iii) प्रजनक-अर्थविज्ञान : लैकॉफ तथा मैकॉले
- (iv) प्रजनक-अर्थविज्ञान : चेफ़
- (v) फ़िल्मोर का कारकीय व्याकरण
- (vi) चॉम्स्कीय उपागम (1965, 1970, 1976, 1981)

(i) काट्ज़ तथा फ़ोडर का उपागम

सम्पूर्ण वाक्य की व्याख्या के क्षेत्र में काट्ज़ तथा फ़ोडर का उपागम पहले कदम की तरह है। जेराल्ड काट्ज़ तथा जेरी फ़ोडर, नोम चॉम्स्की के साथ मेसाचुसेट्स इंस्टीट्यूट ऑफ टेक्नॉलॉजी में काम करने आये दो युवा विद्वान् थे।

इन्होंने प्रजनक व्याकरण के अन्तर्गत एक अर्थपरक सिद्धान्त विकसित करने का जिम्मा लिया। चॉम्स्की द्वारा प्रस्तुत मानक-सिद्धान्त के विकास में अन्य विद्वानों के साथ इनका भी महत्त्वपूर्ण योगदान रहा। काट्ज़ ने 1964 में पोस्टल के साथ अपनी कृति 'An Integrated Theory of Linguistic Description' में सिद्ध किया कि रूपान्तरण-नियम अर्थ को परिवर्तित नहीं करते। प्रक्षेप-नियमों के प्रयोग हेतु सभी आवश्यक सूचनाएँ अन्तर्निहित वाक्यविन्यासी संरचना में उपस्थित होती हैं। इस प्रेक्षण ने भाषाशास्त्रीय-विश्लेषण में वाक्यविन्यास तथा अर्थविज्ञान की आपेक्षिक भूमिकाओं के सम्बन्ध में एक बड़ा विवाद प्रारम्भ कर दिया।

व्याकरण के वाक्य विन्यास घटक द्वारा व्युत्पन्न रचनाङ्ग की रूपिम-माला के अर्थ-निर्धारण के लिए प्रयुक्त नियमों के समुच्चय को प्रजनक अर्थविज्ञान में प्रक्षेप-नियम (Projection-rule) कहते हैं। इनसे मुख्यतः दो प्रकार की सूचनाएँ मिल सकती हैं-

1. कौन सा शब्द और कौन से अर्थ इस सन्दर्भ विशेष में प्रयुक्त हो रहे हैं।
2. कौन सा शब्द वाक्य-प्रयोग में किस शब्द की आकाङ्क्षा करता है।¹¹⁷

1963 में फोडर के साथ 'The Structure of a Semantic Theory' में काट्ज़ ने दो बिन्दुओं पर ध्यान दिलाया - (i) वाक्यों के अर्थ-प्रतिरूपण का प्रदत्त कार्य (Assignment), वाक्यविन्यासीय-संरचना के कार्य की भाँति आवर्ती नियमों से प्रभावित होती है तथा (ii) वाक्य एवं वाक्यार्थ का युग्मन यादृच्छिक नहीं अपितु वाक्य के विन्यासी-संरचना तथा कोशीय-आशय से व्यवहित होता है। कोशीय मद तथा उनके आर्थी-प्रतिरूपण मिलकर उस भाषा के शब्द कोश को संघटित करते हैं। प्रत्येक कोशीय प्रविष्टि में एक या अधिक पाठ मिलते हैं। प्रत्येक पाठ कोशीय-मद के एक आशय का प्रतिनिधित्व करता है। वे आवर्ती नियम जो अपने घटकों के पाठों में से बृहत्तर अभिव्यक्ति के लिए पाठ संरचित करते हैं, प्रेक्षण नियम कहलाते हैं।¹¹⁸ प्रेक्षण नियम रूपिमिक पाठों को वाक्यांश तथा अन्ततः वाक्यात्मक पाठों पर प्रेक्षित करते हुए

वक्ता के अर्थ सम्बन्धी ज्ञान को भी प्रेक्षित करते हैं। कोशीय मद तथा अन्य बृहत्तर घटकों के अर्थ वैचारिक माने जाते हैं, जो और सरल परमाण्विक अवधारणा (Atomic-concept) में विश्लेषित किये जा सकते हैं, जिनका प्रतिनिधित्व 'शब्दार्थ-चिह्नों' (Semantic markers) तथा विभेदकों (Distinguishers) के माध्यम से किया जाता है। इस प्रकार शब्दावली (Vocabulary) को 'शब्दार्थ-चिह्नक' तथा 'विभेदक' मिलकर घटित करते हैं, जिससे सभी प्रकार के पाठ संघटित होते हैं। 'शब्दार्थ-चिह्नक' किसी मद (Item) तथा उस भाषा के शेष शब्दावली के मध्य व्यवस्थापरक सम्बन्धों का प्रतिबिम्बन करता है। कोशीय प्रविष्टि असंरचित पाठों का समुच्चय है, जिसका हर पाठ अर्थ-चिह्नों का व्यवस्थाहित समुच्चय होता है इसके साथ संभावित विभेदक तथा चयन-प्रतिबन्ध भी होते हैं। प्रारम्भिक दौर में यह सोचा जाता था कि बाह्य वाक्यविन्यासी-संरचना आर्थ-घटकों के प्रेक्षण नियम हेतु निविष्ट होती है। परन्तु काट्ज़ तथा पोस्टल ने तर्क दिया कि आन्तर-संरचना को आर्थ रूप से व्याख्यायित होना चाहिए। उनके अनुसार वाक्य विन्यासीय रूपान्तरण संरचना के अर्थ को नहीं बदल सकते। इस प्रकार व्याकरण के पदबन्ध-संरचनात्मक नियमों से उत्पादित 'अन्तः संरचना' व्याकरण के दो अन्य घटकों के लिए निवेश का काम करती हैं : 1. रूपान्तरक-घटक, जिसके नियम इसे बाह्य-संरचना में परिवर्तित कर देते हैं, 2. आर्थ-घटक, जिसमें प्रेक्षण नियम सम्मिलित होते हैं। काट्ज़ के अनुसार किसी भी वाक्य का अर्थ उसके घटकों के प्रकार्यों के रूप में प्राप्त होता है।¹¹⁹ यह विचार अभिहितान्वयवाद के समकक्ष जान पड़ता है। काट्ज़ के अनुसार आर्थ-सिद्धान्त में चर्चित परिस्थितियाँ निम्नवत् हैं - इनके अनुसार आर्थ-सिद्धान्त से अग्रलिखित परिस्थितियों की व्याख्या की जानी चाहिए - पर्यायवाचिता तथा अन्वयान्तर (paraphrase), आर्थी समानता तथा आर्थी विभिन्नता, विलोमिता, आश्रितता (subordination) तथा आश्रयता (superordination), अर्थहीनता तथा आर्थी असंगति, आर्थी-द्व्यर्थकता, आर्थी व्यतिरिक्तता (redundancy), विश्लेषणात्मक-सत्य, विरोधिता, संश्लेषणता, अनियतता (inconsistency) संलग्नता (entailment), पूर्वमान्यता, संभावित उत्तर तथा स्वयं-उत्तरित प्रश्न इत्यादि।¹²⁰

(ii) वीनरीख का उपागम (Weinreich - Approach)

वीनरीख के अनुसार किसी कोशीय-प्रविष्टि को एक त्रिक की तरह समझा जा सकता है - (i) स्वनिमिक अभिलक्षणों का समुच्चय (ii) वाक्य विन्यासीय अभिलक्षणों का समुच्चय (G) तथा (iii) आर्थी-अभिलक्षणों का समुच्चय (M)। इनके अनुसार सन्दिग्धार्थता का सम्बन्ध केवल बाह्य-संरचना से होता है, अन्तःसंरचना इससे मुक्त होती है। उन्होंने दो प्रकार के आर्थ-अभिलक्षणों को परिभाषित किया है - 1. संविन्यास (Configuration, व्यवस्थायुक्त अभिलक्षण), 2. गुच्छ (Cluster, व्यवस्थारहित अभिलक्षण)। यदि किसी संरचना में घटकों के अभिलक्षणों के सम्बन्धों के सभी प्रकार संयुक्त होकर गुच्छ का निर्माण करते हैं, तो वह संरचना सहलग्न (Linking) कही जाती है। यदि वे गुच्छ का निर्माण नहीं करते तो असहलग्न (Non-Linking) कही जाती है। असहलग्न-संरचनाएँ तीन प्रकार की होती हैं - 1. नीडन (Nesting), 2. डीलमिनेशन (Delimitation) 3. वृत्तिकरण (Modalization)¹²¹।

सामान्यतया जब दो कोशीय-मद सहप्रयुक्त होते हैं तो एक के अभिलक्षण दूसरे में संक्रान्त हो जाते हैं। इस घटना को अभिलक्षण-संक्रमण (Transfer feature) कहते हैं। जैसे- 'मधुना मत्तः कोकिलः' में 'मत्तः' पद के साथ प्रयुक्त होने के कारण 'मधु' में मादकत्व के अभिलक्षण संक्रान्त हो गये। इससे अर्थनिर्धारण में सहायता मिलती है। भर्तृहरि द्वारा प्रदर्शित अनेक अन्य कारकों का वर्णन पञ्चम अध्याय में किया जायेगा।

इनके अनुसार मुहावरों को उनके वाक्यविन्यासीय संरचना के साथ शब्दकोश में निविष्ट करना चाहिए अथ च मुहावरे के प्रत्येक घटक को पूरे शब्दकोशीय प्रविष्टियों के साथ मद (Item) बनाया जाना चाहिए।

वीनरीख के उपागम के सम्बन्ध में हम कह सकते हैं कि इसने मैकॉले, लैकॉफ़ तथा रॉस इत्यादि के आर्थ-उपागम के मार्ग को प्रशस्त किया।

आगे प्रजनक-अर्थविज्ञान के उपागमों की विस्तार से चर्चा होगी।

(iii) प्रजनक-अर्थविज्ञान : लैकॉफ़ तथा मैकॉले

प्रजनक अर्थविज्ञान प्रायः प्रजनक-वाक्य विन्यास के विकास के रूप में देखा जाता है परन्तु वास्तविकता कुछ भिन्न ही है। Seuren ने रूपान्तरण-व्याकरण के इन दो विभिन्न उपागमों को अलग-अलग पारिभाषिक शब्दों से कहा है। वे प्रजनक-अर्थविज्ञान को 'आर्थ-वाक्य विन्यास' तथा दूसरे को 'स्वायत्त-वाक्य विन्यास' (Autonomous Syntax) कहते हैं। 'आर्थ-वाक्यविन्यास' के अनुसार आर्थी-संरचना वह संरचना है जिससे 'वाक्य विन्यासीय-संरचना' निकलती है। आर्थी संरचना को 'व्याख्यात-निर्गत' (Interpreted-output) का दर्जा नहीं दिया जा सकता अपितु इसको संरचक निविष्ट माना जाना चाहिए। इस उपागम में आर्थ-अभिलक्षणों सहित आर्थी संरचना को संरचनाओं का समुच्चय माना जाता है। इन आर्थ-अभिलक्षणों के स्थान पर कोशीय-प्रविष्टि रूपान्तरणों द्वारा कोशीय-मद प्रतिस्थापित कर दिये जाते हैं। कोशीय-मद एक ही बार में प्रविष्ट नहीं कराये जाते। वे संरचना की व्युत्पत्ति के विभिन्न दशाओं में प्रवेश पाते हैं। अतः पूर्वकोशीय तथा पश्चकोशीय भेद से रूपान्तरण दो प्रकार के माने गये हैं। इसके विपरीत प्रजनक या स्वायत्त वाक्यविन्यास सभी कोशीय मदों को एक ही बार में प्रविष्ट करने की बातें करता है अतः कोशीय-स्तर पर विशेषित संरचना को आन्तर-संरचना माना जाता है।

प्रजनक-अर्थविज्ञान के कुछ प्रमुख नाम हैं - जे०आर० रॉस, जी० लैकॉफ़ तथा जे० डी० मैकॉले।

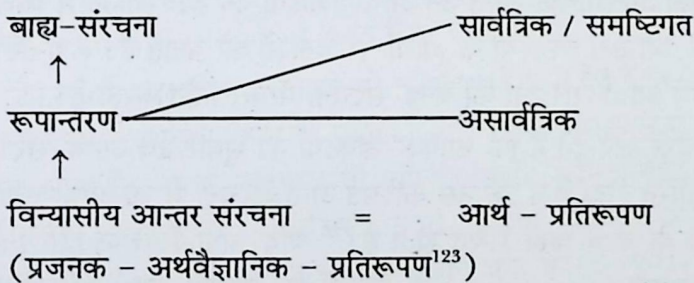
रूपान्तरण-व्याकरण के पूर्वतन विश्लेषण में काल, वृत्ति, पूर्णकालिक तथा अपूर्णकालिक अभिलक्षण सहायक के घटक माने जाते थे। प्रजनक-अर्थविज्ञान ने क्रिया पदबन्ध के अन्दर प्रत्येक सहायक क्रिया को पृथक् आर्थी एवं विन्यासी इकाई के रूप में विश्लेषित किया है।

पारम्परिक कोटियों का भञ्जन भी प्रजनक-अर्थविज्ञान का एक महत्त्वपूर्ण अभिलक्षण रहा है। संज्ञाएँ, क्रियाएँ, विशेषण आदि सभी अंशतः अपने विन्यासी व्यवहार में एक दूसरे को अतिव्याप्त करते हैं। यह अनुभव किया गया कि यदि दो या अधिक पारम्परिक वर्ग एक सामान्य वर्ग में जोड़ दिये जायें तथा विभिन्न

विन्यासीय अभिलक्षणों से उनकी विभिन्नताएँ चिह्नित कर दी जाय तो रूपान्तरण का सामान्यीकरण प्राप्त किया जा सकता है।¹²² इस प्रसङ्ग में लैकॉफ का सुझाव है कि क्रिया तथा विशेषण दोनों एक वर्ग 'क्रिया' में रखे जाएँ। Bach का प्रेक्षण है कि विधेयनामिक विशेषण क्रिया के साथ उनके गुण धर्मों के भागी होते हैं। प्रजनक-अर्थविज्ञान में अर्थसम्बद्ध व्यवस्थात्मक विभिन्नताओं तथा अर्थ के तादात्म्य को भी रूपान्तरण की दृष्टि से ग्रहण किया गया है। यथा - कई विशेषणों के संवादी तथा आकृत्या सम्बद्ध नामधातु होते हैं (जैसे - Harden, Thicken)।

प्रजनक अर्थविज्ञान का अगला चरण ऐसे आन्तर-संरचना से परिचित कराना था जिसमें कोई कोशीय मद नहीं हो केवल सार्वभौम आर्थी तत्त्व हों। प्रारम्भिक रूप में इसे मैकॉले ने 1968 में प्रस्तुत किया था।

जब अन्त्य-प्रतीक (Terminal-symbol) के रूप में सार्वभौम-आर्थी तत्त्वों को वाक्यविन्यासीय-संरचना के आश्रित स्वीकार कर लिया जाता है तब वाक्यों की आन्तर-संरचनाएँ उनके आर्थी-प्रतिरूपण का काम कर सकती हैं।



प्रजनक अर्थविज्ञान सार्वभौम-नियमों तथा व्युत्पादक-बाध्यताओं अर्थात्-रूपान्तरणों को स्वीकार करता है। इसके अनुसार रूपान्तरण ऐसी व्युत्पादक-बाध्यताएँ हैं जो व्यष्टिगत (Local) होती हैं। ये दो सहवर्ती पदबन्ध चिह्नों के मध्य सहमति योग्य सम्बन्धों को निश्चित करते हैं। लैकॉफ तथा अन्य विद्वान् प्रजनक अर्थविज्ञान को रूपान्तरक व्याकरण का प्रकार स्वीकार नहीं करते।

पोस्टल के अनुसार चूँकि अर्थविज्ञान के साथ व्याकरणिक-सम्बन्ध अत्यन्त संगत हैं अतः वाक्य विन्यासीय नियमों तथा आर्थ-नियमों के मध्य स्पष्ट भेद उचित नहीं हैं।¹²⁴ रॉस द्वारा विकसित व्याकरण-सम्बद्ध स्क्वशी उपागम मानक सिद्धान्त की इस माध्यता की मान्यता को नकारता है कि "घटक को या तो किसी निश्चित फ़ोटि का सदस्य होना चाहिये या नहीं।" कोटिगत-सदस्यता मात्रा का विषय है तथा विभिन्न विन्यासीय रूपान्तरण माँग के अनुसार सदस्यता की मात्रा (degree) के सम्बन्ध में भिन्न हो सकते हैं।

प्रजनक-अर्थवैज्ञानिक यह घोषणा करते रहे हैं कि संसार, वक्ता तथा श्रोता के संसार सम्बन्धी-विश्वास, उनके सापेक्ष सामाजिक-हैसियत, शैली-वैज्ञानिक-पक्षपात सभी प्रकार की शैली वैज्ञानिक बाध्यताएँ इत्यादि तत्त्वों से सम्बद्ध तथ्यों को व्याकरण के अन्तर्भूत किया जाना चाहिए, जो भाषा के लिए रूप तथा अर्थ के सहसम्बन्ध को निश्चित करता है।

(iv) प्रजनक-अर्थविज्ञान

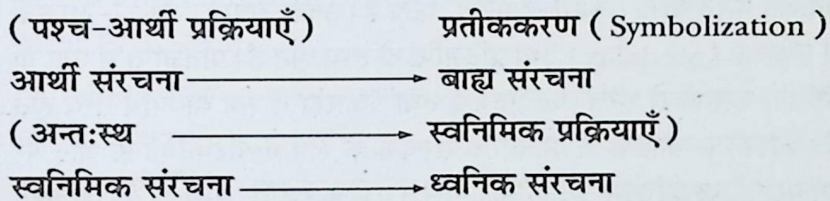
जब हम आन्तर-संरचना को क्रम-रहित आर्थी अभिलक्षण के रूप में व्यवहृत करते हैं तब हमारा आधार और सुरक्षित हो जाता है। किसी भाषा के वक्ता का आनुभविक जगत् उन आर्थ-इकाइयों की व्यवस्थाओं में व्यवस्थित रहता है, जो उस व्यवस्था के आर्थी-संरचनाओं को बनाते हैं। रूपान्तरणों का समुच्चय आर्थी-संरचना को बाह्य-संरचना में परिवर्तित करता है।

चेफ़्र जोर देते हैं कि भाषिक-उक्तियों का सुघटितत्व आर्थी-संरचना में ही निर्धारित होता है न कि उस कल्पित अन्तःसंरचना में जो आर्थी तथा बाह्य संरचना के बीच कहीं स्थित होता है।¹²⁵ यदि भाषा-विशिष्ट द्वारा निर्देशित आर्थी-रचना (formation) के नियमों के अनुसार आर्थी-संरचना उचित रीति से विन्यस्त की जाय तो एक सुघटित ध्वनिक निर्गत (output) सामान्यतया सम्भाव्य है।

प्रस्तुत सिद्धान्त के अनुसार सभी भाषाओं की बाह्य-संरचना 'क्रिया' की केन्द्रीयता पर आधारित होनी चाहिए क्योंकि क्रिया ही वाक्य के शेष मुख्य संरचक-अभिलक्षणों को निर्धारित करती है। क्रिया चयन से सम्बद्ध अनेक

इकाइयों की शब्दावली में विशेषित की जा सकती है, जिसका एक कार्य वैचारिक क्षेत्र का नियमन होता है। क्रिया की चयनीय-इकाइयों के दो भिन्न प्रकार्य हैं। 1-क्रिया के बाहर कार्य करते हुए वे सहभागी संज्ञाओं की उपस्थिति को निर्धारित करती हैं तथा 2- क्रिया के अन्तर्गत कार्य करते हुए वे कोशीय इकाई अथवा धातु के चयन को सीमित करती हैं।

‘भाषा अर्थ को ध्वनि में बदलने की प्रणाली है’ इस मान्यता से प्रारम्भ करते हुए चार प्रकार की भिन्न प्रकार प्रक्रियाएँ कार्यरत होती हैं - रचना, रूपान्तरण, प्रतीककरण तथा स्वनिमिक प्रक्रियाएँ। सम्पूर्ण चित्र निम्नवत् दृष्टिगोचर होगा-



पहले पश्चआर्थी-प्रक्रियाओं में बाह्यसंरचनात्मक कर्ता एवं कर्म संज्ञाओं का आर्थी-इकाइयों के आधार पर निर्णय होता है। इसके बाद सहमति (agreement) नियम एक तत्त्व को दूसरे के साथ संघटित करते हैं। इस रेखीकरण (linearization) पर ध्यान दिया जाता है।

उन आर्थी-व्युत्पत्ति-प्रक्रियाओं की शृंखला की सूची देते हैं जिसके द्वारा एक रूप दूसरे से व्युत्पन्न किया जा सकता है।¹²⁶ चेफ़ ने क्रिया-संज्ञा के सात सम्बन्ध बताए हैं - कर्ता, अनुभवकर्ता, संप्रदान, पेशेंट, कॉम्प्लीमेण्ट, आधार तथा करण। करण के अतिरिक्त सभी कारक ‘क्रिया सम्बन्धी’ चयनीय-अभिलक्षण की माँग करते हैं। उन्होंने एक कारक-बन्ध-आधात्री (case frame matrix) देने का प्रयत्न किया है, जिससे चार मूल क्रिया-प्रकारों का तथा उपर्युक्त छः कारकों का उपयोग होता है।¹²⁷ इस प्रकार क्रिया के अभिलक्षणों की पहचान करके हम वाक्य-पूरण हेतु अन्य शब्दों का चयन भी कर सकते हैं।

(v) फ़िल्मोर का कारकीय व्याकरण

फ़िल्मोर का कारक सिद्धान्त मूलतः रूपान्तरण-वाक्यविन्यासीय मॉडल पर आधारित है। इस सिद्धान्त में 'मानक-सिद्धान्त' की अपेक्षा आन्तर-संरचना के स्तर का अधिक अमूर्त तथा अधिक अर्थ-सम्बद्ध होना मुख्य अन्तर है।

पूर्व अध्याय में वाक्य-संरचना पर कारकीय-व्याकरण के सिद्धान्त वर्णित हो चुके हैं, अतः चर्चा के इस अंश का विषय इसके आर्थ सिद्धान्तों से सम्बन्धित रहेगा। फ़िल्मोर ने कर्ता तथा कर्म को बाह्य-संरचनात्मक-कोटियाँ जबकि कारकों को संज्ञा तथा क्रिया के मध्य वाक्यविन्यासी+आर्थी सम्बन्ध प्रदर्शित करने वाली 'आर्थी-कोटियाँ' कहा है। उनके अनुसार आन्तर-संरचना में प्रकारता (Modality) तथा प्रतिज्ञप्ति दो तत्त्व होते हैं। प्रतिज्ञप्ति में एक या अधिक कारकों से सम्बन्धित क्रियाएँ तथा प्रकारता में शेष वाक्यीय तत्त्व होते हैं। कारकीय-कोटियों के आन्तरिक संरचना के रूप में परिभाषित हो जाने पर इन कारकों पर अधिकृत संज्ञाएँ बाह्य-संरचना में कारकीय-सम्बन्धों को व्यवहित किये बिना किसी भी स्थिति में आ सकती है। इस प्रकार स्पष्ट है कि आर्थ सम्बन्ध वाक्यविन्यासी भूमिका की अपेक्षा स्थिर है। अन्य आर्थी-सम्बन्धों की पहचान हेतु कुछ उदाहरण प्रस्तुत हैं -

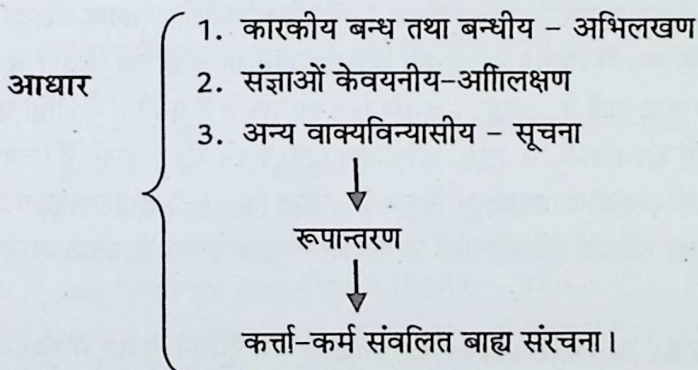
1. John gave Jill the doll.
2. John gave the doll to Jill.
3. Jill was given the doll by John.
4. The doll was given to Jill by John.

उपर्युक्त वाक्यों में प्रत्येक संज्ञा (John, Jill & Doll) समान आर्थ-सम्बन्धों में स्थित है - क्रमशः प्रकर्ता, अनुभावक, कर्म (Agentive, Experiencer, Objective) में। वाक्य में कई प्रकार की संज्ञाएँ होती हैं। सम्बद्ध क्रियाओं से अर्थवैज्ञानिक रीति में परिभाषित कारकीय-सम्बन्ध इन संज्ञाओं को विशेषित करते हैं। प्रत्येक कारकीय-संविन्यास एक वाक्यीय-फ्रेम प्रदान करता है जिसमें कुछ क्रियाएँ निविष्ट की जा सकती हैं तथा अन्य नहीं। जैसे 'open' क्रिया निम्न कारकों से युक्त हो सकती है- open [-OBJ]

(AGT)(INST)] आदि। फ़िल्मोर सुझाते हैं कि प्रत्येक कारकीय फ़्रेम क्रिया के सम्बन्ध में सभी वाक्यविन्यासीय तथा आर्थी-सूचना देता है। वाक्यविन्यासीय सूचना यथासमय उचित रूपान्तरण को घटित होने में प्रेरित करती है।

फ़िल्मोर ने शब्दार्थ के संगत-संप्रेषणात्मक-घटक तथा संकेत्य के सम्यक्-चयन के निर्धारक परन्तु वाच्य से असम्बद्ध प्राक्कल्पनाओं के मध्य भेद स्पष्ट किया। इन्होंने 'लक्ष्यार्थ-निर्धारक' (connotative-predicate) शब्दों (even, still, only, also, already आदि) के बारे में भी ध्यान आकृष्ट कराया। ये उक्ति के आधारभूत सूचना को देने के अतिरिक्त लक्ष्यार्थ को भी स्पष्ट करते हैं।

अन्ततः फ़िल्मोर वाक्य-वर्णन के आर्थ-सिद्धान्त तथा कोशीय-वर्णन के तर्क-सम्प्रेषणपरक (Logico-communicative) सिद्धान्त में एक विरोधिता स्थापित करते हैं। फ़िल्मोर के अनुसार आन्तर वाक्यविन्यासी संरचना सार्वभौम है तथा भाषाओं के मध्य प्ररूपी (Typological) भिन्नताएँ तब मिलती हैं, जब ये संरचनाएँ सतह (Surface) पर प्रतिफलित होती हैं। फ़िल्मोर का कारकीय-सिद्धान्त निम्नवत् दिखाया जा सकता है।¹²⁸



(vi) चॉम्स्कीय - उपागम (Chomskyan Approach)

पूर्वतन अध्याय में वाक्य-संरचना-विषयक चॉम्स्की के मन्तव्यों का

विस्तार पूर्वक वर्णन किया गया है। प्रस्तुत विषय पर चॉम्स्की के विचारों पर एक दृष्टि आवश्यक है। व्याकरण में अर्थ की उपयोगिता पर उनके विचारों में 1957 से लेकर (Syntactic Structures), 1975 (Reflections on Language), 1981 (Lectures on Government and Binding) तक कई महत्वपूर्ण परिवर्तन देखे गये हैं।

'Syntactic Structures' में चॉम्स्की जन्मजात वक्ता की शुद्ध्यशुद्धि विवेक करने की योग्यता की खोज पर विशेष-दृष्टि थी। इस समय अर्थविज्ञान मुख्य भाषा-शास्त्र से बाहर तथा वाक्यविन्यासीय-वर्णन की अपेक्षा गौण था। व्याकरण-संरचना में इसका कोई भी योगदान नहीं था।

1965 में जाकर उन्होंने वाक्य की आन्तर तथा बाह्य दो संरचनाओं का विभेद किया तथा इसके द्वारा अर्थ अर्थात् एक वाक्य की कई व्याख्याएँ चिह्नित की गईं। यह मानक सिद्धान्त कहलाता है तथा यह कमोबेश फोडर तथा काट्ज़ (1963) के प्रसंग में की गई चर्चा जैसी ही है। इसमें वाक्य के आन्तर-संरचना को अर्थ वैज्ञानिक रीति से आर्थी-घटक द्वारा व्याख्यात किया जाता था। यह घटक 'कोश' तथा 'प्रेक्षण नियमों' से संघटित था।

1971 में चॉम्स्की ने जेकेण्डॉन, कुरोडा तथा एमण्ड्स के कार्यों के आधार पर पूर्व सिद्धान्त का सुधार किया। अब इसे परिवर्द्धित-मानक-सिद्धान्त (EST) के रूप में जाना गया। इसके अनुसार अर्थ के कुछ पक्ष केवल बाह्य संरचना के कुछ पक्षों के प्रसङ्ग में कारण माने जा सकते हैं क्योंकि ये बाह्य एवं आन्तर दोनों संरचनाओं को आर्थ-प्रतिरूपण प्राप्त करने योग्य बनाते हैं। उनके तर्कों के अर्थ सम्बन्धी दो महत्वपूर्ण विचार हैं - केन्द्र (focus) तथा प्राक्कल्पना। ये दोनों बाह्य संरचना की घटनाओं बलाघात तथा अनुतान से सतत सम्बद्ध हैं।

1975 (Reflections on Language) में पूर्वतन विचार में संशोधन करके उसे परिशोधित परिवर्द्धित मानक सिद्धान्त (REST) का नाम दिया गया। इसमें आन्तर संरचना शब्द को छोड़कर केवल प्रारम्भिक पदबन्ध चिह्नक (Initial phrase marker) तथा बाह्य संरचना शब्दों का प्रयोग हुआ। REST की प्रमुख अवधारणा लेश सिद्धान्त (Trace Theory) है। लेश

(Trace) रचनान्तरण व्याकरण में घटकों का स्थानान्तरण होता है। घटक जिस स्थान को छोड़कर चला जाता है वह रिक्त स्थान लेश कहलाता है।¹²⁹ कर्तृ तथा कर्म वाच्य के अर्थों की शृंखला में भेद की चर्चा दो दिशाओं में प्रकट होती है। 1. यह दोनों में संरचनात्मक-विभेद लाता है। 2. यह कई तथ्यात्मक निर्णयों तथा लक्ष्यात्मक अर्थों को प्रकट करता है। व्याकरण की सामान्य संरचना पर चॉम्स्कीय विचार निम्नवत् प्रस्तुत हो सकते हैं [जहाँ - B = Base, IPM = (Initial Phrase marker), T (Transformation), SS = (Surface Structure), SR = (Semantic Representation)]

Sentence Grammar $\xrightarrow{B}$ IPM $\xrightarrow{T}$ SS $\xrightarrow{SR-1}$ LF = Logical Form

इस प्रकार इस अध्याय में भारतीय तथा पाश्चात्य विद्वानों के प्रमुख वाक्यार्थ सिद्धान्तों की चर्चा प्रस्तुत की गई।

अगला अध्याय वाक्यार्थ निर्धारण के 'रेलेवेंस-सिद्धान्त' पर केन्द्रित है।

सन्दर्भ

1. वा०प० (2 / 116)
2. 'इह खलु पदकदम्बकश्रवणसमनन्तरमविवादं विदितसंगतीनां अनधिगतार्थविषया धीरुदयमासादयति।' (तत्त्वबिन्दु-वाचस्पतिमिश्र, पृ० 4-5)
3. श०श०प्र० - 12
4. बौद्ध दार्शनिक शब्द-प्रमाण का अन्तर्भाव अनुमान प्रमाण में करते हैं।
5. 'साक्षाक्षशब्दैर्यो बोधस्तदर्थान्वयगोचरः। सोऽयं नियन्त्रितार्थत्वात् न प्रत्यक्षं न चानुमा॥' (श०श०प्र० 3)
6. 'धर्मं जिज्ञासमानानां प्रमाणं परमं श्रुतिः।' (मनुस्मृति 2/13)
7. 'अस्या निमित्तं प्रति विवदन्ते वादिनः।' त०बि० - पृ० 6
8. Bheda & Samsarga in Indian Semantics - Kamaleshwar Bhattacharya, Dr. B.R. Sharma Felicitation Volume, and 'Problems of Meaning in Indian Philosophy'
9. Apoha & Pratibha - Masaaki Hattori, Paper edited in 'Sanskrit and Indian studies, p. - 61-73
10. Bheda & Samsarga in Indian Semantics
11. प्रमाण समुच्चय - दिङ्नाग; Indian Theories of Meaning, पृ० 405 पर उद्धृत

12. Apoha & Pratibha' - Masaaki Hattori, Paper in 'Sanskrit and Indian Studies', p. 61-73
13. ज्ञानश्रीमित्रनिबन्धावली
14. प्रमाणवार्तिक - धर्मकीर्ति 3/17
15. प्रमाण-समुच्चय -दिङ्नाग, वा०का० 46, Masaaki Hattori द्वारा उद्धृत।
16. Apoha & Pratibha - Masaaki Hattori, Paper in 'Sanskrit and Indian Studies' p. 61-73
17. 'निरुक्त'-यास्क, प्रथम अध्याय / प्रथम खण्ड
18. विशेष विवरण हेतु - 'अर्थसंग्रह' पृ० - 7 से 15
19. तन्त्रवार्तिक (7/427)
20. तन्त्रवार्तिक (2/1/1), और भी
'प्रत्ययार्थ सह ब्रूतः प्रकृतिप्रत्ययौ सदा।
प्राधान्याद् भावना तेन प्रत्ययार्थोऽवगम्यते॥
तथा क्रमवतोर्नित्यं प्रकृतिप्रत्ययांशयोः।
प्रत्ययश्रुतिवेलायां भावनात्माऽवगम्यते॥' (तन्त्रवार्तिक 2/348-49)
21. मी०सू० (1/1/24)
22. 'भारतीय अर्थविज्ञान के प्रमुख सिद्धान्त' डॉ० हरिसिंह सेंगर, पृ० 151
23. 'तत्सत्त्वे तत्सत्त्वम् अन्वयः / तदभावे तदभावः व्यतिरेकः।
24. न्या०सि०मु० - शब्दखण्ड
25. "तस्मिन् प्रयोगे य आख्यातार्थ इत्यावश्यकत्वेन 'देवदत्तः पक्ता' इत्याख्यातशून्ये देवदत्तस्याकर्तृत्वापत्तेः।" (वै०भू० सारः)
26. 'शाब्दतरङ्गिणी' - षष्ठतरङ्ग, पृ० 179
27. न्यायकोश - शाब्दबोध के अन्तर्गत
28. वा०प० (2/144)
29. न्या०सि०मु० - शब्दखण्ड - प्रथम कारिका
30. व्युत्पत्तिवादः (प्राथमिक पङ्क्ति) - गदाधर भट्ट।
31. भारतीय अर्थविज्ञान के प्रमुख सिद्धान्त - हरिसिंह सेंगर, पृ० 114
32. अन्विताभिधानाभिहितान्वयवादयोः स्वरूपम् - श्रीसुधाकरदीक्षितः - सारस्वती-सुषमा 2039 वि० में सङ्कलित लेख
33. 'शब्दबुद्धिकर्मणां विरम्य व्यापाराभावः।' (साहित्यदर्पण, प्रथम परिच्छेद)
34. श्लोकवार्तिक, वा०मा० 10 की स्वो० वृ० में उद्धृत।
35. मी०सू० (1/1/7/25)

36. शा०भा० (1/1/25), अन्य स्रोत - 'अनेकपदानुरक्तो वाक्यार्थः स च पदार्थमूलो न सङ्केतमूलः' (शा०भा० 1/1/7), 'वाक्यार्थश्च पदार्थपूर्वको भवति' भा० (5/1/514), टुप् (6/1/1/3), (10/4/12/23) - केवलानन्द सरस्वती सम्पादित 'मीमांसा कोष', वाक्यार्थ के अन्तर्गत।
37. 'शक्त्यैकया कथं हि स्यादुभयोरभिधेयता।' (वाक्यार्थनिर्णय, श्लोक 12)
38. श्लो०वा० (वाक्या० 114-15)
39. 'साक्षाद्यद्यपि कुर्वन्ति पदार्थप्रतिपादनम्।
वर्णास्तथापि नैतस्मिन् पर्यवस्यन्ति निष्फले॥
वाक्यार्थमित्ये तेषां प्रवृत्तौ नान्तरीयकम्।
पाके ज्वालेव काष्ठानां पदार्थप्रतिपादनम्॥' श्लो०वा० (वाक्या० 342-343)
40. 'स्यात् स्वरूपाभिधानेऽपि धीर्विशिष्टार्थगोचरा।
विशेषधीर्हि सामान्यादनायासेन सिध्यति॥' (श्लो०वा०)
41. 'वाच्यार्थस्य वाक्यार्थे सम्बन्धानुपपत्तिः।
तत्सम्बन्धवशप्राप्तस्यान्वयाल्लक्षणोच्यते॥' (तत्त्वबिन्दु पृ० 156 पर उद्धृत)
42. वाक्यार्थनिर्णय 43 : पार्थसारथिमिश्र
43. वा०प० (2/42)
44. वा०प० (2/41)
45. 'सर्वभेदानुगुण्यं तु सामान्यमपरे विदुः।
तदर्थान्तरसंसर्गाद् भजते भेदरूपताम्॥' (वा०प० 2/44)
46. वा०प० (2/46)
47. वा०प० (2/113)
48. Sentential meaning: Bhartrhari's view; D.N. Tiwari, J.I.C.P.R. - January - March - 2002, p. - 134
49. संस्कृत-व्याकरण-दर्शन, रामसुरेश त्रिपाठी, पृ० 368
50. वा०प० (2/344)
51. वा०प० (2/15)
52. वही, (2/16)
53. 'यस्य तस्य न सम्बन्धः शब्दानामुपपद्यते।' (वा०प० 2/113)
54. 'पदेभ्य एव वाक्यार्थप्रत्ययो जायते' (वाक्यार्थमातृका, श्लोक 1)
55. वाक्यार्थमातृका (श्लोक 3)
56. 'अन्विताभिधानाभिहितान्वयवादयोः स्वरूपम्' - सुधाकर दीक्षित, सा० सु० - 2039 में सङ्कलित।
57. 'प्राथम्यादभिधातृत्वात्तात्पर्योपगमादपि।
पदानामेव सा शक्तिर्वरमित्युपगम्यताम्।' वा०मा०-11

58. वाक्यार्थमातृका - 2
59. 'प्रतिपत्तिगुणानां हि प्रधानैकप्रयोजना।' (वा०मा०-5)
60. वाक्यार्थमातृका-4
61. वा०मा० 8 की स्वी० वृ० में उद्धृत।
62. वा०प० (2/418)
63. वही (2/18)
64. वही (2/18)
65. वही (2/326)
66. 'क्रिया नियतसाधना' (वा०प०-2/47)
67. वही (2/417)
68. वही (2/426)
69. Sentential meaning : Bhartrihari's Arguments, D.N. Tiwari, p. - 142, JICPR, Jan - March, 2002
70. वा०प० (2/262)
71. पुण्यराज, (वा०प० 2/1)
72. वही (2/143)
73. '... न तत्र काचिदभिहितान्वयवादान्विताभिधानचर्चा।' (पुण्यराज, वा०प० 2/1)
74. Sentential Meaning : Bhartrihari's Arguments, D.N. Tiwari, p. 143, JICPR, Jan-March, 2002
75. वा०प० (2/144)
76. 'प्रमाणत्वेन तं लोकः सर्वः समनुपश्यति।' वा० प० (2/147)
77. 'साक्षाच्छब्देन जनितां भावनाऽनुगमेन वा।' (वा०प० 2/146)
78. वही (2/148)
79. वही (2/149-150)
80. 'स्वभावचरणाभ्यासयोगादृष्ट्येवपादिताम्।
विशिष्ट्येपहितां चेति प्रतिभां षड्विधां विदुः॥' (वा०प० 2/152)
81. वा०प० (2/117)
82. Semantic - Analysis - Ziff, P., 'Language Habits in Human affairs' I.J. Lee, quoted in 'Semantic Theories and Language Teaching.' p.1-2
83. विस्तृत विवेचन हेतु - Semantic Theories and Language Teaching, p-12-13
84. 'The port Royal Grammar', T. Riux & B.E. Rollin (ed.), cited in 'Semantic Theories and Language teaching', p. 13
85. Language, p. 140
86. Semantics : Theories of Meaning in Generative Grammar - p. -1

87. Ibid – p.-2
88. Ibid, p. – 3
89. Semantics: Theories of meaning in Generative Grammar, p. 6
90. Semantics : Theories of meaning in Generative Grammar, p.-13
91. *Über Sinn und Bedeutung*, Zeitschrift für Philosophie und Philosophische Kritik' - 100, 25-50, quoted in semantics: Theories of Meaning in Generative Grammar.
92. 'पदं व्यवसितत्राणस्थानलक्ष्माङ्घ्रिवस्तुषु' अमरकोश-3/93
93. Semantics: Theories of meaning of meaning in Generative Grammar, p.- 18-19
94. Philosophical – Investigations – Wittgenstein, cited in – Semantics: Theories of Meaning in Generative Grammar, p. 19
95. Meaning and verification- Philosophical Review XLV, 339-369
96. How to do Things with Words - 1962 ,quoted in 'Semantics: Theories of meaning in Generative Grammar'
97. Logic and conversation, H.P. Grice, see Ibid. 21-27
98. Papers in Linguistics, p. - 19-26
99. 'The study of words in cultural familiarity describes the semantic aspect of language.' Ibid p. - 29
100. Linguistic analysis as theory of meaning'
101. A new approach to Grammar
102. A synopsis of Linguistic theory, p. - 55
103. 'Meaning by collocation is an abstraction at the syntagmatic level and is not directly concerned with the conceptual or idea approach to meaning of words' 'papers in linguistics'
104. आधुनिक भाषाविज्ञान की भूमिका, पृ० 84
105. वही, पृष्ठ – 85
106. The Inseparability of Semantics and Pragmatics, Conference-paper
107. For detail - Semantic Theories and Language Teaching, p. 67-69
108. On Contextual Meaning, p.-80
109. On Formal and Contextual Meaning, p. - 23
110. On Formal and contextual Meaning- Dixon R.M.W. Quoted in Semantic Theories & Language teaching.
111. On Contextual Meaning – Ellis, p. 80-81
112. Quoted in - Semantic Theories and Language teaching, p.-73
113. Ibid. – p.-74

114. For details – 'Notes on Transitivity and Theme in English' Halliday - JOL, Vol. 3 p. 37-38
115. Principles of Pragmatics' Leech, G.N. – 56-73
116. For detailed description - Semantic Theories and Language teaching p. 77-78
117. भाषाविज्ञान परिभाषा कोश, 'प्रक्षेप-नियम' के अन्तर्गत।
118. 'The recursive rules that construct readings for larger experssion out of the reading for their constituents are called projection Rules.': Semantics Theories of Meaning in Generative Grammar' p. 64
119. The Philosophy of Language, J. Katz, p. - 152
120. Semantic – Theory, -J. Katz , p.s - 6-7
121. For detail – Explorations in Semantic - Thoery, p.s 424-428
122. For details - Semantic Theories and Language Teaching, p. - 34
123. Quoted in Semantic Theories and Language Teaching., p. - 28
124. On Raising: One Rule of English Grammar and it's theoretical Implications.
125. Meaning and Structure of Language, p. - 65
126. Meaning and Structure of Language, p. - 119-43
127. For details : Semantic Theories and Language teaching, p. 35-39
128. Given in - Semantic Theories and language teaching, p.-47
129. भाषाविज्ञान-परिभाषा-कोश; 'लेश' के अन्तर्गत।

चतुर्थ अध्याय रेलेवेंस-सिद्धान्त

(क) रेलेवेंस-सिद्धान्त : इतिहास

प्रस्तुत चतुर्थ अध्याय तथा अग्रिम पञ्चम अध्याय प्रकृत प्रबन्ध के केन्द्रीय भाग को संघटित करते हैं। चतुर्थ अध्याय में रेलेवेंस सिद्धान्त के संक्षिप्त इतिहास तथा इसके सैद्धान्तिक-पक्षों पर प्रकाश डालने का प्रयास किया गया है।

रेलेवेंस-सिद्धान्तका संक्षिप्त विवरण आगे प्रस्तुत है।

रेलेवेंस का प्रतिपादन करने वाली पुस्तक पहली बार सन् 1986 में प्रकाश में आई थी तथा अब तक इसके दो संस्करण प्रकाशित हो चुके हैं। यह सिद्धान्त सत्ताइस वर्ष पुराना है तथा अभी भी निरन्तर विकसित हो रहा है। इस अध्याय में सिद्धान्तों से सम्बन्धित पक्षों की चर्चा विस्तारपूर्वक की गई है।

इस अध्याय का विभाग तीन प्रमुख अंशों में किया गया है -

(क) इतिहास (ख) सिद्धान्त (ग) गुणदोष विवेचन

सिद्धान्तगत गुण-दोषों की चर्चा पाँचवें अध्याय में की जाने वाली स्थापनाओं के लिए अनुकूल भूमि का निर्माण करने में सहायक होगी।

रेलेवेंस सिद्धान्त प्रारम्भिक रूप से दो पाश्चात्य विद्वानों के संयुक्त चिन्तन का परिणाम है। बाद में अनेक विद्वानों ने भिन्न-भिन्न दृष्टियों से इसमें परिवर्तन-परिवर्द्धन के सुझाव दिये तथा खण्डनपरक आलोचनाएँ प्रस्तुत कीं। इन दो विद्वानों में से एक डैन-स्पर्बर् (Dan Sperber) तथा दूसरा रीडर (R. E. ...)

विल्सन (Deirdre Wilson) हैं। डैन-स्पर्बर पेरिस (फ्रांस) के Ecole Polytechnique में शोध-निर्देशक (Directeur de Recherche) रहे हैं तथा डिएर्डी विल्सन युनिवर्सिटी कॉलेज लन्दन में भाषा विज्ञान के प्राचार्य-पद पर प्रतिष्ठित हैं।

डैन स्पर्बर फ्रांसीसी मानव विज्ञानी, भाषाविद्, तथा संज्ञान-वैज्ञानिक (Cognitive-scientist) हैं। इस समय वे पेरिस के Jean Nicadi इंस्टिट्यूट में शोध-निदेशक के पद पर हैं। वे epidemiology of representation सम्बन्धी अपने सिद्धान्त के कारण भी जाने जाते हैं।

सत्तर के दशक के प्रारम्भ में स्पर्बर फ्रांस में प्रचलित मानवविज्ञान सम्बन्धी संरचनावाद के प्रखर आलोचक रहे हैं। उन्होंने सांस्कृतिक-वितरण की कारणभूत संज्ञानात्मक-बाध्यताओं पर सञ्ज्ञान-प्रक्रिया की भूमिका को स्पष्ट किया। इससे प्रतीकवाद को सञ्ज्ञानात्मक दिशा मिली। लेखक की अन्य प्रमुख रचनाओं का विवरण निम्नोक्त प्रकार से है -

1. Le Structuralism en anthropologie (Paris, Seul, 1973)
2. Rethinking Symbolism (Cambridge University Press, 1975)
3. On Anthropological Knowledge (Cambridge University Press, 1985)
4. Explaining Culture (Blackwell - 1996)

इसके अतिरिक्त रेलेवेस तथा अन्य संज्ञानात्मक विषय पर इनके द्वारा अनेकों शोध पत्र, मोनोग्राफ़ तथा विभिन्न कोशों में प्रविष्टियाँ तैयार की गई हैं, जिनमें से प्रमुख का विवरण संदर्भ ग्रन्थ सूची में प्राप्य होगा।

प्रस्तुत सिद्धान्त का प्रतिपादन करने वाली पुस्तक का प्रथम प्रकाशन यद्यपि 1986 ई० में हुआ परन्तु इसकी प्रक्रिया लगभग दस वर्ष पूर्व ही प्रारम्भ हो चुकी थी। द्वितीय संस्करण की भूमिका में लेखकों ने इसका संक्षिप्त विवरण दिया है।

वर्ष 1975 में Deirdre Wilson ने 'प्राक्कल्पनाएँ तथा अ-सत्याश्रित अर्थविज्ञान (Presuppositions and Non-truth Conditional

Semantics) तथा स्पर्बर ने लेख *Rediments de rhetorique cognitive* लेख प्रकाशित किये। इनमें ये दोनों प्रैग्मैटिक्स के उस सिद्धान्त की ओर बढ़ रहे थे जिसका विषय था - शब्दजन्य-सम्प्रेषण में सान्दर्भिक-कारकों का अध्ययन। यद्यपि दोनों के दृष्टिकोण भिन्न-भिन्न थे। विल्सन स्पष्ट करना चाहती थीं कि किस प्रकार अनेकों अर्थ वैज्ञानिक समस्याओं का समाधान प्रैग्मैटिक स्तर पर अधिक अच्छी तरह से किया जा सकता है, जबकि स्पर्बर काव्यालङ्कारों का मूल प्रैग्मैटिक्स में खोज रहे थे। तदनन्तर इन्होंने कुछ महीनों में संयुक्त रूप से एक शोध-पत्र लिखने का निश्चय किया। इस प्रस्ताव का विषय 'अर्थविज्ञान, प्रैग्मैटिक्स तथा Rhetoric के मध्य सातत्य तथा असातत्य का प्रदर्शन करना था। परन्तु यह कार्य मासों में नहीं अपितु वर्षों में पूर्ण होने वाला था। प्रस्तावित शोध-निबन्ध के स्थान पर शोध-पत्रों की शृंखलाएँ बन गई जिसका परिणाम प्रस्तुत पुस्तक के रूप में सामने आया।

पुस्तक - Relevance : Communication and Cognition (रेलेवेंस : सम्प्रेषण तथा संज्ञान) प्रथमतः 1986 ई० में ब्लैकवेल पब्लिशर्स लिमिटेड (यू०के० तथा यू०एस०ए०)³ से प्रकाशित होकर सामने आयी। इस प्रथम संस्करण के चार बार (1986, 1988, 1990, 1993 में) पुनर्मुद्रण हुए। पुस्तक के प्रथम संस्करण में चार अध्याय सम्मिलित किये गये हैं। ये हैं सम्प्रेषण, आनुमानिक प्रक्रिया, रेलेवेंस तथा शाब्द सम्प्रेषण के पक्ष। इनका विवेचन अध्याय के द्वितीय (सिद्धान्त) भाग में प्राप्त होगा।

नौ वर्षों के बाद 1995 ई० में प्रस्तुत पुस्तक का दूसरा संस्करण पूर्वोक्त प्रकाशन से ही प्रकाशित हुआ। द्वितीय संस्करण में मूल भाग के मुद्रण सम्बन्धी तथा अन्य दोषों को दूर कर दिया गया साथ ही सन्दर्भों का नवीनीकरण करके कुछ व्याख्यात्मक टिप्पणियाँ और जोड़ दी गयी हैं।

द्वितीय संस्करण की एक विशेषता इसमें अनुबन्ध (postface) का होना है। अनुबन्ध में प्रथम प्रकाशन से लेकर अगले नौ वर्षों तक इस सिद्धान्त में हुए विकास का लेखा-जोखा प्रस्तुत किया गया है, जो इसी अध्याय के अन्त में प्रदर्शित किया जायेगा। इसके साथ ही अनेक संशोधनों का प्रस्ताव भी दिया गया।

इन नौ वर्षों की अवधि में सम्प्रेषण सम्बन्धी यह प्रस्तावित सिद्धान्त व्यापक रूप से स्वीकृत हुआ तथा साथ ही व्यापक आलोचनाओं तथा अनेक ग़लतफ़हमियों का शिकार भी हुआ।¹

पुस्तक के फ़्रांसीसी, रूसी, जापानी, कोरियन, इतालवी तथा स्पेनी आदि अनेक भाषाओं में अनुवाद प्रस्तुत किये गये।²

प्रेगमैटिक-सिद्धान्त के लिए रेलेवेंस की उपयोगिताओं की खोज में अनेक शोध-पत्र तथा पुस्तकें लिखी गईं। रेलेवेंस सिद्धान्त ने अन्य सम्बन्धित अनुशासनों – जैसे भाषा विज्ञान, साहित्य, मनोविज्ञान तथा दर्शनशास्त्र में विभिन्न शोध कार्यों को अनुप्राणित किया।

लेखकों ने उन महत्त्वपूर्ण आलोचकों की सूची दी है जिन्होंने रेलेवेंस सिद्धान्त पर गम्भीर प्रश्न उठाये। इसमें Politzer, Fowler, Hirst तथा Walker प्रमुख हैं। लेखकद्वय तथा अन्य भाषाशास्त्रियों ने इन आक्षेपों के उत्तर विभिन्न प्रकाशनों में दिये हैं। इन आलोचनाओं से जहाँ एक ओर पुस्तकगत त्रुटियों का परिमार्जन हुआ, वहीं दूसरी ओर लेखकों को उन स्थलों का पता चला जहाँ ग़लतफ़हमियों की सम्भावना अधिक थी। उन्हें द्वितीय संस्करण में दूर करने का प्रयत्न हुआ।

इस समय तक रेलेवेंस-सिद्धान्त को समझाने तथा इसका मूल्याङ्कन करने वाले साहित्य में पर्याप्त वृद्धि हो गयी है। इसमें सन् 1987 में प्रकाशित स्पेर्बर तथा विल्सन का 'Précis of Relevance', ब्लेकमोर तथा सिंकलेयर एवं विंकलर द्वारा क्रमशः सन् 1992 व 1991 में लिखित दो पुस्तकें – 'Understanding utterances: An Introduction to Pragmatics' और 'Relevance Theory: Explaining Verbal Communication; विषय से अनभिज्ञ पाठकों हेतु तैयार व्याख्यात्मक पत्र, जिन्हें स्पेर्बर (1994), विल्सन (1994), गुट (1986), केम्पसन (1988), लीच तथा थॉम्स (1990) आदि ने प्रस्तुत किये; तथा अनेक विद्वानों की विस्तृत समीक्षाएँ जिनमें बर्ग (1991), बर्टन, रॉबर्ट्स (1985), कैरोल्स (1990), गिब्स (1987) सन (1993), टूलन (1992) आदि-आदि³ सम्मिलित हैं। इसके अतिरिक्त इसमें लेखकद्वय द्वारा प्रस्तुत उत्तर समाहित हैं, जो विषय की समझ के लिए उपयोगी हैं।

सिद्धान्त की उपयोगिताओं के अन्वेषण में अनेकों मोनोग्राफ़ तथा लघु शोध प्रबन्ध लिखे गये हैं तथा लिखे जा रहे हैं, जिनमें ब्लैकमोर (1987), ब्लेस (1990), फोर्सबिल (1994) आदि लेखक प्रमुख हैं। इनकी जानकारी प्रस्तुत प्रबन्ध में संलग्न सन्दर्भ-ग्रन्थ-सूची के अन्तर्गत दी जायेगी।

विचारों के आदान-प्रदान हेतु एक ई-मेल नेटवर्क तथा कक्षा में प्रयोग हेतु ग्रन्थ सूची तैयार की गई है।

इस विषय पर अनेक शोध प्रस्तावित किये जा रहे हैं। लन्दन में प्रतिवर्ष कई अनौपचारिक कार्यशालाएँ आयोजित की जाती हैं। पूरे विश्व में कई सम्मेलन तथा भाषण-शृङ्खलाएँ आयोजित की जाती रही हैं।

प्रत्यक्ष है कि रेलेवेंस-सिद्धान्त अपने अन्तःशास्त्रीय सम्बन्धों तथा प्रतिपाद्यों की मौलिकता के कारण विश्व में पर्याप्त शोध कार्यों को उत्प्रेरित कर रहा है। प्रस्तुत प्रबन्ध भी इसी दिशा में एक प्रयास है।

पुस्तक की इन्हीं महान् सम्भावनाओं का आकलन करके Pascal Engel ने कहा है- "This book...is very likely to become a classic, not only by its potential implications for linguistics, cognitive psychology and anthropology but because of the range of originality of the theory it proposes."

प्रथम बार 1986 में प्रकाशित होने के बाद प्रस्तुत सिद्धान्त के सन्दर्भ में शोधानुकूल सामग्री की महत्त्वपूर्ण जानकारी के लिए इण्टरनेट पर सम्पूर्ण पुस्तक सूची उपलब्ध है। इसे एलीकेण्ट विश्वविद्यालय (स्पेन) के अंग्रेजी अध्ययन विभाग के फ्रांसिस्को यूस ने तैयार किया है। इसमें ग्रन्थों तथा ग्रन्थकारों की सूची विषयों के आधार पर बाँटी गई है। 23 भागों में बाँटी सूची में 1986 के पूर्व से लेकर आज तक रेलेवेंस तथा सम्बद्ध विषयों पर सहस्राधिक प्रविष्टियाँ हैं।¹

2004 में प्रकाशित - 'Handbook of Pragmatics' में लेखकों स्पेर्बर तथा विल्सन ने रेलेवेंस-सिद्धान्त सम्बन्धी संक्षिप्त तथा सारगर्भित जानकारी दी है।²

सिद्धान्त से सम्बद्ध नूतन सूचनाओं के लिए इसके कई वेबसाइट सक्रिय हैं, जैसे -

1. [relevance _ theory.htm](http://relevance_theory.htm)
2. www.dan.sperber.com
3. www.dan.sperber.fr

'Times Higher Educational Supplement' द्वारा इसे दशक की सबसे महत्वपूर्ण तथा प्रभाव डालने वाली पुस्तक घोषित किया गया था। इससे पुस्तक का महत्व प्रकट होता है।

पुस्तक के अब तक हुए अनुवाद, इस पर लिखी गई महत्वपूर्ण पुस्तकें, शोध-प्रबन्ध, आलोचनाएँ, प्रत्युत्तर तथा शोधपत्र आदि को मिलाकर इसका साहित्य अत्यन्त समृद्ध हो चला है। इनमें से सन्दर्भ-योग्य तथा अन्य दृष्टियों से महत्वपूर्ण ग्रन्थों तथा पत्रों की सूची प्रस्तुत शोध प्रबन्ध के अन्त में संलग्न सन्दर्भ-ग्रन्थ-सूची में दी गयी है।

वस्तुतः रेलेवेंस-सिद्धान्त पॉल ग्राइस के वार्तालाप-सिद्धान्तों (Maxims of conversation) में से एक Maxim of relevance का पल्लवन है। प्रस्तुत सिद्धान्त की भूमिका के रूप में पॉल ग्राइस के वार्तालाप-सिद्धान्तों पर प्रकाश डाला जा रहा है।

हर्बर्ट पॉल ग्राइस (1913-1988) एक अंग्रेज़ भाषा-दार्शनिक थे। इनके जीवन के अन्तिम दो दशक संयुक्त राज्य अमेरिका में व्यतीत हुए। वार्तालाप-सिद्धान्तों के अतिरिक्त इनके Co-operative principles भी प्रख्यात हैं।¹⁰

Maxims of Conversation वे सिद्धान्त हैं जिन्हें उपयोगी सम्प्रेषण के मूल में स्थित माना जाता है। ये सिद्धान्त एक साथ मिलकर सहकारिता-सिद्धान्त (co-operative-principle) का निश्चय करते हैं।¹¹ अब तक ऐसे चार सिद्धान्त स्वीकृत हुए हैं -

1. गुणवत्ता सिद्धान्त (Maxim of quality): इसके अनुसार वक्ता द्वारा प्रदीयमान सूचनाएँ तथ्यपरक होनी चाहिए। उसे वे उक्तियाँ नहीं कहना चाहिए जिसे वह असत्य मानता है या जो जिनके साक्ष्य अपुष्ट हों।
2. मात्रा-सिद्धान्त (Maxim of quantity): इसके अनुसार वक्ता

की उक्ति में उतनी ही सूचना होनी चाहिए जितनी प्रकृत प्रसङ्ग में अपेक्षित हो। अनावश्यक सूचनाएँ अनपेक्षित होती हैं तथा उनसे व्यर्थ मानसिक श्रम का व्यय होता है।

3. संगतता सिद्धान्त (Maxim of relevance/relation): इसके अनुसार प्रयुक्त उक्ति सम्प्रेषण के उद्देश्यों के अनुकूल / संगत (relevant) होनी चाहिए।

4. रीति सिद्धान्त (Maxim of manner): इसके अनुसार उक्ति स्पष्ट होनी चाहिए। यह क्रमबद्ध, संक्षिप्त तथा अप्रयुक्तता एवं द्व्यर्थकता से बचने वाली होनी चाहिए।

इन सिद्धान्तों में निहित विचारों का विकास हमें प्रकृत रेलेवेंस सिद्धान्त में दिखाई पड़ता है।

लेखकों के अनुसार रेलेवेंस-सिद्धान्त को ग्राइस के निम्नलिखित केन्द्रीय-विचार के विस्तृत पल्लवन के रूप में देखा जा सकता है - 'अधिकतर मानवीय सम्प्रेषणों (शाब्द अथवा अशाब्द) का अनिवार्य अभिलक्षण आशयों की अभिव्यञ्जना तथा उनकी पहचान है।'¹²

इसकी व्याख्या हेतु ग्राइस परम्परागत कोड-मॉडल की उपेक्षा करके सम्प्रेषण के आनुमितिक-मॉडल का प्रतिपादन करते हैं। लेखकद्वय ने इसे कोड मॉडल के साथ जोड़कर किञ्चित् परिवर्तित रूप में स्वीकार किया है।

ग्राइस के अनुसार - 'उक्तियाँ स्वतः उन प्रत्याशाओं को उत्पन्न करती हैं, जो प्रत्याशाएँ श्रोता को वक्ता सम्मत अर्थ तक ले जाती हैं।'

रेलेवेंस-पद्धति के भाषाविद् उपर्युक्त विचारों को स्वीकार करते हुए भी उपर्युक्त सिद्धान्त के कुछ पक्षों पर प्रश्न खड़े करते हैं। इनमें से कुछ निम्नवत् हैं -

1. क्या सहकारिता-सिद्धान्त तथा वार्तालाप-सिद्धान्त वस्तुतः आवश्यक हैं?
2. उक्तियों की व्याख्या में वार्तालाप-सिद्धान्तों के जानबूझकर किये गये उल्लंघन की क्या भूमिका है?

3. आलङ्कारिक उक्तियों में गुणवत्ता-सिद्धान्त (maxim of truthfulness) का स्पष्ट व्यभिचार क्यों होता है? इत्यादि।

इन्होंने ग्रीसियन सिद्धान्त की अपूर्णता की ओर ध्यान आकर्षित किया है तथा रेलेवेँस-सिद्धान्त से सभी प्रकार के सञ्ज्ञानात्मक-व्यवहारों की व्याख्या करने का दावा प्रस्तुत किया है।

रेलेवेँस-सिद्धान्त की केन्द्रीय मान्यता है कि -

“उक्तियाँ श्रोता में रेलेवेँस की प्रत्याशाएँ उठाती हैं। ये प्रत्याशाएँ श्रोता को वक्तृसम्मत अर्थ तक ले जाने में यथार्थ रूप से तथा अनुमेयतया (predictably) पर्याप्त होती हैं।”¹³

रेलेवेँस सिद्धान्त का तर्क है कि मानव मन जिसे रेलेवेँस-युक्त समझता है उस संकूटित-संदेश के प्रति अन्तःप्रज्ञात्मक रूप से प्रवृत्त हो जाता है। ‘रेलेवेँस’ वह तत्त्व है, जिसके कारण नवीनतम सूचना अल्पतम प्रयत्न के व्यय से किसी सन्दर्भ विशेष में प्रक्रमित (processed) हो पाती है।¹⁴

सभी उक्तियाँ सन्दर्भ में ही प्रयुक्त होती हैं तथा उनसे बहुत से निहितार्थ सम्प्रेषित होते हैं।

इसके अतिरिक्त उन्होंने ‘अभिव्यञ्जितता’ (manifestness) का विचार प्रस्तुत किया है। यह स्थिति तब होती है जब व्यक्ति किसी तथ्य को चेतन या अचेतन रूप से ग्रहण कर लेता है। इस विचार के अनुसार (आनुमितिक) सम्प्रेषण में लगे प्रत्येक व्यक्ति के प्रति यह तथ्य अभिव्यक्त (manifest) होता है कि दोनों पक्षों के मन में रेलेवेँस का विचार है। इसके कारण व्यक्ति रेलेवेँस की प्राक्कल्पना तक पहुँचता है, जिसके अनुसार :-

(क) सूचनाएँ इतनी पर्याप्त रेलेवेँस हैं कि उन का प्रक्रमण हो सके।

(ख) सम्प्रेषण के दौरान वक्ता यथासम्भव मितव्ययी रहा होगा। अर्थात् उसकी कोई भी उक्ति प्रयोजन रहित नहीं रही है।

रेलेवेँस की अवधारणा सापेक्ष तथा व्यक्तिनिष्ठ है क्योंकि यह उक्ति के सञ्ज्ञान के समय वक्ता के ज्ञान की स्थिति पर निर्भर करता है।¹⁵

रेलेवेंस-सिद्धान्त के अनुसार मनुष्य में रेलेवेंस को उच्चतम सीमा तक बढ़ाने की स्वतः प्रवृत्ति होती है। ऐसा इसलिए होता है क्योंकि हमारी सञ्ज्ञान-प्रणाली का विकास इसी दिशा में हुआ, न कि इसलिए कि इस विषय में हमारे पास चुनाव का अधिकार होता है।¹⁶

‘रेलेवेंस के सञ्ज्ञानात्मक सिद्धान्त में इसी उपर्युक्त सार्वभौम प्रवृत्ति का वर्णन हुआ है -

‘मानवीय-सञ्ज्ञान की प्रवृत्ति है कि वह रेलेवेंस के उच्चतम-बिन्दु तक प्राप्ति के अनुकूल रहती है।’¹⁷

रेलेवेंस-सिद्धान्त का साङ्गोपाङ्ग वर्णन आगे किया जा रहा है।

(ख) रेलेवेंस सिद्धान्त

सिद्धान्त

रेलेवेंस सिद्धान्त के माध्यम से लेखकद्वय स्पेर्बर तथा विल्सन ने मानव द्वारा उपयुक्त सम्प्रेषण के अध्ययन को एक नवीन दृष्टिकोण देने का दावा किया है। इनका मानना है कि मानवीय-संज्ञान-प्रक्रिया की दिशा “अल्पतम प्रक्रमण-प्रयत्न द्वारा अधिकतम संज्ञानात्मक-प्रभाव प्राप्त करने की ओर” उन्मुख होती है।¹⁸ इसकी प्राप्ति के लिए व्यक्ति को अपना ध्यान सर्वाधिक संगत (Relevant) उपलब्ध सूचना पर केन्द्रित करना होता है। सम्प्रेषण का तात्पर्य श्रोता के ध्यान को आकर्षित करना होता है। सम्प्रेषण का तात्पर्य श्रोता को यह सूचित करना होता है कि सम्प्रेषित-सूचना Relevant (रेलेवेंस युक्त) है। “सम्प्रेषित सूचना रेलेवेंस की प्रतिभूति (Guarantee) के साथ प्रयुक्त होती है”, इसी आधारभूत अवधारणा को लेखकों ने रेलेवेंस-सिद्धान्त अथवा रेलेवेंस-परक सम्प्रेषणात्मक सिद्धान्त (Communicative-Principle of Relevance) कहा है। इनका तर्क है कि मानवीय सम्प्रेषण की व्याख्या हेतु यह सिद्धान्त अनिवार्य है।

लेखकों ने अपनी पुस्तक में उपर्युक्त सिद्धान्त का अत्यन्त विशद तथा विस्तृत प्रतिपादन किया है। पुस्तक चार अध्यायों में सम्पूर्ण है।

प्रथम अध्याय में सम्प्रेषण के स्वरूप तथा इसकी व्याख्या में समर्थ

मॉडलों की चर्चा की गयी है। द्वितीय में सम्प्रेषण की व्याख्या में आनुमितिक मॉडल (Inferential model) को समर्थतर स्वीकार करते हुए इसकी प्रक्रिया की तर्क-शास्त्र सम्मत विस्तृत विवेचना प्रस्तुत की गयी है। तृतीय में रेलेवेंस सिद्धान्त का साङ्गोपाङ्ग वर्णन किया गया है तथा चतुर्थ में विभिन्न वाग्व्यवहारों (Speech acts) के सन्दर्भ में प्रकृत सिद्धान्त की उपयोगिता का विवेचन है। इस प्रकार प्रथम दो अध्यायों में सिद्धान्त की आधारभूमि तथा चतुर्थ अध्याय में रेलेवेंस-तत्त्व की उपयोगिता तथा प्रयोजन का प्रतिपादन है। तृतीय अध्याय सैद्धान्तिक प्रतिपादन का केन्द्रबिन्दु है।

यहाँ पहले पुस्तक के प्रथम दो अध्यायों की उपयोगितापरक सामान्य चर्चा करके तृतीय अध्याय में वर्णित रेलेवेंस सिद्धान्त पर विस्तृत प्रकाश डाला जायेगा।

(i) सम्प्रेषण

प्रथम अध्याय में लेखकों ने सम्प्रेषण (Communication) की चर्चा की है। इसमें लेखकों ने 12 उपशीर्षकों के अन्तर्गत सम्प्रेषण की प्रक्रिया को व्याख्यायित करने वाले समर्थ मॉडलों की चर्चा की है।

सम्प्रेषण-प्रक्रिया के अन्तर्गत दो बड़े ही महत्वपूर्ण प्रश्न हैं। पहला - सम्प्रेषण किस वस्तु का किया जाता है तथा दूसरा - सम्प्रेषण किस प्रकार सम्भव हो पाता है? विचारों को उद्दीप्त करने वाली भौतिक परिस्थितियों (stimulus) तथा मानसिक विचारों के मध्य कोई समानता दिखाई नहीं पड़ती फिर भी व्यवहार के दौरान दोनों में यथेष्ट समानता कैसे प्राप्त हो पाती है? इन प्रश्नों के समुचित समाधान के लिए सम्प्रेषण-सम्बन्धी एक सामान्य सिद्धान्त को स्वीकार करना आवश्यक है। सिद्धान्त के आधार के रूप में हमें एक मॉडल को स्वीकार करना होगा जो सम्प्रेषण-प्रक्रिया की समर्थ व्याख्या करता हो। इस प्रसङ्ग में दो मॉडल सम्भव हैं कोड मॉडल तथा आनुमितिक-मॉडल (inferential-model)।

कोड-मॉडल

अरस्तू से लेकर आधुनिक संकेत विज्ञान तक सभी सम्प्रेषण-सिद्धान्तों

का एकमात्र आधार कोड मॉडल रहा है। इसके अनुसार सम्प्रेषण की प्राप्ति सूचनाओं के संकूटन तथा विकूटन द्वारा सम्भव होती है।¹⁹ 'कोड' वह प्रणाली है जो सन्देशों को संकेतों के साथ संयुक्त करती है तथा ऐसा करके वह सूचना का प्रक्रमण करने वाले दो उपकरणों को सम्प्रेषण योग्य बनाती है।²⁰ यह प्राकङ्कल्पना व्याख्यात्मक तो है परन्तु वर्णनात्मक रूप से अपर्याप्त है। वक्ता का विचारों के सम्प्रेषण में सफल होना तो संकूटन के द्वारा समझा जा सकता है परन्तु श्रोता के बोध की प्रक्रिया को केवल 'विकूटन' तक सीमित नहीं किया जा सकता। यह सत्य है कि भाषा स्वनिर्गत तथा आर्थ प्रतिरूपणों को जोड़ने वाला 'कोड' है तथापि वाक्यों के आर्थ-प्रतिरूपणों तथा उक्तियों (utterances) द्वारा वस्तुतः सम्प्रेषित विचारों के मध्य जो रिक्ति है, वह केवल कूटन द्वारा पूर्ण नहीं हो सकती। लेखकों के अनुसार यह रिक्तता अनुमिति द्वारा पूरी हो सकती है। उक्तियाँ केवल वक्ता के विचारों को ही नहीं अपितु उन विचारों से वक्ता का सम्बन्ध तथा उनके प्रति वक्ता के दृष्टिकोण को भी प्रकाशित करती हैं। श्रोता को इन वाक्यों के propositional-attitude, speech acts तथा illocutionary force का भी अनुमान करना होता है। यह केवल कोड-मॉडल से सम्भव नहीं।

कोड-मॉडल का खण्डन एक और सबल आधार पर किया गया है। कोड मॉडल के फ्रेम वर्क में परस्पर ज्ञान (mutual knowledge) नामक तत्त्व का होना स्वभावतः अनिवार्य है अर्थात् इसकी सफलता हेतु यह निश्चित करना होगा कि श्रोता द्वारा प्रयुक्त सन्दर्भ वास्तव में वही है जो वक्ता को भी अभीष्ट था क्योंकि दोनों के सन्दर्भों की असङ्गति से भ्रम हो जायेगा। परन्तु ऐसा हो पाना असम्भव है। प्रत्येक नवीन उक्ति नितान्त भिन्न सन्दर्भ की अपेक्षा करती है, अतः बहुत से संकेत प्रयोग विज्ञानियों का मत है कि पारस्परिक ज्ञान सदैव सम्भव नहीं है। यह असम्भव प्राक्कल्पना चूँकि कोड मॉडल की आवश्यक शर्त है अतः यह मॉडल समर्थनीय नहीं हो सकता।

आनुमितिक मॉडल

आनुमितिक-मॉडल इससे अधिक समर्थ है। इसकी प्रक्रिया कोड मॉडल

से नितान्त भिन्न है। आनुमितिक-मॉडल का प्रारम्भ आधार वाक्यों के समुच्चय (Premises) से होकर निष्कर्षों के समुच्चय में परिणत हो जाता है। निष्कर्षों का यह समुच्चय तर्कपूर्ण ढंग से आधार वाक्यों का अनुगम करता है, जबकि विकूटन-प्रक्रिया सङ्केत से प्रारम्भ होकर संदेश-प्राप्ति में पर्यवसित होती है। सामान्यतः कोड मॉडल में निष्कर्ष आधार वाक्यों से सम्बद्ध नहीं होते तथा संकेत अपने द्वारा सूचित संदेशों के प्रति उत्तरदायी नहीं होते।¹¹

आनुमितिक-मॉडल का प्रस्ताव आधुनिक काल के कई दार्शनिकों ने सामने रखा, जिनमें पॉल ग्राइस तथा डेविड लेविस मुख्य हैं। इसके अनुसार 'सम्प्रेषण की प्राप्ति साक्ष्यों के उपस्थापन तथा व्याख्यान द्वारा होती है।' अर्थात् वक्ता अपने आशयों को सूचित करने वाले कुछ साक्ष्य प्रस्तुत करता है तथा श्रोता उनसे उसके आशयों का अनुमान करता है। सर्ल तथा ग्राइस जैसे विद्वान् को सम्प्रेषण की व्याख्या में केवल आनुमितिक मॉडल को ही समर्थ मानते हैं। परन्तु प्रस्तुत लेखकों के अनुसार जटिल प्रकार के सम्प्रेषणों में दोनों पद्धतियों का सम्मिलित प्रयोग हो सकता है। भाषिक सम्प्रेषण सम्प्रेषण का एक जटिल प्रकार है। संकूटन तथा विकूटन श्रोता द्वारा किये जाने वाले वाक्यार्थ के अनुमान में सहायक मात्र होते हैं। दूसरे शब्दों में कूटन की प्रक्रिया ग्रीसियन-आनुमितिक प्रक्रिया के प्रति गौण है। लेखकद्वय ने ग्राइस के उपागम में परिभाषा तथा व्याख्या सम्बन्धी त्रुटियाँ दिखाकर केवल आनुमितिक प्रक्रिया से असन्तोष व्यक्त किया है। इन्होंने उपर्युक्त मॉडल में निदर्शन (ostension) नामक तत्त्व जोड़कर इसे सभी प्रकार के सम्प्रेषणों के लिए उपयोगी माना है। आगे हम देखेंगे कि निदर्शन (ostension) से हमारा क्या तात्पर्य है।

वह व्यवहार जो किसी आशय की अभिव्यञ्जना किसी वस्तु को अभिव्यक्त करने के लिए करता है, निदर्शनात्मक-व्यवहार (Ostensive-behavior) या निदर्शन (ostension) कहलाता है।¹² उदाहरणार्थ - सम्प्रेषण के अन्तर्गत वक्ता उक्ति रूपी आशय की अभिव्यञ्जना करता है, जिससे सान्दर्भिक प्रभाव तथा अन्यान्य सूचनाएँ अभिव्यक्त हो जाएँ। अतः सम्प्रेषण एक निदर्शनात्मक व्यवहार है।

आनुमितिक-सम्प्रेषण तथा निदर्शन समान प्रक्रिया होने के कारण एक ही हैं। दोनों में अन्तर केवल इतना है कि निदर्शन की प्रक्रिया का सम्बन्ध वक्ता से जबकि अनुमान की प्रक्रिया का सम्बन्ध श्रोता से है।

निदर्शन के अन्तर्गत वक्ता न केवल कथ्य को प्रकट करता है अपितु वह इस आशय को भी प्रकट करता है कि वह श्रोता के प्रति इस कथ्य विशेष को प्रकट करना चाहता है। निदर्शन-प्रक्रिया में श्रोता यह कैसे निश्चित कर पाता है कि अमुक चीज आशयपूर्वक मेरे प्रति प्रकट की जा रही है? इस प्रश्न के उत्तर में लेखक रेलेवेंस-तत्त्व का परिचय देते हैं। जब तक कोई वस्तु या विचार रेलेवेंस तत्त्व से युक्त नहीं होता तब तक वह श्रोता का ध्यान खींचने में समर्थ नहीं हो पाता है। निदर्शनात्मक-व्यवहार वक्ता के विचारों का साक्ष्य प्रस्तुत करता है। यह ऐसा करने में इसलिए समर्थ हो पाता है क्योंकि इसमें रेलेवेंस तत्त्व की गारण्टी निहित होती है।¹³ मानव स्वतः उसी ओर ध्यान देता, जो वस्तु उसे सर्वाधिक रेलेवेंट प्रतीत होती है। यह रेलेवेंस-सिद्धान्त ही है जो निदर्शन में निहित आशय को अभिव्यक्त करता है। इस प्रकार लेखकों का यह मानना है कि सम्प्रेषण के आनुमितिक मॉडल को व्याख्यात्मक बनाने के लिए रेलेवेंस-सिद्धान्त अत्यावश्यक है।

(ii) आनुमितिक सम्प्रेषण की तार्किक-प्रक्रिया

सम्प्रेषण की व्याख्या हेतु आनुमितिक मॉडल को स्वीकार करने के बाद द्वितीय अध्याय में लेखकों ने भाषिक-अनुमान की प्रक्रिया को दर्शनशास्त्रीय रीति से विस्तारपूर्वक समझाया है।

लेखकों ने निदर्शन के प्रसङ्ग में वक्ता के दो आशयों का विशद वर्णन किया है। प्रथम सूचनात्मक आशय तथा द्वितीय सम्प्रेषणात्मक आशय।

तर्कशास्त्रियों के द्वारा यह सामान्यतया स्वीकृत तथ्य है कि बोध-प्रक्रिया में उपयुक्त अनुमान के प्रक्रमों की प्रकृति अ-सङ्केतात्मक (non-demonstrative) होती है।¹⁴ वे यह भी स्वीकार करते हैं कि आगमनात्मक-नियमों को असङ्केतात्मक-अनुमान का आधार होना चाहिए। परन्तु आगमनात्मक तर्कशास्त्र की कोई भी प्रणाली इतनी विकसित नहीं है, जो केन्द्रीय-संज्ञानात्मक

प्रणालियों के लिए सम्भाव्य मॉडल प्रस्तुत कर सके। अतः इस प्रसङ्ग में आगमन-नियम अधिक स्पृहणीय नहीं हैं।

निगमनात्मक-नियमों से उन सभी वाञ्छित-परिणामों को निष्पन्न किया जा सकता है, जो आधार वाक्यों के समुच्चय द्वारा लक्षित होते हैं।²⁵ ये केवल निगमन-नियम ही हैं जो मानव-मस्तिष्क में स्वतः प्राप्त हो जाते हैं। फलतः ये नियम असंकेतात्मक अनुमान में महत्वपूर्ण भूमिका अदा करते हैं। इस प्रकार सम्प्रेषण, संज्ञान तथा इन दोनों के बीच सम्बन्धों के सन्दर्भ में रेलेवेस की भूमिका को स्पष्ट करने के लिए लेखकों ने असङ्केतात्मक अनुमान को अधिक उपयुक्त समझा है।

सूचनाएँ, जो हमारी स्मृति में संगृहीत हो सकती हैं, तीन प्रकार की होती हैं - तार्किक, विश्वकोशीय तथा कोशीय (शाब्दी)²⁶। इनमें शाब्दी-प्रविष्टि के अन्तर्गत विचार के किसी भाषा के प्रतिनिधि शब्द या वाक्य आदि सम्मिलित होते हैं। विश्वकोशीय-प्रविष्टि में विचार के विस्तार जैसे - वस्तुएँ, घटनाएँ, गुण आदि सम्मिलित होते हैं तथा तार्किक प्रविष्टि के अन्तर्गत निगमनात्मक-नियमों का वह समुच्चय आता है, जो उन तार्किक-रूपों पर घटित होता है, जिनका घटक वह विचार होता है। इस समुच्चय का प्रत्येक नियम निवेश (input) तथा निर्गत (output) धारणाओं का रूपात्मक रीति से वर्णन करता है। यहाँ निवेश-आधार वाक्यों का समुच्चय तथा निर्गत निष्कर्षों का समुच्चय होता है। इस प्रसङ्ग में लेखकों ने विभिन्न प्रकार के निगमनात्मक नियमों को उपस्थापित करके उनके द्वारा प्रदत्त आधार-वाक्यों से निष्कर्ष निकालने के विशद उदाहरण दिये हैं। इन नियमों में से - And-elimination, Modus ponendo tolens, Modus tollendo ponens, And-introduction, or - introduction, Double-negation, conjunctive modus ponens, Disjunctive modus ponens, तथा containment rule प्रमुख हैं।²⁷

निगमनात्मक प्रक्रिया

निगमन की प्रक्रिया में प्रारम्भिक-प्रतिपाद्यों को निगमनात्मक-उपकरण की स्मृति में स्थापित करते हैं। इसके प्रभावों को दो उपसमुच्चयों P तथा C में

बाँट सकते हैं। यहाँ P नवीन सूचना से प्राप्त विचार जबकि C पुरातन सूचना (सान्दर्भिक-अवधारणाओं का समुच्चय) है। निगमन इन्हीं दोनों के आधार वाक्यों के रूप में सम्मिलन पर आधारित है। यह निगमन P का सन्दर्भ C के अन्तर्गत सन्दर्भीकरण है। यह सन्दर्भीकरण ऐसे नवीन निष्कर्षों को प्रस्तुत कर सकता है जो P या C से अलग-अलग नहीं निकाले जा सकते थे। ये निष्कर्ष P के C में सान्दर्भिक निहितार्थ (Contextual implications) कहे जाएंगे। सान्दर्भिक-निहितार्थ नवीन तथा पुरातन सूचनाओं का संश्लेषण होने से नवीन तथा पुरातन दोनों से विलक्षण होता है।

इस प्रकार निगमनात्मक-उपकरण का केन्द्रीय-प्रकार्य (स्वाश्रित, स्वतःस्फूर्त तथा अचेतन रूप से) पुरातन सूचनाओं के सन्दर्भ में किसी नयी सूचना के सान्दर्भिक निहितार्थ को निष्पन्न करना होता है।²⁸ जितने ही सान्दर्भिक निहितार्थों को यह प्रस्तुत करता है नवीन सूचना व्यक्ति के पुराने जागतिक प्रतिरूपण (representation) को उतना ही विकसित करती है।

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि निगमनात्मक-उपकरण स्वतःस्फूर्त-असङ्केतात्मक अनुमिति के केन्द्र में स्थित है।

वक्ता के पास स्थित सन्दर्भ को विशेषित तथा विकसित करने हेतु उस सन्दर्भ में कुछ प्रभावों की आवश्यकता होती है। उपर्युक्त सान्दर्भिक-निहितार्थ ही ये सान्दर्भिक-प्रभाव होते हैं। किसी संश्लेषणात्मक-निहितार्थ में ये प्रभाव तब निष्पन्न होते हैं जब नवीन तथा पुरातन सूचना का सम्मिलन आधार वाक्यों के रूप में होता है।

(iii) सान्दर्भिक प्रभाव

सान्दर्भिक प्रभाव तीन प्रकार के हो सकते हैं - 1. सान्दर्भिक निहितार्थ, 2. सबलीकरण तथा 3. व्याघात (contradiction)।

इनमें प्रथम का वर्णन किया जा चुका है। कोई नवीन सूचना पुरातन सूचना के सम्बन्ध में और अधिक साक्ष्य प्रस्तुत करके उसे सबल बना सकती है। इसके अतिरिक्त यह पुरानी सूचना में विरोधी साक्ष्य प्रस्तुत करके उसका खण्डन भी कर सकती है।²⁹

निगमनात्मक-उपकरण की स्मृति में स्थापित अवधारणाओं के बल की मात्राएँ भिन्न-भिन्न होती हैं। अवधारणाओं का सत्यापन मूल्य (confirmation-value) इनके बल का निर्धारक होता है। इस प्रसङ्ग में लेखकों ने अवधारणाओं तथा निष्कर्षों की शक्ति-अशक्ति का विशद निरूपण किया है। निष्कर्षों का सत्यापन-मूल्य इसके निष्पादन में प्रयुक्त आधार-वाक्यों के समुच्चय से प्राप्त होता है। बल की मात्रा के पुनरुत्पादन, परिवर्द्धन तथा परिसीमन का श्रेय निगमनात्मक उपकरण को ही है।³⁰ इसके अतिरिक्त अन्य कोई साक्ष्य ज्ञात नहीं है, जिससे यह बताया जा सके कि मनुष्य मन तथ्यात्मक-अवधारणाओं का निर्धारण कैसे कर लेता है।³¹ निगमनात्मक-नियम न केवल पूर्वस्थित अवधारणाओं के आधार पर नयी अवधारणाओं के संरचन में सहायक होते हैं अपितु उनके बल का निर्धारण भी करते हैं।

सान्दर्भिक-निहितार्थ संश्लेषणात्मक-निहितार्थ (Synthetic-implication) का एक उप-प्रकार है। संश्लेषणात्मक-निहितार्थ का अनुमान हम आधार वाक्यों में से किसी अकेले से नहीं कर सकते तथा आधार वाक्यों में से किसी एक को भी निकाल दें तो भी शेष से अनुमान नहीं हो सकता। इस प्रकार संश्लेषणात्मक निहितार्थ के निष्पादन में प्रयुक्त प्रत्येक आधार वाक्य अपने द्वारा सम्मिलित रूप से लक्षित निष्कर्षों को सबल बनाता है।

श्रोता के जागतिक-प्रतिरूपण में महत्त्वपूर्ण परिवर्तन मिथ्या अवधारणाओं के निरसन से भी सम्भव है। ऐसे सान्दर्भिक-प्रभाव नवीन तथा पुरानी सूचनाओं के विरोध के फलस्वरूप प्राप्त होते हैं। विरोध-निराकरण के प्रसङ्ग में हमें दो विरोधी अवधारणाओं के बल को ध्यान में रखना होता है। निगमनात्मक-उपकरण दुर्बल अवधारणा का निश्चय करके उसे स्वतः मिटा देता है। इन्हें मिटाने के बाद प्रकृत उपकरण इन अवधारणाओं को लक्षित करने वाले अन्य अवधारणाओं को भी मिटा देता है।

“यदि सन्दर्भीकरण की प्रक्रिया सन्दर्भ में सभी अथवा कुछ नवीन सूचनाएँ जुड़कर भी सन्दर्भ में कुछ भी परिवर्तन नहीं कर पाती, तो इसका तात्पर्य है कि सन्दर्भीकरण के द्वारा कोई भी सान्दर्भिक-प्रभाव प्राप्त नहीं हुआ।

सामान्य स्थिति में कोई न कोई सान्दर्भिक प्रभाव अवश्य रहता है। यह प्रभाव सन्दर्भ से किसी अवधारणा को मित्यने के रूप में, सन्दर्भगत किसी अवधारणा की शक्ति को स्पष्ट करने के रूप में अथवा सान्दर्भिक-निहितार्थों के निष्पादन के रूप में हो सकता है।¹³²

अब तक सम्प्रेषण के लिए निदर्शनात्मक-आनुमितिक मॉडल को स्वीकार करके इस मॉडल के लिए आवश्यक निगमनात्मक नियमों से संवलित उपकरण की प्रक्रिया का वर्णन प्रस्तुत किया गया। विभिन्न सान्दर्भिक-प्रभावों के सम्बन्ध में निगमनात्मक उपकरण की भूमिका स्पष्ट की गयी। यह स्पष्ट किया गया कि सन्दर्भीकरण के दौरान कम प्रक्रमण व्यय पर अधिक यथार्थ सान्दर्भिक प्रभावों को पाना ही किसी अवधारणा का रेलेवेण्ट (रेलेवेंसयुक्त) होना है।¹³³ इसके बाद केन्द्रीय-प्रतिपाद्य रेलेवेंस का विशद वर्णन प्रस्तुत करने के लिए तृतीय अध्याय की अवतारणा की गयी है।

(iv) रेलेवेंस सिद्धान्त

सम्प्रेषण की प्रक्रिया के समय हम नई उक्तियाँ सुनते हैं जिनमें कुछ नवीन सूचनायें होती हैं। कुछ सूचनाएँ हमारे मस्तिष्क में श्रवण के पहले से होती हैं अर्थात् वे हमारे विभिन्न सांसारिक अनुभवों के द्वारा हमें पहले से ही प्राप्त होती हैं। जब ये नई तथा पुरानी अन्तःसम्बद्ध सूचनाएँ आनुमितिक-प्रक्रिया में एक साथ आधारवाक्य की तरह प्रयुक्त की जाती हैं तो इनसे और नवीन सूचनाएँ निष्पादित की जाती हैं। ये सूचनाएँ नये तथा पुराने सूचनात्मक आधार वाक्यों के योग के बिना अनुमित नहीं हो सकतीं। जब नई सूचना का प्रक्रमण इस प्रकार के गुणात्मक-प्रभाव को उत्पन्न करता है तो हम इस सूचना को रेलेवेण्ट कहते हैं। प्रभाव जितना अधिक होगा रेलेवेंस उतना ही अधिक होगा। यदि नवीन सूचना व्यक्ति के जागतिक-प्रतिरूपण से नितान्त असम्बद्ध हो तो यह इस प्रतिरूपण से टुकड़े की तरह पृथक् रूप में ही जुड़ सकती है। ऐसी सूचना प्रक्रमण के दौरान अत्यधिक-प्रक्रमण-मूल्य लेते हुए बहुत कम लाभ दे पाएगी। अतः अनुपाततः इसका रेलेवेंस भी बहुत कम होगा।¹³⁴

“सम्प्रेषित सूचनाओं के साथ रेलेवेंस की गारण्टी होती है।”

इसका तात्पर्य है कि वक्ता सामान्यतया ऐसी कोई भी सूचना सम्प्रेषित नहीं करता, जो श्रोता के सन्दर्भ से बिल्कुल अलग-थलग हो तथा उसका कोई भी सान्दर्भिक प्रभाव न हो। सूचनाओं को सम्प्रेषित करते हुए वक्ता तथा ग्रहण करते हुए श्रोता अधिकतम सान्दर्भिक-प्रभावों को प्राप्त करने पर अपने ध्यान को केन्द्रित रखते हैं अर्थात् Relevant होना चाहते हैं। वस्तुतः यही रिलेवेंस की गारण्टी है।

रेलेवेंस पर केन्द्रित तृतीय अध्याय आठ शीर्षकों में विभक्त है। ये हैं - 1. रिलेवेंस की शर्तें (Conditions for relevance) 2. रिलेवेंस की कोटियाँ : प्रभाव तथा प्रयत्न (Degrees of Relevance : effect & effort), 3. सन्दर्भ प्रदत्त होता है या चयनित (Is the context given or chosen?), 4. सन्दर्भों का चयन (A choice of contexts), 5. व्यक्तिगत रिलेवेंस (Relevance to an individual), 6. घटनाओं तथा उद्दीपकों से सम्बद्ध रिलेवेंस (The relevance of phenomena & stimuli), 7. रिलेवेंस सिद्धान्त (The principle of relevance), 8. रिलेवेंस सिद्धान्त तथा निदर्शनात्मक-आनुमितिक-सम्प्रेषण (How relevance theory explains ostensive inferential communication?)।

उपर्युक्त आठ शीर्षकों में रिलेवेंस सिद्धान्त तथा उसके अनिवार्य तत्त्वों का सविस्तर तथा सोदाहरण वर्णन प्रस्तुत किया है। इस प्रसङ्ग में लेखकों ने स्पष्ट किया है कि 'रेलेवेंस' एक मनोवैज्ञानिक अवधारणा है जिसका सभी भाषाओं में अनुवाद नहीं हो सकता³⁵ क्योंकि रिलेवेंस के बारे में पुस्तक में प्रतिपादित सिद्धान्त सामान्य अंग्रेजी शब्द 'Relevance' के बारे में नहीं है। यद्यपि जनसाधारण द्वारा समझी गयी 'रेलेवेंस' शब्द द्वारा व्यक्त अवधारणा सैद्धान्तिक रिलेवेंस से स्थूल रूप में मेल खाती है। अतः प्रकृत प्रबन्ध में भी इसका हिन्दी अनुवाद नहीं किया गया है।

लेखकों ने स्वीकार किया है कि व्यक्तियों में रिलेवेंस का प्रातिभ अथवा अन्तःप्रज्ञात्मक सहजबोध होता है।³⁶ अर्थात् वे अ-रेलेवेण्ट से रेलेवेण्ट तथा अल्प-रेलेवेण्ट से अधिक-रेलेवेण्ट सूचना का पृथक्करण सम्यक् प्रकार से कर सकते हैं। रिलेवेंस की अन्तःप्रज्ञा सन्दर्भ-सापेक्ष होती है।

सान्दर्भिक-प्रभाव की अवधारणा रेलेवेंस सिद्धान्त की व्याख्या के लिए अत्यावश्यक है। सान्दर्भिक प्रभावों की उपलब्धि रेलेवेंस की आवश्यक शर्त है। सान्दर्भिक प्रभाव तथा रेलेवेंस में अनुक्रमानुपाती सम्बन्ध है अर्थात् ये प्रभाव जितने ही अधिक होंगे रेलेवेंस उतना ही अधिक होगा।

सान्दर्भिक प्रभावों की अप्राप्ति की परिस्थितियाँ

निम्नाङ्कित तीन परिस्थितियों में कोई अवधारणा सान्दर्भिक-प्रभावों को प्राप्त करने में असफल हो सकती है। ये परिस्थितियाँ हैं-

1. वह अवधारणा जो नवीन सूचना तो प्रदान कर रही हो लेकिन प्राप्त सूचना किसी भी पुरानी सन्दर्भगत सूचना से सम्बद्ध होने योग्य न हो।³⁷ उदाहरणार्थ प्रस्तुत पुस्तक को पढ़ते हुए पाठक के मन में जो अवधारणाएँ सन्दर्भ रूप में स्थित हैं; उनके प्रसङ्ग में वह यदि निम्नलिखित वाक्य सुनता है-

5 मई 1881 को काबुल में अच्छी खासी धूप थी।

तो उपर्युक्त वाक्य प्रस्तुत सन्दर्भ में किसी भी सान्दर्भिक प्रभाव की प्राप्ति नहीं करता, अतः इस वाक्य से लक्षित अवधारणा प्रस्तुत सन्दर्भ में रेलेवेंस-रहित है। इसका कारण प्रस्तुत प्रसङ्ग में वाक्य का नितान्त असम्बद्ध होना है।

2. यदि नई सूचना पहले से ही सन्दर्भ में विद्यमान है तथा सन्दर्भ की शक्ति में कोई भी परिवर्तन करने में असमर्थ है, तो वह सूचना रेलेवेण्ट नहीं है।³⁸

उदाहरणार्थ प्रस्तुत पुस्तक को पढ़ते हुए पाठक से यह कहा जाये -

“इस समय आप एक पुस्तक पढ़ रहे हैं”

तो चाहे उसके मस्तिष्क में कोई भी अवधारणा पहले से हो, उन सबके प्रसङ्ग में यह सूचना रेलेवेण्ट नहीं होगी। कारण यह है कि इस सूचना द्वारा इस सन्दर्भ में किसी भी सान्दर्भिक-प्रभाव की प्राप्ति नहीं हो रही है। पाठक को पहले ही ज्ञात है कि वह पुस्तक पढ़ रहा है, अतः यह सूचना पहले ही प्रक्रमित हो चुकी है।

3. यदि सूचना सन्दर्भ के नितान्त विरुद्ध है तथा इतनी दुर्बल है कि सन्दर्भ में कोई परिवर्तन नहीं कर सकती तो वह सूचना रेलेवेंस रहित है।³⁹

उदाहरणार्थ - प्रस्तुत पुस्तक को पढ़ते हुए पाठक से यह कहा जाये -

आप गहरी नींद में हैं।

तो यह वाक्य इस प्रसङ्ग में असङ्गत है क्योंकि इसके विरुद्ध पाठक के पास अकाट्य और पर्याप्त तर्क हैं। फलतः पूर्वोक्त प्रक्रियानुसार निगमनात्मक-उपकरण इस दुर्बल सूचना को मित्य देगा। इस प्रकार प्रस्तुत सन्दर्भ में किसी भी सान्दर्भिक प्रभाव की प्राप्ति न होने से उपर्युक्त वाक्य रेलेवेंस-रहित हैं।

यहाँ यह बात ध्यातव्य है कि वक्ता यदि रेलेवेंस रहित अवधारणाओं को ही सूचित करने के लिए चुनता है तो उपर्युक्त सूचनाएँ अत्यधिक रेलेवेण्ट हो जाएँगी। उदाहरण के लिए यदि वक्ता रेलेवेंस रहित अवधारणाओं के उदाहरण प्रस्तुत करना चाहता है तो ये ही उपर्युक्त अवधारणाएँ उस प्रसङ्ग में अत्यधिक रेलेवेण्ट हो जाएँगी। 'यदि अभिव्यञ्जक व्यवहार अपने आप में रेलेवेण्ट है तो रेलेवेंस रहित अवधारणाओं की अभिव्यक्ति से भी रेलेवेंस की प्राप्ति हो सकती है।'⁴⁰

उपर्युक्त उदाहरणों का तात्पर्य यह है कि यदि कोई अवधारणा किसी प्रदत्त सन्दर्भ में किसी भी सान्दर्भिक प्रभाव को प्राप्त करने में असमर्थ है तो वह उस सन्दर्भ में रेलेवेंस-रहित है। दूसरे शब्दों में, किसी सन्दर्भ में कुछ सान्दर्भिक प्रभाव प्राप्त कर पाना रेलेवेंस की आवश्यक शर्त है।

सान्दर्भिक-प्रभावों को दृष्टि में रखकर लेखकों ने रेलेवेंस की निम्नोक्त परिभाषा उपस्थित की है -

एक अवधारणा किसी सन्दर्भ में केवल तभी रेलेवेंस-युक्त (Relevant) होती है, जब वह उस सन्दर्भ में कुछ सान्दर्भिक प्रभावों को प्राप्त कर सके।''

उपर्युक्त परिभाषा का तात्पर्य यह है कि किसी सन्दर्भ में रेलेवेण्ट होने के

लिए अवधारणा को उस सन्दर्भ के साथ किसी न किसी प्रकार से जुड़ा हुआ होना चाहिए। क्या अत्यल्प सान्दर्भिक प्रभाव प्राप्त करना भी रेलेवेंस के लिए संतोषजनक स्थिति है? इस प्रश्न के उत्तर में लेखक Relevance की तुलना नम्यता (Flexibility) की अवधारणा से करते हैं। कोई वस्तु जितनी ही कम मुड़ती है, हम उसे उतना ही कम नम्य कहते हैं; पर वह यदि थोड़ी सी भी मुड़ती है तो तकनीकी रूप में वह नम्य है। इसीप्रकार किसी अवधारणा के सान्दर्भिक-प्रभाव जितने ही दुर्बल तथा अल्प होते हैं, उसे रेलेवेण्ट कहने के प्रति हमारी अनिच्छा उतनी ही गहरी होती है। फिर भी यदि अवधारणा कुछ भी सान्दर्भिक प्रभाव प्राप्त करती है, तो वह तकनीकी रूप से रेलेवेण्ट मानी ही जायेगी = Some Contextual effect some relevance.⁴¹

रेलेवेंस की उपर्युक्त परिभाषा दो कारणों से अपर्याप्त है। पहला यह कि रेलेवेंस का निर्धारण हम किसी विशिष्ट मात्रा में ही करते हैं—जिसका इसमें कोई उल्लेख नहीं है तथा दूसरा सन्दर्भ, जिसका रेलेवेंस प्रक्रिया में अत्यधिक योगदान है, के स्वरूप का निश्चय अभी तक नहीं किया गया। तृतीय अध्याय के अग्रिम तीन विभागों में चर्चा इसी पर केन्द्रित है।

पहला बिन्दु रेलेवेंस की मात्रा का है। इसको लेखकों ने 'उत्पादकता' के सिद्धान्त से स्पष्ट किया है। किसी भी उद्योग में कुछ निश्चित मूल्य के निविष्ट (input) का व्यय करके कुछ निश्चित मूल्य के निर्गत (output) का लाभ लिया जाता है। सम्प्रेषण की प्रक्रिया में भी अवधारणाओं का निवेश करके सांदर्भिक-प्रभावों को प्राप्त किया जाता है। उद्योग के प्रसंग में जो उत्पादकता है सम्प्रेषण के प्रसङ्ग में वही रेलेवेंस है।

किसी उद्योग की उत्पादकता का मूल्यांकन उत्पादित वस्तुओं के मूल्य के साथ-साथ वस्तुओं के उत्पादन में व्यय शक्ति द्वारा भी किया जाता है। यदि दो औद्योगिक संस्थाएँ बराबर गुणवत्ता की वस्तुओं का उत्पादन करती हैं, परन्तु पहली संस्था को उतने ही उत्पादन में अपेक्षाकृत कम समय तथा श्रम लगाना पड़ता है तो उसकी उत्पादकता अधिक मानी जायेगी। इस प्रकार उत्पादकता के मूल्याङ्कन में निर्गत की गुणवत्ता के अतिरिक्त उत्पादन व्यय पर भी ध्यान देना होता है।

इसी प्रकार सम्प्रेषण-प्रक्रिया में रелеवेंस की मात्रा का मूल्याङ्कन केवल उन सान्दर्भिक प्रभावों से ही नहीं होता जिन्हें नवीन सूचनाएँ किसी सन्दर्भ में प्राप्त करती हैं। सान्दर्भिक प्रभावों की प्राप्ति मानसिक-प्रक्रियाओं द्वारा होती है। मानसिक-प्रक्रियाएँ सभी जैव-प्रक्रियाओं की भाँति कुछ प्रयत्न की अपेक्षा करती हैं। इनमें कुछ ऊर्जा का व्यय होता है। ये प्रक्रियात्मक (प्रक्रमण) प्रयत्न, जो सांदर्भिक प्रयत्नों की प्राप्ति में व्यय होते हैं, रेलवेंस की मात्रा के मूल्यांकन के प्रसङ्ग में ध्यान रख जाने योग्य दूसरा कारक है। इन प्रयत्नों की कारकता निषेधमुखेन है। अर्थात् प्रक्रमण प्रयत्न जितना अधिक होगा - रेलवेंस उतना ही कम होगा। दूसरे शब्दों में यह कहा जा सकता है कि रेलवेंस तथा प्रक्रमण प्रयत्न के मध्य व्युत्क्रमानुपाती सम्बन्ध है।

रेलवेंस की पूर्वप्रदत्त परिभाषा आवश्यक तथा पर्याप्त अनुबन्धों वाले शब्दों के आधार पर दी गई है तथा रेलवेंस को एक वर्गीकारी अवधारणा⁴² (Classificatory concept) के रूप में परिभाषित किया गया है। प्रस्तुत परिभाषा यद्यपि अशुद्ध नहीं है लेकिन इससे इस तथ्य पर प्रकाश नहीं पड़ता कि 'रेलवेंस एक तुलनात्मक अवधारणा है'। तुलनात्मक-अवधारणाओं को परिभाषित करने की सबसे अच्छी विधि है कि उन्हें 'सीमा अनुबन्धों' (Extent-conditions) के पदों द्वारा परिभाषित किया जाए।⁴³ इसी प्रारूप को ध्यान में रखकर लखेकों ने पूर्वोल्लिखित परिभाषा में विस्तार किया है तथा निम्नोक्त परिभाषा दी है⁴⁴ -

सीमा अनुबन्ध 1 : कोई अवधारणा किसी सन्दर्भ में उस सीमा तक रेलवेण्ट है जब तक उस सन्दर्भ विशेष में उसके सान्दर्भिक-प्रभाव प्रचुर हों।

सीमा अनुबन्ध 2 : कोई अवधारणा किसी सन्दर्भ में उस सीमा तक रेलवेण्ट है जब तक उस सन्दर्भ विशेष में उसके प्रक्रमण में अपेक्षित प्रयत्न कम हों।

उत्पादकता के मूल्याङ्कन की ही भाँति रेलवेंस का मूल्याङ्कन भी सान्दर्भिक प्रभावों (निर्गत) के साथ, प्रक्रमण-प्रयत्न (निविष्टि) की तुलना द्वारा किया जा सकता है। जैसे - 'सामान्य परिस्थिति में महत्तर सान्दर्भिक प्रभावों से युक्त अवधारणा अधिक रेलवेण्ट होती है।' सामान्य परिस्थिति में अल्पतर

प्रक्रमण-प्रयत्न की अपेक्षा करने वाली अवधारणा अधिक रेलेवेण्ट होती है।

यदि दो अवधारणाओं की प्रत्ययात्मक संरचना समान हो तथा उनके प्रक्रमण में समान निगमनात्मक-नियमों का उपयोग होता हो तो उनका प्रक्रमण-प्रयत्न समान होगा। तथापि यदि प्रदत्त सन्दर्भ में एक अवधारणा दूसरे से अधिक सान्दर्भिक-प्रभावों को प्राप्त करती है तो वह उस सन्दर्भ में अधिक रेलेवेण्ट होगी। इस प्रसङ्ग को निम्नोक्त काल्पनिक उदाहरण से समझा जा सकता है -

मान लिया जाय कि प्रदत्त सन्दर्भ निम्नलिखित (1: क-ख-ग) अवधारणाओं से युक्त है -

1. (क) जिनका विवाह होने वाला है उनको अपने बच्चों के संभाव्य-आनुवांशिक-खतरों के सम्बन्ध में डॉक्टर से सलाह लेनी चाहिए।

(ख) यदि स्त्री पुरुष दोनों थैलासीमिया के शिकार हों तो उन्हें सन्तानोत्पत्ति के प्रति सावधान किया जाता है।

(ग) सुमन थैलासीमिया की शिकार है।

अब इस सन्दर्भ में हम दो अधोलिखित अवधारणाओं द्वारा प्राप्त प्रभावों को देखते हैं। ये अवधारणाएँ समान बल वाली हैं।

2. सुमन, जो थैलासीमिया की शिकार है, का विवाह सोहन के साथ होने वाला है।
3. सोहन, जो थैलासीमिया का शिकार है, का विवाह सुमन के साथ होने वाला है।

सन्दर्भ 1 में उपर्युक्त दोनों अवधारणाएँ कुछ सान्दर्भिक-प्रभाव प्राप्त कर लेती हैं अतः दोनों रेलेवेण्ट हैं। सामान्यतः दोनों जिस सान्दर्भिक-निहितार्थ का वहन करती हैं, वह है-

4. सुमन तथा सोहन दोनों को अपने बच्चों के सम्भाव्य-आनुवांशिक-खतरों के सम्बन्ध में डॉक्टर से सलाह लेनी चाहिए।

फिर भी (3) (2) से अधिक रेलेवेण्ट है। कारण यह है कि (3)

सन्दर्भ में अधोलिखित सान्दर्भिक निहितार्थ को प्राप्त करती है, जिसे (2) नहीं करती -

5. सुमन तथा सोहन को सन्तानोत्पत्ति के विरुद्ध सावधान किया जाना चाहिए।

अवधारणा (2) को (5) प्राप्त नहीं हो सकता, क्योंकि इससे (2) यह निश्चित नहीं हो पाता कि दोनों को थैलासीमिया है। इसके अतिरिक्त (2) का उद्देश्य अंश (पूर्वार्द्ध- 'सुमन को थैलासीमिया है') स्वयं सन्दर्भ का भाग होने से कोई सान्दर्भिक प्रभाव प्राप्त नहीं करता तथा रेलेवेंस की मात्रा को कम कर देता है।

इसके विपरीत (3) पूर्णतः नवीन सूचना है, जो सन्दर्भ में अपेक्षाकृत अधिक प्रभावों को प्राप्त करती है। इससे यह निश्चित भी हो जाता है कि दोनों व्यक्तियों को थैलासीमिया है - फलतः सान्दर्भिक-निहितार्थ (5) प्राप्त हो जाता है।

इस प्रकार समान प्रक्रमण प्रयत्न होने पर भी अपेक्षाकृत अधिक सान्दर्भिक-प्रभाव प्राप्त करने वाली अवधारणा अपेक्षाकृत अधिक रेलेवेंसयुक्त होती है।

इसकी विपरीत स्थिति को लेखक निम्नोक्त उदाहरण से समझाते हैं। माना (3) तथा (6) दोनों का प्रक्रमण एक ही सन्दर्भ (1-क-ख-ग) में माना जाय -

3. सोहन, जो थैलासीमिया का शिकार है, का विवाह सुमन के साथ होने वाला है।
6. सोहन, जो थैलासीमिया का शिकार है, का विवाह सुमन के साथ होने वाला है तथा वर्ष 1967 फ्रांसीसी मदिराओं के लिए महत्वपूर्ण वर्ष था।

(6) में सम्प्रेषित अतिरिक्त सूचना सन्दर्भ (1:क-ख-ग) से बिल्कुल असम्बद्ध है तथा किसी भी सान्दर्भिक-प्रभाव को प्राप्त नहीं करती। यह अतिरिक्त सूचना कुछ अतिरिक्त प्रक्रमण-प्रयत्न की अपेक्षा करती है। अतः (6) और अधिक सम्प्रत्ययात्मक-सामग्री तथा और निगमात्मक नियमों की

व्यवस्था करती है। इस प्रकार परिभाषा के अनुसार (6), (3) की अपेक्षा कम रेलेवेण्ट है क्योंकि (3) अल्पतर प्रक्रमण-प्रयत्न के व्यय से समान सान्दर्भिक प्रयत्नों को प्राप्त करती है।

उपर्युक्त उदाहरण केवल एक सान्दर्भिक-प्रभाव = सान्दर्भिक-निहितार्थ को स्पष्ट करता है। इसी प्रकार लेखकों ने ऐसे उदाहरण दिये हैं जहाँ अवधारणाओं द्वारा विभिन्न प्रकार के सान्दर्भिक प्रभाव एक साथ प्राप्त किये जाते हैं।⁴⁵

अतिरञ्जित उक्तियाँ, जिन्हें सामान्यतः स्वीकार नहीं किया जा सकता, प्रायः रेलेवेंस-रहित होती हैं, जबकि सन्तुलित एवं स्वीकार्य उक्तियाँ कम से कम वक्ता की अवधारणा को निश्चित करने के कारण कुछ रेलेवेंस प्राप्त कर लेती हैं।

इस प्रसंग में लेखकों ने कुछ विचार प्रस्तुत किये हैं। क्या रेलेवेंस-तत्त्व के तुलनात्मक मूल्याङ्कन के साथ ही मात्रात्मक मूल्याङ्कन भी सम्भव है? किसी सन्दर्भ से पृथक् या किसी विशेष सन्दर्भ में दो अवधारणाओं के प्रक्रमण में जो अपेक्षित प्रयत्न है; उनकी तुलना हेतु प्रक्रिया क्या हो सकती है?

इसके समाधान में कहा गया है कि सान्दर्भिक प्रभाव तथा प्रक्रमण-प्रयत्न मानसिक-प्रक्रियाओं के ऐसे आयाम हैं, जिनका प्रतिरूपण (Representation) नहीं होता।⁴⁶ अवबोध की प्रक्रिया के दौरान इनका अस्तित्व निश्चित रूप से होता है चाहे व्यक्ति चेतनापूर्वक इनका निर्धारण कर पाता हो अथवा नहीं; चाहे उनका प्रत्ययात्मक रूप से प्रतिरूपण होता हो या नहीं। इनका प्रतिरूपण सदैव तुलनात्मक निर्णय के रूप में ही हुआ करता है। ये निर्णय प्रातिभ ज्ञान के रूप में होते हैं। यह प्रतिभा (Intuition) प्राप्त प्रभावों तथा व्ययित प्रयत्नों के सम्बन्ध में केवल पश्चदर्शी (retrospective) प्रतिभा के रूप में ही नहीं अपितु अग्रदर्शी (prospective) प्रतिभा के रूप में भी होती है अर्थात् व्यक्ति में यह जानने की प्रतिभा होती है कि किस अवधारणा को कितने प्रयत्नों की अपेक्षा है तथा वह कितने प्रभावों को प्राप्त करेगी।

जैसे कि ऊपर कहा गया है, मानसिक-प्रभाव तथा प्रयत्न मानसिक-प्रक्रियाओं के अप्रतिरूपणीय (Non-representational) गुण-धर्म हैं। इनका प्रकार्य होने के नाते रेलेवेंस भी एक अ-प्रतिरूपणीय धर्म

है। रेलेवेंस एक ऐसा तत्त्व है, जिसे प्राप्त करने हेतु उसे प्रतिरूपित किया जाना आवश्यक नहीं होता। जब भी इसका प्रतिरूपण होता है, तुलनात्मक-निर्णयों (comparative judgement) एवं स्थूल-निरपेक्ष-निर्णयों (Gross absolute judgements) के सूचक शब्दों के माध्यम से होता है न कि परिशुद्ध-निरपेक्ष (Fine absolute judgement) अर्थात् मात्रात्मक निर्णयों के माध्यम से। ये सूचक शब्द हो सकते हैं - अ-रेलेवेण्ट, दुर्बलतया रेलेवेण्ट, अत्यधिक रेलेवेण्ट आदि।

अधिकतम सान्दर्भिक-प्रभाव तथा प्रक्रमण-प्रयत्नों की भविष्यवाणी करने वाले कारकों की पहचान पर्याप्त रूप से सहज है। उदाहरणार्थ - अवधारणाएँ जितनी ही बलवती होती हैं उतने ही सान्दर्भिक-प्रभावों को प्राप्त करने वाली होती हैं। इसी प्रकार समान सन्दर्भ में एकाधिक सूचनाओं के प्रक्रमण में अथवा समान सूचना के बृहत्तर सन्दर्भ में प्रक्रमण के लिए अधिक प्रयत्न की आवश्यकता पड़ती है।

चूँकि रेलेवेंस का विचार एक मनोवैज्ञानिक तत्त्व के रूप में किया जाना है, इसलिये इसकी मात्रात्मक-परिभाषा (Quantitative - definition) आवश्यक नहीं है।¹⁷

(v) सन्दर्भ का स्वरूप

रेलेवेंस नामक अध्याय के तीसरे खण्ड में इस प्रश्न पर विचार किया गया है कि सन्दर्भ प्रदत्त (given) होता है या उसका चयन किया जा सकता है? इस प्रसङ्ग में लेखकों ने सन्दर्भ के घटक तत्त्वों के बारे में विस्तार से सोदाहरण चर्चा की है। जब तक सन्दर्भ स्पष्ट न हो जाये हम दो अवधारणाओं के मध्य रेलेवेंस का तारतम्य निर्धारित नहीं कर सकते। सामान्यतया सन्दर्भ व्यक्ति की (पूर्ववर्ती) अवधारणाओं का समुच्चय होता है, जिससे संयुक्त होकर नयी अवधारणा विभिन्न प्रकार के सान्दर्भिक प्रभावों को प्रदान करती है।¹⁸

सम्प्रेषण प्रक्रिया के व्याख्याताओं के द्वारा यह तथ्य लगभग स्वीकृत है कि किसी उक्ति के अवबोध हेतु सन्दर्भ चुनाव का विषय नहीं है। वाग्व्यवहार के प्रसङ्ग में सन्दर्भ किसी प्रदत्त वस्तु की तरह निश्चित होता है। किसी एक

कालखण्ड में व्यक्ति को केवल एक ही सन्दर्भ उपलब्ध होता है अर्थात् 'प्रदत्त अवधारणा का अवबोध कराने वाला सन्दर्भ उसी संवाद-प्रक्रिया के पूर्ववर्ती अवधारणाओं द्वारा अभिहित सम्प्रत्ययों का समुच्चय होता है।⁴⁹

लेखकों ने इसके सोदाहरण खण्डन का उपक्रम किया है।

सम्प्रेषण की निगमनात्मक-प्रक्रिया के प्रारम्भ में निगमनात्मक-उपकरण की स्मृति में स्थित अवधारणाओं के समुच्चय को दो उपसमुच्चयों के अन्तर्गत रखा जा सकता है। इनमें से प्रत्येक अन्य उपसमुच्चयों के प्रक्रमण हेतु सन्दर्भ का काम करता है। इनमें से एक में सामान्यतः नवीन तथा दूसरे में सामान्यतः पुरातन सूचनाएँ अवस्थित होती हैं।

किसी नवीन सूचना के प्रक्रमण में एक महत्वपूर्ण चरण है - निगमनात्मक-उपकरण की स्मृति में इस सूचना को पृष्ठभूमि-अवधारणाओं के एक पर्याप्ततया चयनित समुच्चय से जोड़ना, जो उस समय सन्दर्भ का घटक होता है। प्रत्येक नवीन सूचना के सन्दर्भीकरण के लिए विभिन्न स्रोतों से अवधारणाओं के कई प्रकार के समुच्चय सन्दर्भ के रूप में चुने जा सकते हैं, जैसे दीर्घावधिक-स्मृति, अल्पावधिक स्मृति, प्रत्यक्षण (preception) आदि। इसका तात्पर्य यह नहीं है कि उपलब्ध अवधारणाओं के समुच्चय से किसी भी ऐच्छिक उपसमुच्चय को सन्दर्भ मान लिया जाय। व्यक्ति के अतिव्यापक स्मृति (Encyclo-memory) का संघटन तथा उसका मानसिक-क्रियाकलाप शक्य-सन्दर्भ (potential context) का परिशीलन करता है। वास्तविक-सन्दर्भ (actual-context) का चयन इसी शक्य सन्दर्भ से किसी भी काल विशेष में किया जा सकता है।⁵⁰

अतिव्यापक-सूचनाएँ दीर्घावधिक-स्मृति में विशिष्ट प्रकार के खण्डों (chunks) के रूप में संघटित रहती हैं। इन खण्डों की चर्चा विवरणिका (Schema), ढाँचा (Frame), दृश्य-विधान (Scenario) तथा आद्य रूप (prototype) जैसे नामों से की गयी है। उपर्युक्त अतिव्यापक प्रविष्टियाँ भी इनके खण्ड हैं। 'अतिव्यापक-स्मृति' से 'निगमनात्मक-उपकरण' को स्थानान्तरित होने वाली लघुतम-इकाइयाँ वस्तुतः खण्ड रूप ही होती हैं न कि व्यक्तिगत-अवधारणा रूप।

ऐसा होने पर भी किसी काल विशेष में अतिव्यापक सूचना के सभी खण्ड समान रूप से निगमनात्मक उपकरण में नहीं पहुँच पाते। ऐसा तभी हो पाता है जब इन खण्डों से सम्बन्धित विचार (सम्प्रत्यय) उन अवधारणाओं में उपस्थित हों जो निगमनात्मक-उपकरण में पहले से ही पहुँच चुकी हों। इन सूचना खण्डों की पहुँच में जितने अधिक चरणों (steps) का व्यय होता है-सन्दर्भ उतना ही विस्तृत होता है। इस का परिणाम होता है- अधिक प्रक्रमण प्रयत्न तथा कम रिलेवेंस।

संवाद के समय व्यक्ति जब किसी नई सूचना का प्रक्रमण प्रारम्भ करता है, तो ऐसी स्थिति में उसके मस्तिष्क में पहले की प्रक्रमित अवधारणाएँ भी उपस्थित रहती हैं। नवीन सूचना के प्रक्रमण के समय मनुष्य का मस्तिष्क बिलकुल शून्य नहीं रहता अपितु इसमें कुछ प्रकार के अल्पावधिक-स्मृति भण्डार (short-term-memory-store) होते ही हैं⁵¹, जिसके घटक सामान्यतः कभी मिटते नहीं।

प्रत्येक निगमनात्मक प्रक्रिया के प्रारम्भ में निगमनात्मक-उपकरण के अन्तर्गत आधार वाक्यों के रूप में अवधारणाओं का एक प्रारम्भिक-समुच्चय होता है। इस समुच्चय से यथाशक्य निष्पाद्य निहितार्थों का निष्पादन तथा सबलीकरण हो जाता है। प्रक्रिया के अन्त तक निगमनात्मक-उपकरण की स्मृति के अन्तर्गत सबलीकृत रूप में सभी मौलिक अवधारणाएँ तथा नये निष्पन्न निष्कर्ष सम्मिलित हो गये होते हैं। ये सभी निगमनात्मक-उपकरण की स्मृति में बचे रहते हैं, जबकि अन्य अवधारणाएँ अर्थात् वे आधार वाक्य जिन्होंने निगमन को न तो प्रभावित किया न ही उससे प्रभावित हुए, उपकरण की स्मृति से मिट दी जाती हैं।

व्यक्ति के मस्तिष्क में उपलब्ध अल्पावधिक-स्मृति भण्डार में केवल निगमनात्मक उपकरण ही नहीं अपितु इसके अतिरिक्त कई अल्पावधिक-संप्रत्ययात्मक स्मृति का भी अस्तित्व होता है। इसमें तत्काल [अनुपयुक्त सन्दर्भ का भण्डारण होता है।] लेखकों के अनुसार निगमनात्मक-उपकरण की स्मृति से मिटयी गयी अवधारणाएँ कुछ समय के लिए इस प्रकार की अल्पावधिक स्मृति भण्डार में रखी जाती हैं।⁵²

निगमनात्मक-उपकरण की स्मृति में शेष बची अवधारणाएँ अर्थात् पूर्ववर्ती उक्तियों की व्याख्याएँ तत्क्षण प्रदत्त सन्दर्भ को संघटित करती हैं जिनमें अग्रिम उक्ति का प्रक्रमण सम्भव हो सके।⁵³

लेखकों का तर्क है कि तत्काल प्राप्त सन्दर्भ केवल प्रारम्भिक सन्दर्भ होता है जिसे विभिन्न दिशाओं में बढ़ाया जा सकता है। पीछे जाकर पूर्ववर्ती निगमनात्मक-प्रक्रिया में प्रयुक्त अथवा निष्पादित अवधारणाओं को सन्दर्भ से जोड़कर इसका विस्तार सम्भव है।⁵⁴ इसके अतिरिक्त संवाद के प्रसङ्ग में आगे आने वाली उक्तियों की व्याख्या भी सन्दर्भ से जुड़ सकती है।

अतिव्यापक प्रविष्टियों को जोड़कर भी सन्दर्भ का विस्तार सम्भव है। जैसा कि पहले उदाहरणों द्वारा स्पष्ट किया गया है। परन्तु इन प्रविष्टियों को प्रत्येक सम्प्रत्यय तथा प्रत्येक विषय में जोड़कर सन्दर्भ-विस्तार प्रक्रमण-प्रयत्न की वृद्धि तथा रेलेवेंस की कमी का कारण बनता है। इस कमी से यह सिद्ध भी हो जाता है कि सन्दर्भ केवल प्रदत्त या निर्धारित नहीं होता। यदि हम सन्दर्भ के निश्चय का आधार व्यक्तिगत चुनाव मानें तो यह मानना तर्कसंगत लगता है कि ये विस्तार तभी होते हैं जब उनकी आवश्यकता होती है; अन्यथा नहीं।

सन्दर्भ विस्तार का तीसरा मार्ग है उसमें तत्क्षण निरीक्षणीय-परिसर के सम्बन्ध में सूचनाएँ जोड़ना।⁵⁵ सम्प्रत्यात्मक-कार्यों के सम्पादन के प्रसङ्ग में व्यक्ति भौतिक-वातावरण का निरन्तर सूक्ष्म निरीक्षण करता रहता है। इसको प्राप्त सूचनाएँ अल्पावधिक-सम्प्रत्ययात्मक-स्मृति-भण्डारों में संक्षेपतः संगृहीत हो जाती हैं। आवश्यकता पड़ने पर ये सूचनाएँ यहाँ से निगमनात्मक-उपकरण की स्मृति में स्थानान्तरित हो सकती हैं।

इस प्रकार लेखकों ने सुझाया है कि अवबोध प्रक्रिया अथवा सामान्य आनुमितिक प्रक्रिया के लिए सन्दर्भ का चयन निम्नोक्त प्रकारों से निर्धारित किया जा सकता है -

1. निगमनात्मक-उपकरण की स्मृति के घटकों के द्वारा।
2. सामान्य प्रयोजन वाले अल्पावधिक स्मृति भण्डारों की स्मृति के घटकों द्वारा।

3. अतिव्यापक-स्मृति के घटकों द्वारा तथा

4. भौतिक-वातावरण से तत्क्षण गृहीत सूचनाओं द्वारा।

ये कारक न केवल एक सन्दर्भ अपितु सम्भाव्य सन्दर्भों की शृंखला को भी निर्धारित करते हैं।⁵⁶

प्रेगमैटिक-शास्त्र का यह विचार लेखकों को मान्य नहीं है कि पहले सन्दर्भ निश्चित हो जाता है, उसके बाद व्याख्या की प्रक्रिया द्वारा रेलेवेंस का मूल्यांकन होता है। व्यक्ति रेलेवेंस के मूल्यांकन में नहीं उलझता। वह तो इस प्रयत्न में लगा रहता है कि प्रत्येक नई सूचना से अधिकाधिक सान्दर्भिक प्रभाव अल्पाल्प प्रक्रमण-प्रयत्न में प्राप्त हो जाय। रेलेवेंस का मूल्याङ्कन बोध-प्रक्रिया का साध्य नहीं अपितु यह इस प्रक्रिया के साध्य अर्थात् रेलेवेंस को उच्चतम सीमा तक बढ़ाने का साधन मात्र है।

व्यक्ति यह आशा करता है कि जिस अवधारणा प्रक्रमण हो रहा है, वह रेलेवेण्ट है तथा इस आशा को सफल करने वाले ऐसे सन्दर्भ की खोज करता है जिसमें रेलेवेंस उच्चतम सीमा तक प्राप्त हो जाय। शाब्द-अवबोध में रेलेवेंस को प्रदत्त (given) तथा सन्दर्भ को परिवर्तनीय (variable) माना जाता है।⁵⁷

इस प्रकार यह स्पष्ट होता है कि सन्दर्भ केवल प्रदत्त ही नहीं होता बल्कि बड़ी सीमा तक चुनाव का विषय भी होता है।

(vi) व्यक्तिगत रेलेवेंस

अगली चर्चा व्यक्तिगत-रेलेवेंस (relevance to an individual) से सम्बन्धित है। इसमें यह दिखाया गया है सान्दर्भिक-रेलेवेंस का अमूर्त विचार (जो मनोवैज्ञानिक आधार पर और अधिक महत्त्वपूर्ण है) व्यक्तिगत-रेलेवेंस के साथ हमारे लिए और सहायक सिद्ध हो सकता है।⁵⁸ इस प्रयत्न का प्रयोजन रेलेवेंस की एक ऐसी अवधारणा के समीप आना है जो मनोवैज्ञानिक रूप से पर्याप्त हो ताकि इसका प्रयोग शाब्द बोध तथा अन्य संज्ञानात्मक प्रक्रियाओं में हो सके।⁵⁹

किसी भी निगमनात्मक-प्रक्रिया की समाप्ति पर व्यक्ति के पास प्राप्य सन्दर्भों का एक विशिष्ट-समुच्चय होता है। यह समुच्चय अंशतः व्यवस्थित होता है। प्रारम्भिक सन्दर्भ को छोड़कर प्रत्येक सन्दर्भ के अन्दर एक या इससे अधिक लघुतर सन्दर्भ होते हैं। प्रत्येक सन्दर्भ किसी न किसी एक अथवा इससे अधिक बृहत्तर सन्दर्भ में सम्मिलित होता है। इस प्रकार प्राप्य-सन्दर्भों का समुच्चय समावेशन सम्बन्ध से अंशतः व्यवस्थित होता है।⁶⁰ समावेशन का यह क्रम प्राप्यता के क्रम के अनुरूप होता है। प्रारम्भिक-लघुतम सन्दर्भ तुरन्त प्राप्य होता है - अर्थात् जिन सन्दर्भों में केवल प्रारम्भिक सन्दर्भ समाविष्ट होते हैं वे केवल एक चरण (step) में प्राप्त कर लिये जाते हैं। ये सन्दर्भ सर्वाधिक प्राप्य होते हैं। जिन सन्दर्भों में प्रारम्भिक-सन्दर्भ के अतिरिक्त एक विस्तार भी सम्मिलित होता है, वे दो चरणों में प्राप्य होते हैं। ये पूर्वतन सन्दर्भ से कुछ कम प्राप्य होते हैं।

इस प्रसङ्ग में प्राप्य होने का अर्थ अल्पतम प्रक्रमण-प्रयत्न के फलस्वरूप अधिकतम प्रभाव की प्राप्ति है।

जिस प्रकार किसी सन्दर्भ में एक सूचना के प्रक्रमण की प्रक्रिया में कुछ प्रयत्न व्यय होते हैं उसी प्रकार किसी सन्दर्भ को प्राप्त करने में भी कुछ प्रयत्न लगते हैं⁶¹। सन्दर्भ जितना ही कम प्राप्य होगा, उसे प्राप्त करने में उतना ही अधिक प्रयत्न करना पड़ेगा।

लेखकों ने व्यक्तिगत-रेलेवेंस की व्याख्या के लिए छः स्थितियाँ प्रस्तुत की हैं। जिसके अन्तर्गत एक नवीन अवधारणा-‘क’ उन कुछ या सभी सन्दर्भों में रेलेवेण्ट हो सकती है जो किसी व्यक्ति को (एक प्रदत्त समय के अन्तर्गत) प्राप्य हैं। जैसे -

- (अ) यदि ‘क’ महत्तम शक्ति के साथ प्रारम्भिक-सन्दर्भ में पहले से उपस्थित है अथवा लक्षित है। ऐसी स्थिति में प्रस्तुत सन्दर्भ तथा अन्य प्राप्य सन्दर्भों में ‘क’ रेलेवेंस रहित है, क्योंकि इन सभी सन्दर्भों में प्रारम्भिक सन्दर्भ निहित होता है। अतः प्रारम्भिक सन्दर्भ के अतिरिक्त रेलेवेंस का अन्वेषण व्यर्थ सिद्ध होगा।

- (आ) 'क' सभी प्राप्य सन्दर्भों में से न तो किसी में उपस्थित है न ही लक्षित ऐसी स्थिति में भी 'क' सभी प्राप्य सन्दर्भों में रेलेवेसहीन माना जायेगा, क्योंकि ऐसी स्थिति में रेलेवेस के अन्वेषण हेतु प्रारम्भिक-सन्दर्भ के विस्तार में कोई तर्क शेष नहीं रहा है।
- (इ) 'क' प्रारम्भिक सन्दर्भ तथा सभी प्राप्य सन्दर्भों में उपस्थित (या उनसे लक्षित) तो है परन्तु बृहत्तम शक्ति के साथ नहीं। ऐसी स्थिति में इन सन्दर्भों में अवधारणा 'क' का सबलीकरण होता है तथा उसका रेलेवेस निश्चित हो जाता है। यहाँ सन्दर्भ का विस्तार करना पड़ता है, क्योंकि 'क' प्रारम्भिक-सन्दर्भ की अपेक्षा विस्तारित-सन्दर्भ में अधिक सान्दर्भिक-प्रभावों को प्राप्त कर पाता है।⁶²
- (ई) 'क' किसी भी प्राप्य सन्दर्भ में उपस्थित (या उनसे लक्षित) नहीं है तथा प्रारम्भिक-सन्दर्भ में कुछ सान्दर्भिक निहितार्थों को प्राप्त करता है। इस स्थिति में 'क' उन सब प्राप्य-सन्दर्भों में रेलेवेण्ट है जिनमें यह इन सान्दर्भिक-निहितार्थों को बनाए रखती है। यहाँ भी अधिकतम सान्दर्भिक प्रभावों की प्राप्ति हेतु सन्दर्भ का विस्तार किया जाता है। विस्तार के कारण बढ़ा हुआ प्रक्रमण-प्रयत्न परिवर्द्धित-सान्दर्भिक प्रयत्नों से अधिक नहीं हो पाता, (अन्यथा रेलेवेस की अल्पता का प्रसङ्ग नहीं रहता)।
- (उ) 'क' किसी भी सन्दर्भ में न तो उपस्थित है और न ही लक्षित। प्रारम्भिक-सन्दर्भ में तो नहीं बल्कि प्रारम्भिक सन्दर्भ के कुछ विस्तारों में 'क' को कुछ सान्दर्भिक प्रभाव प्राप्त हैं। इस स्थिति में 'क' कुछ प्राप्य-सन्दर्भों में रेलेवेण्ट है। यहाँ बिना सन्दर्भ-विस्तार के थोड़ा सा भी रेलेवेस प्राप्त नहीं किया जा सकता।
- विस्तारित-सन्दर्भ में आवधारणा 'क' किसी पूर्वस्थित सूचना का सबलीकरण करके स्वयं को रेलेवेण्ट सिद्ध कर सकती है।
- (ऊ) 'क' प्रारम्भिक-सन्दर्भ में उपस्थित (या उससे लक्षित) नहीं है, तथापि बृहत्तर प्राप्य-सन्दर्भों में कुछ में (महत्तर-शक्ति के साथ)

उपस्थित है अर्थात् - 'क' उन सन्दर्भों में कुछ प्रभाव प्राप्त करती है जिनमें वह उपस्थित नहीं है। ऐसी स्थिति में 'क' प्राप्य सन्दर्भों में से कुछ में रेलेवेँस को प्राप्त कर लेती है। इसका रेलेवेँस एक अनुस्मारक (Reminder) वाक्य के रेलेवेँस की भाँति होगा।

अनुस्मारक द्वारा उत्पादित सान्दर्भिक-प्रभाव अन्यथा भी प्राप्त किये जा सकते हैं परन्तु इसमें समय तथा प्रक्रमण-मूल्य का व्यय अधिक होता। अनुस्मारक द्वारा यह कार्य शीघ्र तथा कम मूल्य पर किया जा सकता है।⁶³ इस प्रकार अनुस्मारक रेलेवेण्ट हो जाता है।

प्रारम्भिक दो स्थितियों को छोड़कर लेखकों ने शेष सभी के उदाहरण प्रस्तुत किये हैं। स्थिति (इ) तथा (ई) दोनों में रेलेवेँस तत्काल प्रकट हो जाता है। दोनों में अन्तर यह है कि (इ) में रेलेवेँस की प्राप्ति सान्दर्भिक सबलीकरण के द्वारा जबकि (ई) में सान्दर्भिक निहितार्थ के द्वारा सम्भव होती है। (उ) में सन्दर्भ विस्तार के कारण प्रयत्न में भी परिवर्द्धन हो जाता है परन्तु यह परिवर्तन सामान्यतया अनुभव में नहीं आता, फलतः रेलेवेँस तत्काल अथवा लगभग तत्काल उद्भूत हो जाता है। (ऊ) की स्थिति में रेलेवेँस अनुस्मारक के रेलेवेँस की भाँति होने के कारण तत्काल उद्भूत हो जाता है।

इन स्थितियों के आधार पर व्यक्तिगत-रेलेवेँस की एक वर्गकारी परिभाषा प्रस्तुत की जा सकती है -

“एक अवधारणा किसी काल विशेष में - किसी व्यक्ति के प्रति केवल तभी रेलेवेण्ट है जब वह (अवधारणा) उस काल विशेष में उस व्यक्ति के द्वारा प्राप्य एक अथवा एकाधिक सन्दर्भों में रेलेवेण्ट हो।⁶⁴

चूँकि रेलेवेँस एक तुलनात्मक अवधारणा है अतः व्यक्तिगत तुलनात्मक रेलेवेँस की परिभाषा भी प्रभाव एवं प्रयत्न के पदों द्वारा दी जानी चाहिए। इस प्रसङ्ग में प्रयत्न पर विचार करते समय किसी सन्दर्भ में अवधारणा के प्रक्रमण में लगे प्रयत्न के साथ ही किसी सन्दर्भ को प्राप्त करने में आवश्यक प्रयत्न को भी ध्यान में रखना चाहिए।⁶⁵ एक ही सन्दर्भ विभिन्न मार्गों से प्राप्त किया जा सकता है। अतः प्रयत्न की विभिन्न मात्राएँ लग जाती हैं, फलतः इन सन्दर्भों का रेलेवेँस-मूल्य भी भिन्न-भिन्न हो जाता है। इस कारण से व्यक्तिगत-रेलेवेँस को

‘रेलेवेंस-मूल्य’ के पदों में लक्षित किये जाने की आवश्यकता है। लेखकों की अवधारणा है कि बृहत्तम रेलेवेंस की ओर वक्ता का लक्ष्य स्वतः ही हो जाता है तथा इस बृहत्तम रेलेवेंस का आकलन ही उसके संज्ञानात्मक व्यवहार को प्रभावित करता है।

बृहत्तम-रेलेवेंस की प्राप्ति के अन्तर्गत किसी अवधारणा के प्रक्रमण हेतु सर्वश्रेष्ठ सम्भावित सन्दर्भ का चयन भी सम्मिलित होता है। ऐसा सन्दर्भ वह होता है जो प्राप्तव्य प्रभाव के साथ प्रयत्न को सर्वाधिक सन्तुलित होने योग्य बनाता है - अर्थात् ऐसा सन्दर्भ जिसमें प्रक्रमण के दौरान प्रयत्न प्रभाव की तुलना में अधिक न होने पाये। जब इस प्रकार का सन्तुलन प्राप्त हो जाता है तब यह कहा जा सकता है कि अवधारणा का प्रक्रमण इष्टतम रीति से (*optimally processed*) हो गया।⁶⁶ जब हम किसी व्यक्ति के प्रति अवधारणागत रेलेवेंस की बात करते हैं तो हमारा तात्पर्य होता है कि यह रेलेवेंस अवधारणा के इष्टतम रीति से प्रक्रमित होने के अनन्तर प्राप्त हुआ था।

अब व्यक्तिगत-रेलेवेंस के तुलनात्मक-लक्षण को उपस्थित करते हैं, जो पूर्ववत् सीमा-अनुबन्ध (*Extent-conditions*) के पदों में प्रस्तुत किया गया है -

सीमा-अनुबन्ध - 1: कोई अवधारणा किसी व्यक्ति के प्रति उस सीमा तक रेलेवेण्ट है जब तक इष्टतम रीति से प्रक्रमित होने पर, उसके द्वारा प्राप्त सान्दर्भिक-प्रभाव अधिक हों।⁶⁷

सीमा-अनुबन्ध - 2: कोई अवधारणा किसी व्यक्ति के प्रति उस सीमा तक रेलेवेण्ट है जब तक कि उसके इष्टतम रीति से प्रक्रमित होने के लिए अपेक्षित प्रयत्न कम हों।⁶⁸

(vii) घटना तथा उद्दीपक से सम्बद्ध रेलेवेंस

अब तक रेलेवेंस को अवधारणाओं के गुण धर्म के रूप में दर्शाया गया। उक्तियों के रेलेवेंस को सामान्यतः उनके द्वारा स्पष्टतः अभिहित होने वाली अवधारणाओं के समकक्ष ही माना गया। परन्तु वस्तुतः उक्ति से अभिहित अवधारणा को प्राप्त करना अथवा अवधारणाओं के वातावरण से प्राप्त करना

इतना सरल नहीं है। दोनों स्थितियों में मानसिक प्रयत्न की अपेक्षा करने वाली जटिल संज्ञानात्मक प्रक्रियाएँ सम्मिलित होती हैं।⁶⁹

वक्ता अवधारणाओं को श्रोता के सामने साक्षात् प्रकट नहीं कर सकता। वह तो केवल श्रोता के प्रति उद्दीपक प्रस्तुत करता है तथा आशा करता है कि उद्दीपक का सम्प्रत्यय श्रोता के संज्ञानात्मक-वातावरण का परिष्कार करके कुछ संज्ञानात्मक-प्रक्रमणों को उत्प्रेरित करेगा। श्रोता के लिए उद्दीपक प्रारम्भिक रूप में एक (दृश्य) घटना (phenomenon) की भाँति होता है - भौतिक वातावरण का एक सम्प्रत्यय योग्य अभिलक्षण मात्र। इसे उद्दीपक के रूप में तभी पहचान पाते हैं जब यह जान लिया जाता है कि यह घटना किन्हीं संज्ञानात्मक प्रभावों की प्राप्ति हेतु प्रस्तुत की गई है।

प्रश्न उठता है कि व्यक्ति किन घटनाओं की ओर ध्यान देता है? तथा उन घटनाओं द्वारा व्यक्त किये गये सूचनाओं के प्रक्रमण में वह कैसे लगा रहता है? वस्तुतः श्रोताओं की प्रवृत्ति केवल रेलेवेण्ट-घटनाओं पर ध्यान देने की ही होती है तथा उनका प्रक्रमण वे रेलेवेंस को उच्चतम सीमा तक बढ़ाने के लिए करते हैं। इसी कारण रेलेवेंस को केवल मनोगत अवधारणाओं का ही नहीं अपितु वातावरणगत घटनाओं (उद्दीपकों, जैसे - उक्तियों) का भी धर्म स्वीकार किया गया है, जो अवधारणाओं की संरचना की ओर ले जाते हैं। इस विचार को अध्याय के अगले विभाग - (The relevance of phenomena and stimuli) में सम्यक् प्रकार से प्रस्तुत किया गया है।⁷⁰

व्यक्ति का संज्ञानात्मक वातावरण उसके प्रति प्रत्यक्ष सभी तथ्यों का समुच्चय होता है।⁷¹ कोई घटना संज्ञानात्मक-वातावरणगत तथ्यों में से कुछ को प्रत्यक्ष करती है तथा कुछ को (जो पहले से प्रत्यक्ष होते हैं) प्रत्यक्षतर। घटना का उक्त वातावरण पर यही प्रभाव होता है। इसके परिणामस्वरूप व्यक्ति इन तथ्यों को बलवान् अथवा बलवत्तर अवधारणा के रूप में प्रस्तुत करता है।

आगे श्रोता इनका उपयोग उन अवधारणाओं को निष्पन्न करने में करता है जिनका सम्बन्ध वास्तविक तथ्यों से तो नहीं होता पर वे उसके प्रति प्रत्यक्ष अवश्य होते हैं।

कोई एक घटना बहुत अधिक अवधारणाओं को प्रकट कर सकती है।

परन्तु इसका अर्थ यह नहीं कि व्यक्ति सब पर ध्यान देता हो। उदाहरण के लिए किसी के घर में यदि नित्यप्रति की भाँति गन्ध आती हो तो व्यक्ति उस पर ध्यान नहीं देता तथा उस गन्ध के प्रति कोई भी अवधारणा प्राप्त नहीं करता। परन्तु यदि घर में प्रवेश करने पर उसको गैस की गन्ध आती हो तो बहुत सम्भव है कि व्यक्ति अवधारणा (17) तथा (18) को प्राप्त करें -

(17) गैस की गन्ध आ रही है।

(18) घर में कहीं गैस निकल रही है।

उपर्युक्त घटना के द्वारा प्रत्यक्ष एक अवधारणा (19) भी है परन्तु बहुत कम सम्भव है कि व्यक्ति के मस्तिष्क में यह निर्मित हो -

(19) गैस-कम्पनी में हड़ताल नहीं है।

क्या कारण है कि व्यक्ति कुछ अवधारणाओं को निर्मित करता है तथा कुछ को नहीं? पहली बात यह है कि कुछ अवधारणाएँ ऐसी हैं जिनके निर्माण की उपेक्षा व्यक्ति नहीं कर सकता।

कुछ श्रव्य-घटनाएँ स्वतः ध्यान आकृष्ट कर लेती हैं अर्थात् वे साम्प्रत्ययिक स्तर पर अवधारणाओं तथा अनुमानों को स्वतः उत्पन्न कर देती हैं। ऐसी घटनाएँ सम्भवतः सहज रूप में निर्धारित होती हैं। उदाहरणार्थ - बच्चे की अस्पष्ट चिल्लाहट भी माँ के ध्यान को सहजतया आकृष्ट कर लेती है।

इस प्रकार कुछ घटनाएँ स्वतः ध्यान से हट जाती हैं तथा कुछ स्वतः ध्यान को आकृष्ट कर लेती हैं - इसे संज्ञानात्मक क्षमता को उच्चतम सीमा तक बढ़ाने वाले अन्वेषणात्मक-उपकरण (Heuristic device) के रूप में देखा जा सकता है।⁷²

सामान्यतया स्वतः ध्यान में न आने वाली घटनाओं का रेलेवेंस-युक्त होना बहुत कम सम्भव है, जबकि ध्यान आकृष्ट कर लेने वाली घटनाओं में रेलेवेंस की सम्भावना अत्यधिक होती है। दूसरे शब्दों में - संप्रत्ययात्मक सक्रियता तथा सम्प्रत्ययात्मक निष्क्रियता - दोनों रेलेवेंस के अनुकूल होते हैं।⁷³

घटना उन अवधारणाओं के आधार पर कम या अधिक सामर्थ्य से

प्रक्रमित की जा सकती है, जिन्हें यह प्रत्यक्ष कराती है। कुछ घटनाओं की सर्वश्रेष्ठ प्रक्रिया होती है- अवधारणाओं को दरकिनार कर देना। दूसरों के लिए अवधारणाओं को सम्प्रत्ययात्मक रीति से निरूपित करके उन्हें एक समृद्ध अतिव्यापक-सन्दर्भ में प्रक्रमित करना सर्वश्रेष्ठ प्रक्रिया होती है। घटनाओं से सम्बन्धित रेलेवेँस की अवधारणा इस प्रकार परिभाषित की जा सकती है -

घटना सम्बद्ध-रेलेवेँस (वर्गकारी-परिभाषा)

‘कोई घटना किसी व्यक्ति के प्रति केवल तभी रेलेवेण्ट होगी जब इसके द्वारा प्रत्यक्षीकृत अवधारणाओं में से एक या अधिक (अवधारणा) उस व्यक्ति के प्रति रेलेवेण्ट हो।’⁷⁴

यहाँ भी पूर्ववत् तुलनात्मक परिभाषा सम्भव है। इस प्रसङ्ग में न केवल सन्दर्भ को प्राप्त करने तथा उस सन्दर्भ में अवधारणा के प्रक्रमण में लगे प्रयत्न अपितु उस अवधारणा को संरचित करने के लिए अपेक्षित प्रयत्नों पर भी ध्यान दिया जाना चाहिए। विभिन्न अवधारणाओं की संरचना, प्रक्रमण के प्रभाव तथा प्रयत्न की मात्रा भिन्न-भिन्न होने से रेलेवेँस की मात्रा भी भिन्न-भिन्न हो जाती है। आगे सीमा-अनुबन्ध के पदों में दी गई रेलेवेँस की तुलनात्मक-परिभाषा प्रस्तुत है -

घटना सम्बद्ध-रेलेवेँस (तुलनात्मक-परिभाषा)

सीमा-अनुबन्ध - 1 : कोई घटना किसी व्यक्ति के प्रति उस सीमा तक रेलेवेण्ट है जब तक इष्टतम रीति से प्रक्रमित होने पर उसके द्वारा प्राप्त सान्दर्भिक-प्रभाव अधिक हों।⁷⁵

सीमा-अनुबन्ध-2 : कोई घटना किसी व्यक्ति के प्रति उस सीमा तक रेलेवेण्ट है जब तक कि उसके इष्टतम रीति से प्रक्रमित होने के लिए अपेक्षित प्रयत्न कम हों।⁷⁶

उद्दीपक संज्ञानात्मक-प्रभावों की प्राप्ति के लिए प्रयुक्त एक घटना है। अतः किसी उद्दीपक के प्रति रेलेवेँस किसी भी अन्य घटना के प्रति प्राप्त रेलेवेँस के समान ही होगा। फलतः उपर्युक्त परिभाषाएँ उस स्थिति में भी

प्रयुक्त हो जायेंगी। लेखकों का तर्क है कि घटनाओं अथवा उद्दीपकों का प्रक्रमण रेलेवेंस को सर्वोच्चता प्राप्त कराने की दिशा में नियन्त्रित होता है।⁷⁷ विशिष्ट-संज्ञानात्मक-प्रभाव की प्राप्ति के इच्छुक व्यक्ति को एक ऐसे उद्दीपक को उत्पन्न करने का प्रयत्न करना होगा जो इष्टतया प्रक्रमित होते समय अपेक्षित प्रभावों को प्राप्त करे। ये प्रभाव अवधान अथवा उप-अवधान दोनों के स्तर पर प्राप्त हो सकते हैं। यदि शिशु माता का ध्यान आकृष्ट करना चाहता है तो उसके लिए सर्वोत्कृष्ट प्रक्रिया प्रत्यक्षण-पूर्वक रोने की क्रिया होगी। इससे माता का ध्यान आकृष्ट होगा तथा सबसे रेलेवेण्ट अवधारणा यह होगी कि शिशु असुविधा में है।

किसी सूचनात्मक-आशय के पारस्परिक प्रत्यक्षण के लिए प्रयुक्त उद्दीपकों को 'निदर्शनात्मक-उद्दीपक' (*Ostensive-stimuli*) कहते हैं। इनके द्वारा श्रोताओं के अवधान को आकृष्ट करने के साथ ही सम्प्रेषक के आशयों पर केन्द्रित होना आवश्यक होता है। निदर्शनात्मक-उद्दीपक को सम्प्रेषक के आशयों के प्रति श्रोताओं का ध्यान आकृष्ट कराने वाला होना चाहिए। 'उद्दीपक निदर्शनात्मक' है, ऐसी अवधारणा इतनी प्रत्यक्ष तथा रेलेवेण्ट होनी चाहिए ताकि इष्टतया प्रक्रमण हो सके। निदर्शनात्मक-सम्प्रेषण में प्रयुक्त कूटित-चिह्न (सामान्यतया भाषिक उक्तियाँ) जब तक निदर्शनात्मक उद्दीपक के रूप में व्यवहृत नहीं होते उनकी स्थिति केवल असम्बद्ध कोलाहल की होती है।⁷⁸ अ-कूटित उद्दीपकों की भी ऐसी ही स्थिति होती है। अकूटित-उद्दीपकों द्वारा किये गये केवल वे ही व्यवहार रेलेवेण्ट होते हैं जो व्यक्ति के सूचनात्मक-आशयों से सम्बद्ध अवधारणा के रूप में होते हैं। सर्वोत्कृष्ट निदर्शनात्मक उद्दीपक भी, जब तक निदर्शनात्मक न माना जाय, पूर्णतः रेलेवेंस रहित ही रहेगा।⁷⁹

निदर्शनात्मक-उद्दीपक सूचनाओं के साथ-साथ सूचनात्मक आशय को भी प्रकट करता है। इसका कारण यह है कि निदर्शनात्मक-उद्दीपक सम्प्रेषक से सम्बद्ध रेलेवेंस की गारण्टी के साथ आता है। जबकि सामान्य घटनाएँ (उद्दीपक) रेलेवेंस की प्रागनुभविक-प्रत्याशा से सम्बन्धित नहीं होते।

उक्ति का उत्पादन करने के द्वारा वक्ता श्रोता के अवधान का अनुरोध

करता है। अनुरोध से व्यक्त होता है कि उसकी उक्ति इतनी पर्याप्त रेलेवेण्ट है कि श्रोता का ध्यानाकर्षण कर सके। यह केवल भाषिक-व्यवहार तक सीमित नहीं अपितु इसके अन्तर्गत सभी प्रकार के निदर्शनात्मक-सम्प्रेषण आते हैं।

निदर्शनात्मक-उद्दीपक रेलेवेंस की निश्चित-प्रत्याशा उत्पन्न करते हैं। यह रेलेवेंस सम्प्रेषक के सूचनात्मक आशय की पहचान के बाद ही प्राप्त हो सकता है।

लेखकों ने निदर्शनात्मक-आनुमितिक-सम्प्रेषण की निम्नोक्त परिभाषा दी है -

“सम्प्रेषक के द्वारा जनित उद्दीपक का सम्प्रेषक तथा श्रोता दोनों को पारस्परिकरूप से प्रत्यक्ष कर देना निदर्शनात्मक-आनुमितिक-सम्प्रेषण है।⁸⁰ इस उद्दीपक की सहायता से सम्प्रेषण का आशय श्रोता को अवधारणाओं के एक समुच्चय (I) को व्यक्त अथवा व्यक्ततर करना है।”

निदर्शनात्मक-उद्दीपक सम्प्रेषक के सूचनात्मक-आशय को कैसे अभिव्यक्त करता है? इसका उत्तर लेखकों ने रेलेवेंस-सिद्धान्त के माध्यम से देने का प्रयत्न किया है।

निदर्शनात्मक-सम्प्रेषण श्रोता के ध्यान को आकर्षित करके अपने प्रभावों को प्राप्त करता है। अतः निदर्शन की क्रिया श्रोता के अवधान के प्रति अनुरोध की भाँति है। इस अनुरोध के द्वारा सम्प्रेषक स्पष्ट करता है कि इसमें श्रोता के हित भी निहित हैं। वक्ता का यह सुझाव पूर्णतया निरस्त नहीं किया जा सकता। अनुरोधकर्ता यह ध्यान में रखकर ही अनुरोध प्रकट करता है कि अनुरोधित व्यक्ति के अन्तर्गत उसे पूर्ण करने के कुछ प्रवर्तक (motives) अवश्य विद्यमान हैं। निदर्शनात्मक-सम्प्रेषण को श्रोता के सहयोग की अपेक्षा रहती है। यह सहयोग औचित्यपूर्ण-संज्ञानात्मक-व्यवहार तथा विशिष्ट-अवधान द्वारा हो सकता है।⁸¹ यदि वक्ता कोई वस्तु श्रोता के संज्ञान में पहुँचाता है तो यह विश्वास होना चाहिए कि वह वस्तु श्रोता के वैचारिक जगत् में स्वीकृत होगी।

निदर्शनात्मक-उद्दीपक तथा अन्य सामान्य घटना, दोनों के ग्रहण के समय श्रोता की मानसिक संरचना में नितान्त पार्थक्य रहता है। अन्य घटनाओं के ग्रहण के समय उसे रेलेवेंस की सम्भावना हो सकती है क्योंकि यदि उसे

रेलेवेंस की तनिक भी प्रत्याशा नहीं होती तो उन घटनाओं को ग्रहण क्यों करता? ऐसा मनुष्य की अन्वेषणात्मक-प्रकृति के कारण होता है। मनुष्य इन खोज-प्रणालियों में कुछ जन्मजात तो कुछ अनुभव के आधार पर परिवर्धित की गई होती है। इनका लक्ष्य रेलेवेंस-युक्त घटनाओं को चुनना होता है।

जबकि निदर्शनात्मक-उद्दीपक के प्रति श्रोता को केवल संभावना ही नहीं अपितु रेलेवेंस की पर्याप्त प्रत्याशा भी होती है।⁸² यह स्पष्ट है कि श्रोता जब तक संप्रेषणगत उद्दीपक के प्रति अवधान नहीं देता, निदर्शनात्मक-सम्प्रेषण अपने प्रभावों को प्राप्त करने में असमर्थ रहता है। यह भी स्पष्ट है कि व्यक्ति केवल उसी घटना के प्रति अवहित होता है जो उसे रेलेवेंस से युक्त लगती है। इस स्थिति में यह भी स्पष्ट है कि निदर्शनात्मक-उद्दीपक को उत्पन्न करने वाले वक्ता का यह आशय होना चाहिए कि उसके द्वारा जनित उद्दीपक श्रोताओं को रेलेवेण्ट लगे। जिससे श्रोताओं का ध्यान उस पर जाय तथा सम्प्रेषण अपने प्रभावों को प्राप्त कर सके। इस प्रसङ्ग में लेखकों ने पारस्परिकता की एक और परत जोड़ी है। उनकी परिकल्पना है कि निदर्शनात्मक-उद्दीपक का उत्पन्न होना केवल सामान्य-रूप से प्रत्यक्ष नहीं है अपितु वक्ता तथा श्रोता दोनों के प्रति पारस्परिक-रीति से प्रकट है। सम्प्रेषक का यह आशय कि 'उद्दीपक ग्रहीता को रेलेवेण्ट प्रतीत हो', दोनों के प्रति पारस्परिक रीति से प्रकट होता है। निदर्शनात्मक-आनुमितिक सम्प्रेषण की परिभाषा से स्पष्ट होता है कि सम्प्रेषक यह अवश्य संप्रेषित करता है कि उसके द्वारा प्रयुक्त उद्दीपक ग्रहीता के प्रति रेलेवेंसयुक्त है। दूसरे शब्दों में निदर्शनात्मक-सम्प्रेषण की कोई क्रिया 'रेलेवेंस के प्रकल्पना' (presumption of relevance) का सम्प्रेषण करती है।⁸³

किसी उद्दीपक का रेलेवेंस दो कारकों पर निर्धारित होता है - 1. इसे इष्टतम रीति से प्रक्रमित करने के लिए अपेक्षित प्रयत्न तथा 2. इष्टतम प्रक्रमण द्वारा प्राप्त संज्ञानात्मक-प्रभाव। रेलेवेंस की प्रकल्पना (presumption) उपर्युक्त प्रयत्न तथा प्रभाव दोनों पक्षों में भिन्न-भिन्न होती है। प्रयत्न के पक्ष में प्रकल्पना है कि प्रयत्न का स्तर प्रभावों को प्राप्त करने में अपेक्षित प्रयत्नों से अधिक नहीं होना चाहिए। प्रभाव के पक्ष में प्रकल्पना यह है कि उद्दीपक को

प्रक्रमण योग्य बनाने में अपेक्षित प्रयत्नों की अपेक्षा प्राप्य प्रभावों का स्तर कभी भी कम नहीं होना चाहिए।

संप्रेषण के दौरान यह ग्रहीता के हित में है कि अवधारणा (I) सम्प्रेषक को उपलब्ध सूचनाओं में सर्वाधिक रेलेवेंट हो। यद्यपि इस स्थिति में वक्ता एवं श्रोता दोनों में मतैक्य होना आवश्यक नहीं है। सम्प्रेषक अवधारणाओं के किसी भी यादृच्छिक समुच्चय का भी नहीं अपितु एक विशेष समुच्चय (I) का सम्प्रेषण करना चाहता है, जिसके लिए उसके अपने विशेष तर्क होते हैं।

अपने सम्प्रेषणात्मक-आशय को प्राप्त करने हेतु सम्प्रेषक को विभिन्न उद्दीपकों की शृंखला में से एक को चुनना होता है, जो उसकी सूचनात्मक-आशय को पारस्परिक रूपेण प्रकट कर दे। संप्रेषक उन सभी उद्दीपकों को ग्रहण नहीं करता जो अत्यधिक प्रयत्न की अपेक्षा करते हैं अथवा जिन्हें वह आपत्तिजनक मानता है। सामान्यतः वह संभाव्य उद्दीपकों की एक विस्तृत शृङ्खला को छोड़ देता है। ग्रहीता के हित में वह अल्पतम प्रयत्न वाले उद्दीपक चुनता है। इस बिन्दु पर सम्प्रेषक तथा ग्रहीता एकमत होते हैं। यह सम्प्रेषक के भी हित में है कि उसके द्वारा सम्प्रेषित वस्तु को ग्रहीता प्रक्रमित करे, एतदर्थ उसे सूचना की प्रक्रमणीयता के अनुकूल सरल तथा स्वयं भी विश्वस्त होना होता है। यदि ग्रहीता को सन्देह हो जाय कि सम्प्रेषक द्वारा चयनित उद्दीपक सर्वाधिक रेलेवेण्ट नहीं है तो वह अपेक्षित-प्रक्रमण प्रयत्न करना अस्वीकृत कर सकता है। इसलिए यह दोनों को स्पष्ट हो जाता है कि सम्प्रेषक का यह आशय है कि ग्रहीता को यह प्रकट हो जाय कि उसके द्वारा चुना गया सर्वाधिक रेलेवेण्ट उद्दीपक उसके आशयों को पूर्ण करने के योग्य है।

प्रकल्पित-रेलेवेंस सम्प्रेषक तथा ग्रहीता दोनों के हितों को ध्यान में रखता है। लेखकों ने इसे इष्टतम-रेलेवेंस (optimal relevance) का स्तर कहा है। इष्टतम-रेलेवेंस की प्रकल्पना पुस्तक में इस प्रकार समझायी गयी है।

इष्टतम-रेलेवेंस की प्रकल्पना (Presumption of optimal relevance)

(क) अवधारणाओं के जिस समुच्चय (I) को सम्प्रेषक ग्रहीता के प्रति प्रकट करना चाहता है वह इतना रेलेवेण्ट है कि निदर्शनात्मक-उद्दीपक के प्रक्रमण के लिए उपयुक्त हो सके।⁸⁴

(ख) सम्प्रेषक ने समुच्चय (I) को सम्प्रेषित करने में जिसका प्रयोग किया होगा वह सर्वाधिक-रेलेवेण्ट निदर्शनात्मक उद्दीपक है।⁸⁵

इष्टतम रेलेवेँस के आधार पर रेलेवेँस-तत्त्व का निष्कृष्ट सिद्धान्त लक्षण इस प्रकार दिया गया है-

रेलेवेँस सिद्धान्त

‘निदर्शनात्मक-सम्प्रेषण की प्रत्येक क्रिया अपने इष्टतम-रेलेवेँस की प्रकल्पना को सम्प्रेषित करती है।’⁸⁶

इस परिभाषा के साथ ही सिद्धान्त के प्रतिपादन का केन्द्रीय कथ्य पूरा हो जाता है। इसके अनन्तर -- लेखकों ने रेलेवेँस-तत्त्व से सम्बद्ध विशिष्ट प्रश्नों को उठाकर उसका समाधान दिया है ताकि सिद्धान्त और स्पष्ट हो जाय। इनका सार-संक्षेप अग्रलिखित है।

रेलेवेँस सिद्धान्त का क्षेत्र : रेलेवेँस सिद्धान्त केवल निदर्शनात्मक-सम्प्रेषण पर लागू होता है, सभी प्रकार के सम्प्रेषणों पर नहीं।

रेलेवेँस का लक्ष्य (ग्रहीता): निदर्शनात्मक-सम्प्रेषण का ग्रहीता वह होता है जिसके संज्ञानात्मक-वातावरण का परामर्श सम्प्रेषक करना चाहता है। सम्प्रेषक रेलेवेँस की प्रकल्पना को उन सभी के प्रति प्रेषित करता है जो इसे रेलेवेण्ट मानते हुए इसके प्रति अवहित होते हैं।⁸⁷

रेलेवेँस की प्रकल्पना : रेलेवेँस-सिद्धान्त यह स्थापित नहीं करता कि सम्प्रेषक निश्चित रूप से इष्टतम रेलेवेँस-युक्त उद्दीपकों को ही उत्पन्न करते हैं अपितु इसके अनुसार सम्प्रेषक को यह विश्वास होता है कि उसके उद्दीपक स्पष्टतया रेलेवेण्ट हैं। यहाँ तक कि उकता देने वाले व्यक्ति भी अपनी श्रोतव्यता के प्रति विश्वस्त होते हैं। ऐसी स्थितियों में जहाँ रेलेवेँस की प्राप्ति नहीं होती वहाँ भी कम से कम यह विश्वसनीय प्रकल्पना तो अवश्य होती है कि रेलेवेँस के लिए प्रयास किया गया था।

ग्रहीता सम्प्रेषण के रेलेवेँस हेतु कितने प्रयत्न की प्रत्याशा करता है, यह

परिस्थितियों, संप्रेषक तथा संप्रेषक-ग्रहीता सम्बन्ध के आधार पर भिन्न-भिन्न होता है।

कुछ घटनाएँ तथा प्रतिरूपण लम्बे समय तक रेलेवेँट तथा प्राप्य बने रहते हैं जबकि अन्य घटनायें केवल कुछ क्षणों के लिए। कभी-कभी उस कम रेलेवेँस वाले उद्दीपक पर ध्यान देना अधिक श्रेयस्कर होता है जिसका संज्ञानात्मक-प्रभाव तुरन्त प्रक्रमण न होने पर हमेशा के लिए समाप्त हो सकता है तथा अपेक्षाकृत अधिक रेलेवेण्ट सूचना जिसका प्रक्रमण बाद में हो सकता है उसे छोड़ दिया जाता है। इसी प्रकार कुछ उद्दीपकों में आन्तर रेलेवेँस कम होता है परन्तु उचित समय पर प्रक्रमित होने पर वे पश्चवर्ती उद्दीपकों का रेलेवेँस बढ़ा देते हैं। उदाहरण के लिए पाणिनीय अष्टाध्यायी का सञ्ज्ञाप्रकरण। जो विधिसूत्रों के साथ मिलकर उनके प्रभावों में वृद्धि कर देता है।

ग्रहीता की बौद्धिकता-अवधानता के आधार पर भी रेलेवेँस भिन्न हो जाता है।⁸⁸

निदर्शनात्मक-उद्दीपक को उत्पन्न करके संप्रेषक अपने दो प्रकार के आशयों को पूर्ण करना चाहता है -

- (i) सूचनात्मक-आशय : अर्थात् ग्रहीता के प्रति सूचनाओं के समुच्चय (I) को प्रकट करना।
- (ii) सम्प्रेषणात्मक-आशय : अर्थात् सूचनात्मक आशय को परस्पर के प्रति प्रकट करना।

‘सम्प्रेषणात्मक-आशय सूचनात्मक आशय की पूर्णता का कारण बनता है’। अर्थात् ग्रहीता उस सूचना पर विश्वास करने लगता है जिसे वह समझता है कि विश्वास योग्य सम्प्रेषक उसके प्रति इसे प्रकट करना चाहता है। परन्तु सम्प्रेषणात्मक-आशय स्वयं कैसे पूरा होता है? यह वस्तु अभी भी व्याख्या सापेक्ष है। इस प्रश्न का आशय है कि निदर्शनात्मक-सम्प्रेषण की कार्य-प्रणाली कैसी है?

आशयात्मक व्यवहारों में अन्तर्निहित साक्ष्य की प्राप्ति व्यवहार के प्रभावों के निरीक्षण से होती है। निदर्शनात्मक सम्प्रेषण में भी सूचनात्मक आशय द्वारा सम्प्रेषणात्मक-प्रभाव के आशय पहचाने जाते हैं। सूचनात्मक प्रभाव भी निहित

सूचनात्मक आशय की पहचान से ही प्राप्त होते हैं। ये आशय भी स्वतन्त्र रूप से प्रभावमात्र से प्राप्त नहीं होते। इस प्रसङ्ग में सूचनात्मक-आशय को परस्पर-प्रत्यक्ष करने हेतु अनेक आनुमानिक-चरणों की पर्याप्त व्याख्या की गयी है। यहाँ प्रमुख प्रश्न यह है कि सम्प्रेषक के सूचनात्मक-आशय का अनुमान कैसे किया जाता है?

उद्दीपक सम्प्रेषक तथा ग्रहीता दोनों के पारस्परिक संज्ञानात्मक-वातावरण में उन अवधारणाओं को प्रकट करता है जिनसे सूचनात्मक-आशय अनुमित हो सकते हैं। सर्वप्रथम यह प्रत्यक्ष होना चाहिए कि उद्दीपक निदर्शनात्मक है। यह कार्य प्रत्यक्षतः आशयात्मक उद्दीपक का उत्पादन करके होता है। यह उद्दीपक ध्यान आकर्षित करने के साथ तब तक रेलेवेण्ट-रहित होता है जब तक सम्प्रेषण के आशय के प्रति इसे साक्ष्य के रूप में ग्रहण न किया जाय। उद्दीपक की निदर्शनात्मक प्रकृति जब सम्प्रेषण तथा ग्रहीता दोनों के प्रति प्रकट हो जाती है तब यह बात भी प्रत्यक्ष हो जाती है कि सम्प्रेषक सूचनात्मक-आशय से युक्त है अर्थात् वह ग्रहीता के प्रति अवधारणाओं के किसी समुच्चय को प्रकट करना चाहता है। इस स्थिति में सम्प्रेषक के सूचनात्मक आशय के पहचान की समस्या घट कर अवधारणाओं के समुच्चय की पहचान तक सीमित हो जाती है। यह कार्य रेलेवेस सिद्धान्त के द्वारा पूर्ण होता है। रेलेवेस तत्त्व द्वारा सम्पादित कार्य-विधि का वर्णन **Relevance** नामक अध्याय के अन्तिम खण्ड - '**How relevance theory explains ostensive inferential communication**' में विशदतया किया गया है।

इस प्रकार लेखक सिद्ध करते हैं कि रेलेवेस-सिद्धान्त से ही व्याख्यात हो पाता है कि किस प्रकार निदर्शनात्मक-सम्प्रेषण सफल होता है तथा किन स्थितियों में असफल।⁸⁹

(viii) रेलेवेस सिद्धान्त की उपयोगिता

रेलेवेस सिद्धान्त के साङ्गोपाङ्ग-वर्णन के पश्चात् किया शाब्दिक-सम्प्रेषण के अध्ययन में रेलेवेस-सिद्धान्त की उपयोगिता को स्पष्ट किया जा रहा है।

लेखकों ने यह आशा व्यक्त की है कि रेलेवेस-सिद्धान्त एक ऐसा

प्रागैमैटिक (संकेत प्रायोगिक) ढाँचा प्रदान करता है, जिसके अन्तर्गत सम्प्रेषण-प्रक्रिया से सम्बद्ध गम्भीर प्रश्न उठाये जा सकते हैं तथा नये उत्तर खोजे जा सकते हैं।⁹⁰

अपनी पुस्तक के चतुर्थ अध्याय के प्रथम विभाग (Language and communication) में लेखकों ने भाषा तथा सम्प्रेषण के किसी भी अविनाभूत सम्बन्ध को नकारा है। भाषा सम्प्रेषण का अनिवार्य माध्यम नहीं है, उदाहरणार्थ अकूटित-सम्प्रेषण में (अक्षिनिकोच आदि संकेतों में) भाषा नहीं होती। यह भी आवश्यक नहीं है कि भाषा सम्प्रेषण हेतु ही प्रयुक्त हो - लैटिन आदि भाषाएँ सम्प्रेषण में प्रयुक्त नहीं होतीं।⁹¹ फिर भी भाषा सम्प्रेषक-उपकरणों की एक आवश्यक विशेषता है। परस्पर सम्प्रेषण में समर्थ दो उपकरणों को भेजी गयी सूचनायें आन्तरिक स्तर पर प्रतिरूपण में भी समर्थ होनी चाहिए - जो आन्तरिक भाषा के बिना असम्भव है। मुख्यतः निदर्शनात्मक सम्प्रेषण के लिए सम्प्रेषक-उपकरणों के पास सामान्य सम्प्रेषण की अपेक्षा समृद्धतर आन्तरिक भाषा तथा शक्तिशाली आनुमिति-क्षमता होनी चाहिए।

भाषिक-सम्प्रेषण, अभाषिक सम्प्रेषण की अपेक्षा अधिक स्पष्ट, यथा-तथ्य तथा बहुआयामी होता है अतः अधिक शक्तिशाली भी सिद्ध होता है। भाषिक सम्प्रेषण में उक्ति का भाषिक-वर्णन व्याकरण द्वारा निर्धारित होता है तथा आर्थी-प्रतिरूपणों की शृङ्खला भी प्रस्तुत की जाती है। अतः यह अत्यन्त निश्चित तथा स्पष्ट होता है।

शाब्द-सम्प्रेषण के अन्तर्गत दो प्रकार की सम्प्रेषण-प्रक्रियाएँ आती हैं - पहली संकूटन तथा विकूटन एवं दूसरी निदर्शन तथा अनुमान पर आधारित है। इनमें कूटित सम्प्रेषण प्रक्रिया स्वतन्त्र नहीं, अपितु आनुमानिक प्रक्रिया के प्रति गौण होती है।⁹² जबकि आनुमानिक-प्रक्रिया चूँकि कूटित सम्प्रेषण की सहायता के बिना भी कार्य करती है अतः स्वतन्त्र होती है। कूटित-सम्प्रेषण वस्तुतः आर्थ-प्रतिरूपणों को सम्प्रेषित करने के लिए प्रयुक्त होता है। ये प्रतिरूपण आनुमानिक-प्रक्रिया के लिए साक्ष्य एवं प्राक्कल्पनाओं के स्रोत सिद्ध होते हैं।

द्वितीय विभाग (Verbal communication: explicatures and implicatures) में अभिहितार्थ (explicature) तथा निहितार्थ (implicature) के स्वरूप को स्पष्ट किया गया है।

संकेत प्रयोग विज्ञान का लक्ष्य है श्रोता के कार्य की व्याख्या करना।⁹³ अर्थात्, 'श्रोता अवधारणाओं के उस समुच्चय को कैसे पहचान लेता है, जिसे वक्ता आशयपूर्वक उसके प्रति प्रकट करना चाहता है?' इसकी व्याख्या।

इस कार्य में कई छोटे-छोटे आनुमानिक कार्य अन्तर्निहित हैं। इसमें सबसे पहला है - उक्ति के लिए एक प्रातिज्ञप्तिक-रूप (propositional form) का निर्धारण करना। इसके अन्तर्गत निम्नलिखित उपक्रम सम्मिलित होते हैं - 1. उक्त वाक्य का विसन्दिग्धीकरण 2. समुद्दिष्ट-अभिव्यक्ति (जैसे - this, it आदि) के लिए प्रसङ्गार्थ का निर्धारण एवं 3. अस्पष्टार्थ पदों का स्पष्टीकरण। दूसरे शब्दों में- किसी उक्ति के द्वारा अभिव्यक्त होने वाले प्रातिज्ञप्तिक-रूप के लिए उसके आर्थ-प्रतिरूपण का चयन, उसका सम्पूर्ण तथा संवर्द्धन किया जाना होता है।⁹⁴ निश्चित रूप से यह प्रक्रिया अनुमान लभ्य है।

उदाहरणार्थ- सीता भोजन बनाकर कहती है -

20 - 'यह ठण्डा हो जायेगा'

सोहन के द्वारा, इस उक्ति का निर्धारित प्रातिज्ञप्तिक-रूप निम्नवत् होगा-

21 (a) 'भोजन अतिशीघ्र ठण्डा हो जायेगा।'

'प्रातिज्ञप्तिक-रूप' की पहचान के साथ ही वक्तृगत मानसिक-वृत्तियों जैसे सूचनात्मक-प्रश्नात्मक आदि को भी पहचान लेता है। उदाहरण के लिए यदि उपर्युक्त वाक्य सूचनात्मक है तो सूचना का स्वरूप इस प्रकार होगा -

21 (b) 'सीता ने कहा है कि भोजन अतिशीघ्र ठण्डा हो जायेगा।'

तत्पश्चात् सीता की प्रातिज्ञप्तिक-अभिवृत्ति (Propositional attitude) ज्ञात होती है-

21 (c) 'सीता को विश्वास है कि भोजन अतिशीघ्र ठण्डा हो जायेगा।'

अब यदि उपर्युक्त सूचना परस्पर प्रत्यक्ष है तो उक्ति 21 (a) से निम्नोक्त सूचना का अनुमान होगा -

21 (d) सीता यह चाहती है कि मोहन आकर तुरन्त भोजन कर ले।

21 (a) से (d) तक सभी सूचनाओं को वक्ता श्रोता के प्रति प्रकट करना चाहता है, तथापि 21 a-c तथा 21 d के प्रत्यभिज्ञान की प्रक्रिया में पर्याप्त अन्तर है। 21 a - c अवधारणाएँ उक्ति (20) द्वारा संकूटित तार्किक रूपों में से कम से कम एक को धारण करती हैं। ये आनुमितिक रूप से संरचित होकर सान्दर्भिक सूचनाओं के द्वारा पूर्ण तथा समृद्ध होकर तार्किक-रूप से प्रातिज्ञप्तिक-रूप में परिवर्तित हो जाती हैं।⁹⁵ अवधारणा के संरचना की यह प्रक्रिया तार्किक रूप का विकास कही जा सकती है। अवधारणा 21 d केवल तार्किक रूप का विकास मात्र नहीं है। इसकी संरचना सान्दर्भिक सूचना के आधार पर तथा अतिव्यापक-स्मृति से गृहीत अवधारणा-विवरणिकाओं के विकास से होता है। वस्तुतः अभिहितार्थ तथा निहितार्थ के मध्य यही अन्तर है। प्रत्यक्षतया संप्रेषित अवधारणा अभिहितार्थ तथा अप्रत्यक्ष रूपेण संप्रेषित अवधारणा निहितार्थ कही जाती है।

अग्रिम विभाग (3. The identification of propositional form) में लेखकों ने उपर्युक्त प्रातिज्ञप्तिक-रूप की पहचान में रेलेवेंस के भूमिका की चर्चा की है। पीछे चर्चा की गयी थी कि किसी निदर्शनात्मक-उद्दीपक की सम्यक् व्याख्या वही है, जो रेलेवेंस सिद्धान्त के अनुकूल हो। इससे यह व्यञ्जित होता है कि वास्तविक प्रातिज्ञप्तिक-रूप वह है जिसकी व्याख्या रेलेवेंस सिद्धान्त के अनुकूल हो।⁹⁶ इस प्रकार यह स्वयं भी रेलेवेंस सिद्धान्त के अनुकूल होता है। जो प्रातिज्ञप्तिक रूप रेलेवेंस सिद्धान्त के अनुकूल नहीं होता उसे छोड़ दिया जाता है तथा रेलेवेंस के अनुकूल व्याख्या को स्वीकार कर लिया जाता है। सामान्यतः प्रातिज्ञप्तिक रूप के पहचान की यही विधि है। प्रातिज्ञप्तिक रूप के पहचान की प्रक्रिया में सम्मिलित उप कार्यों का विसन्दिग्धीकरण, प्रसङ्ग-निर्धारण तथा समृद्धीकरण के प्रसङ्ग में भी रेलेवेंस सिद्धान्त की पर्याप्त भूमिका है। लेखकों ने सिद्ध किया है कि ये सभी उप-कार्य रेलेवेंस तत्त्व की ही ओर उन्मुख तथा उसी के द्वारा निर्देशित होते हैं। अगले (4. The

Identification of Implicatures) विभाग में निहितार्थों की पहचान में रेलेवेंस-सिद्धान्त की भूमिका प्रकट की गयी है। लेखकों तर्क है कि उक्तिगत निहितार्थों की प्राप्ति वक्ता के इस प्रत्याशा के प्रसङ्ग में होती है कि उसकी उक्ति किस प्रकार इष्टतम-रेलेवेंस प्राप्त कर सकती है।⁹⁷ निहितार्थ वह सान्दर्भिक अवधारणा है जिसको वक्ता इसलिये प्रकट करना चाहता है ताकि उसकी उक्ति प्रत्यक्षतः रेलेवेण्ट हो सके।⁹⁸ निहितार्थों के दो वर्ग किये गये हैं - 1. निहितार्थ आधार वाक्य तथा 2. निहितार्थ-निष्कर्ष।

इनमें पहले को वक्ता स्वयं अध्याहृत (supply) करता है। इन आधारवाक्यों को हम निहितार्थ के रूप में पहचान पाते हैं क्योंकि वे रेलेवेंस सिद्धान्त के अनुकूल व्याख्या की ओर ले जाते हैं। निहितार्थ-निष्कर्ष उक्तिगत अभिहितार्थ तथा सन्दर्भ से निकाले जाते हैं। इन्हें हम निहितार्थ के रूप में पहचान पाते हैं क्योंकि वक्ता की यही प्रत्याशा होनी चाहिए कि श्रोता इन्हें निष्पादित करे ताकि उसकी उक्ति रेलेवेण्ट हो सके। इस प्रकार दोनों वर्गों के निहितार्थ रेलेवेंस द्वारा नियन्त्रित होते हैं।

किसी उक्ति के अनेक निहितार्थ सम्भव हैं। हम कैसे निश्चित कर पाते हैं कि केवल अमुक निहितार्थ ही वक्ता को अभिमत हैं? लेखकों के अनुसार इन अनभिमत निहितार्थों से पिण्ड छुड़ाने का मार्ग भी रेलेवेंस सिद्धान्त ही सुझाता है। इन्होंने निहितार्थों की शक्ति के तारतम्य के अनुसार इन्हें ग्राह्य मानकर इस समस्या का समाधान किया है। आधार वाक्यों तथा निष्कर्षों को पूर्णतः निर्धारित करने वाला निहितार्थ सबसे बलवान् तथा कम निर्धारित करने वाला निहितार्थ उससे कम बलवान् होता है। निष्कर्षों को पूर्णतः निर्धारित करना अर्थात् रेलेवेंस को स्पष्ट करना। इस प्रकार निहितार्थ निर्धारण तथा तत्सम्बद्ध अन्य भाषिक-प्रक्रिया के लिए रेलेवेंस की उपयोगिता अत्यधिक है।

अध्याय के अग्रिम विभाग (**Propositional form and style: presuppositional effects**) में लेखकों ने उन शैलीगत प्रभावों की चर्चा की है, जो उक्ति की भाषिक संरचना के द्वारा निर्धारित होते हैं। इनकी प्राप्ति प्रातिज्ञप्तिक-रूप की पहचान की प्रक्रिया के दौरान हो जाती है।

इससे अगले विभाग (**Implicatures and style : poetic effects**)

में लेखकों ने निहितार्थों के सन्दर्भ में शैली तथा काव्यात्मक प्रभावों की चर्चा की है।

प्रत्येक लेखक की कोई न कोई शैली अवश्य होती है। रेलेवेंस तत्त्व पर ध्यान देते हुए वक्ता श्रोता की संज्ञानात्मक-क्षमताओं तथा सान्दर्भिक-स्रोतों के सम्बन्ध में कुछ अवधारणाएँ अवश्य रखता है। ये अवधारणाएँ उसके सम्प्रेषण में प्रतिबिम्बित होती हैं।

वक्ता उन सभी सूचनाओं को अनुक्त छोड़ देता है, जिनके सम्बन्ध में उसका विश्वास होता है कि श्रोता उनका आसानी से अध्याहार कर लेगा। श्रोता जितनी अधिक अनुक्त सूचनाओं का प्रयोग करता है वक्ता के साथ उसकी पारस्परिक-समझ उतनी ही अधिक सूचित होती है। अपनी इष्ट-सूचनाओं के सम्प्रेषण-हेतु वक्ता किन्हीं निश्चित प्रकार के वाक्य-विन्यास का चुनाव करता है। ये स्वरूप श्रोता के सान्दर्भिक स्रोतों तथा प्रक्रमण सम्बन्धी योग्यता को बताते हैं। इन्हें ही शैली कहते हैं। शैली नितान्त उदासीन नहीं हो सकती।⁹⁹

शैली का प्रादुर्भाव रेलेवेंस तत्त्व के अनुसरण में ही होता है।¹⁰⁰ इसको स्पष्ट करने हेतु उन्होंने परम्परागत अलंकारों के उदाहरण भी दिये हैं - क्योंकि अलंकार भी उक्ति की एक विशिष्ट शैली ही हैं। काव्यात्मक वाक्यों का प्रयोग कवि या विदग्ध इसलिए करता है, क्योंकि इनसे साधारण वाक्यों की अपेक्षा अत्यधिक निहितार्थ एवम् सान्दर्भिक अवधारणाएँ प्राप्त होती हैं। 'गङ्गायां घोषः' वाक्य 'गङ्गातटे घोषः' की अपेक्षा अधिक निहितार्थ (=शीतत्व, पावनत्व) प्राप्त कर पाता है।

प्रकृत अध्याय के सप्तम विभाग में भाषिक प्रयोग के वर्णनात्मक तथा व्याख्यात्मक दो आयामों की चर्चा की है। जब उक्तिगत प्रातिज्ञप्तिक रूप उन परिस्थितियों में सत्य होता है, जिसमें उस उक्ति का प्रयोग किया गया है, तब वह भाषा की वर्णनात्मक स्थिति होती है।¹⁰¹ उदाहरण के लिए - राम नामक व्यक्ति के जाने पर वक्ता की यह उक्ति 'राम जा रहा है।' इस वाक्य का प्रातिज्ञप्तिक रूप - ('वक्ता कह रहा है कि रामसंज्ञक व्यक्ति विशेष जा रहा है') भौतिक परिस्थिति में भी सत्य है।

भारतीय भाषाशास्त्र के अनुसार यह स्थिति वाक्य के अबाधित तथा

शाब्द अर्थ की स्थिति कही जा सकती है।

दूसरी स्थिति में उक्ति के द्वारा एक ऐसा (प्रातिज्ञप्तिक) प्रतिरूपण भी किया जा सकता है जिसका स्वयं अपना भी एक प्रातिज्ञप्तिक रूप हो।¹⁰² इस प्रकार का प्रयोग इन दोनों प्रातिज्ञप्तिक-रूपों में सादृश्य के कारण सम्भव हो पाता है। इस स्थिति में पहला दूसरे की व्याख्या करता है, फलतः इसे व्याख्यात्मक प्रयोग कह सकते हैं।

उदाहरणार्थ - उक्ति - 'गङ्गायां घोषः' 'गङ्गातटे घोषः' को प्रतिरूपित करती है, जिसका स्वयं एक प्रातिज्ञप्तिक-रूप है जो 'गङ्गायां-घोषः' के प्रातिज्ञप्तिक रूप से भिन्न है।

लेखकों के अनुसार जिस प्रकार संसार की घटनाएँ या वस्तुएँ किसी अन्य घटनाओं या वस्तुओं को सादृश्य के आधार पर प्रतिरूपित कर सकती हैं, उसी प्रकार उक्तियाँ (जो स्वयं घटनाएँ हैं) भी किसी का प्रतिरूपण कर सकती हैं, जिनसे उनकी समानता निर्धारित हो।¹⁰³

इन दो प्रतिरूपणों के प्रातिज्ञप्तिक रूपों के मध्य कितनी समानता होनी चाहिए इस प्रश्न का उत्तर 'रेलेवेस सिद्धान्त' अनिवार्य रूप से देता है।

उपर्युक्त विभाजन से एक कदम आगे बढ़कर लेखकों ने यह प्रस्तावित किया है कि प्रत्येक उक्ति एक व्याख्यात्मक-अभिव्यक्ति है।¹⁰⁴ वक्ता की उक्ति वक्ता के विचारों की व्याख्यात्मक-अभिव्यक्ति है। इस सूचनात्मक-आशय के सन्दर्भ में श्रोता व्याख्यात्मक-अवधारणाएँ निर्मित करता है। यह व्याख्या पहली से निकट (घनिष्ठ) है, इसका निर्णय रेलेवेस सिद्धान्त के आधार पर किया जा सकता है।¹⁰⁵

लेखकों के अनुसार किसी भी उक्ति में दो सम्बन्ध सम्मिलित होते हैं -

1. उक्ति के प्रातिज्ञप्तिक रूप एवं वक्ता के विचार के मध्य सम्बन्ध तथा 2. विचार तथा उसके प्रतिरूपण के मध्य चार सम्भाव्य सम्बन्धों में से एक।¹⁰⁶ आगे के दो विभागों (8 एवं 9) में लेखकों ने इसी विचार को प्रतिपादित तथा उपबृंहित किया है।

अग्रिम विभाग में वाक्य के अभिधेयार्थ तथा लक्ष्यार्थ के सम्बन्ध में रेलेवेस तत्त्व के योगदान पर प्रकाश डाला गया है।

दो प्रतिज्ञप्तियों के मध्य उपर्युक्त सम्बन्धों का आधार तादात्म्य (Identity) न होकर उभयगत सादृश्य है। अवबोध के अन्य पहलुओं की भाँति इन सादृश्यों की पहचान भी रेलेवेंस-सिद्धान्त के द्वारा निर्देशित है।¹⁰⁷

उक्ति वक्ता के विचार की व्याख्यात्मक अभिव्यक्ति होती है। यदि इसका प्रातिज्ञप्तिक-रूप विचार के प्रातिज्ञप्तिक-रूप के समान है तो उक्ति निश्चय ही शाब्दिक (Literal) है। यदि रेलेवेंस की प्राक्कल्पना उक्ति की पूर्ण अभिधायकता के द्वारा निश्चित होती है तभी श्रोता उस उक्ति को अभिधेयार्थक (Literal) मानेगा।¹⁰⁸ अर्थात् वाक्य को रेलेवेण्ट होने के लिए यहाँ लक्षणा आदि अन्य व्यापारों की सहायता नहीं लेनी पड़ती है।

आलङ्कारिक तथा लाक्षणिक वाक्यों में उक्तियों के प्रातिज्ञप्तिक रूप व्याख्यायित विचारों के प्रातिज्ञप्तिक रूपों से भिन्न होते हैं। इन दोनों प्रातिज्ञप्तिक रूपों में कुछ (अवधार्य) तार्किक तथा सान्दर्भिक निहितार्थ समान होते हैं। ये उक्तियाँ अप्रत्यक्ष होने के कारण कुछ अतिरिक्त प्रक्रमण-प्रयत्न की माँग करती हैं तथापि यहाँ सान्दर्भिक प्रयत्न में वृद्धि होकर रेलेवेंस बना रहता है।¹⁰⁹ इन उक्तियों में सम्भाव्य निर्णयों का परास जितना विस्तृत होता है, निहितार्थ उतने ही दुर्बल होते हैं तथा उनके निष्पादन में श्रोता का उत्तरदायित्व बढ़ जाता है। उदाहरणार्थ - “अग्निर्माणवकः” (ब्रह्मचारी आग है)।

यहाँ अभिधा से प्राप्त अर्थ के बोध होने के बाद तथा वाक्य के रेलेवेंस की व्याख्या हेतु श्रोता सान्दर्भिक-प्रभावों की एक विस्तृत शृङ्खला पर ध्यान केन्द्रित करता है। इनमें से असम्बद्ध निहितार्थ स्वतः नष्ट कर दिये जाते हैं। अग्नि के लक्षित गुणों का सादृश्य श्रोता माणवक में कल्पित करता है - शुचित्व, प्रकाशकत्व तथा दाहकत्व आदि-आदि। इन विस्तृत तथा बहुमुखी निहितार्थों की प्राप्ति हेतु ही वक्ता ने उपर्युक्त आलङ्कारिक वाक्य का प्रयोग किया था अन्यथा श्रोता को अतिरिक्त प्रयत्न से बचाने के लिये उसने वाक्य का अभिधेयार्थक प्रयोग किया होता। उत्कृष्ट तथा रचनात्मक लक्षणा वहाँ होती है जहाँ विभिन्न प्रकार के सान्दर्भिक प्रभाव प्राप्त किये जायें तथा सूक्ष्म निहितार्थ निकलते जायें।¹¹⁰ इसी को भारतीय काव्यशास्त्रियों ने घण्टारणनन्याय से ध्वनि की प्रतीति कहा है।

वक्ता के विचारों को श्रोता कम या अधिक विभिन्न विश्वस्त प्रकारों से व्याख्यायित करता है। इस प्रक्रिया में उसका नेतृत्व इष्टतम-रेलेवेंस का अन्वेषण ही करता है।¹¹

अग्रिम विभाग में लेखकों ने प्रतिध्वनिक उक्तियों (Echoic utterances) तथा व्यङ्ग्योक्ति (Irony) पर विचार किया है। इन दोनों में समानता यह है कि इनमें व्याख्यात वक्ता के विचार किसी अन्य विचार की व्याख्या होते हैं।¹² अर्थात् ये उक्तियाँ वक्ता के अतिरिक्त किसी अन्य वक्ता के विचार की व्याख्या होती हैं। नीचे एक प्रतिध्वनिक-उक्ति का उदाहरण दिया जा रहा है -

सीता : राम का परिवार उत्सव में नहीं आ रहा है।

सोहन : अच्छा! नहीं आ रहा है? यदि यह सच है तो हम श्याम के परिवार को बुला सकते हैं।

यहाँ सोहन की पहली उक्ति प्रतिध्वनिक है। यह उक्ति सीता के उक्ति की प्रतिध्वनि है। इसका रेलेवेंस केवल उपर्युक्त वाक्य की सूचना देने मात्र से नहीं है अपितु यह साक्ष्य देने से है कि सोहन ने उसके वाक्य पर ध्यान दिया तथा उक्ति की विश्वसनीयता और इसके निहितार्थों का मापन किया है। लेखकों ने सब प्रकार की व्यङ्ग्योक्तियों को प्रतिध्वनिक-उक्ति कहा है। इनमें वक्ता के मनोवृत्ति की अभिव्यक्ति निश्चित रूप से सम्मिलित होती है तथा प्रतिध्वनित उक्ति के प्रति वक्ता की मनोवृत्ति की सूचना पर ही व्यङ्ग्योक्ति का रेलेवेंस निर्भर करता है।¹³ उदाहरणार्थ “गतं गतं नैव च सन्निवर्तते जलं नदीनां च नृणां च यौवनम्”¹⁴ वाक्य के कामुक वक्ता का रेलेवेंस सन्यस्त मनोवृत्ति वाले के द्वारा उच्चरित इसी वाक्य के रेलेवेंस से नितान्त भिन्न होगा। इस भिन्नता का आधार वक्ता की मनोवृत्ति ही है। लेखकों के अनुसार व्यङ्ग्योक्ति-निहितार्थों की प्राप्ति हेतु तीन शर्तें बताई हैं - 1. यह पहचान कि उक्ति प्रतिध्वनिक है, 2. प्रतिध्वनित विचार के स्रोत की पहचान तथा 3. यह पहचान कि प्रतिध्वनित विचार के सन्दर्भ में वक्ता की मनोवृत्ति खण्डनात्मक या असाहचर्यात्मक है।

अन्त में लाक्षणिक तथा व्यङ्ग्यात्मक उक्तियों के सम्बन्ध में लेखकों ने निम्नलिखित दो निष्कर्ष दिये हैं - 1. ये उक्तियाँ अन्-अलंकृत (non figurative) साधारण उक्तियों से अनिवार्यतः अलग नहीं होतीं तथा 2. ये एक दूसरे से अनिवार्यतः समान नहीं होती।

लाक्षणिक वाक्यों में लक्षणा वक्ता के विचार तथा उक्ति के प्रातिज्ञप्तिक रूप के मध्य सम्बन्ध पर आधारित होती है; जबकि व्यङ्ग्य वक्ता के विचार तथा वक्ता से अन्य किसी के विचार के मध्य सम्बन्ध पर आधारित होता है।¹¹⁵

आधुनिक संकेत-प्रयोग-वैज्ञानिक (Pragmatists) इस अवधारणा से सहमत हैं कि प्रत्येक उक्ति का वागव्यापार से सम्बन्धित प्रकार्य (speech act function) निर्धारित होना चाहिए। उदाहरण के लिए निश्चयात्मक कथन का व्यापार वर्णित अवधारणा की सत्यता का द्योतन, आदेशात्मक कथन का व्यापार श्रोता से कुछ कराना, विस्मयात्मक कथन का व्यापार वर्णित अवधारणा के प्रति वक्ता की भावनात्मक प्रवृत्ति होता है; आदि।

लेखकों ने इस वागव्यवहार सिद्धान्त में अनेक विप्रतिपत्तियाँ प्रदर्शित करते हुए उक्तियों के प्रकार्यों की व्याख्या में इसे अपर्याप्त घोषित किया है। उनके अनुसार केवल रेलेवेँस-सिद्धान्त के द्वारा इनकी व्याख्या पर्याप्त रूप से हो सकती है। उदाहरण के लिए निम्नोक्त व्यङ्ग्यात्मक आदेश-वाक्य आज्ञार्थक वाक्य का प्रकार्य सम्पन्न नहीं करता -

‘आगे बढ़ो और मेरी कालीन गन्दी कर दो।’

यहाँ वक्ता का तात्पर्य श्रोता को रोकना है न कि प्रवृत्त कराना।¹¹⁶ यदि वागव्यापार सिद्धान्त को माना जाये तो वाक्य रेलेवेँस-रहित हो जायेगा। अतः रेलेवेँस तत्त्व के आलोक में वाक्य की व्याख्या करने पर ही यह वाक्य सार्थक होगा।

इसी प्रकार सामान्यतः एक प्रकार से दीखने वाले निश्चयात्मक या प्रश्नवाचक आदि वाक्यों में परस्पर भेद की व्याख्या भी रेलेवेँस सिद्धान्त के आधार पर ही की जा सकती है। उदाहरणार्थ -

1. प्रथम-विश्वयुद्ध कब हुआ?

2. तुम सिगरेट पीना कब छोड़ोगे?
3. क्व सूर्यप्रभवो वंशः क्व चाल्पविषया मतिः?¹¹⁷
4. वह नहीं जानता कि उसका पड़ोसी कौन है?

वागव्यवहार-सिद्धान्त के अनुसार इन सभी प्रश्नवाचक वाक्यों का व्यापार - 'सूचना हेतु प्रार्थना होगा।' परन्तु ऊपर स्पष्ट है कि सभी प्रश्न शुद्ध रूप से सूचना हेतु प्रार्थित नहीं हैं। विभिन्न प्रश्न अलग अलग तरह से रेलेवेंस युक्त हो सकते हैं।

इस प्रकार विभिन्न उक्तियों के सन्दर्भ में लेखकों ने सिद्ध किया है कि उनके व्यापार वे ही माने जाएँगे जो रेलेवेंस-सिद्धान्त के अनुकूल होंगे, न कि वागव्यवहार (speech act) जैसे किसी अपर्याप्त सिद्धान्त के।¹¹⁸

इस अन्तिम अध्याय में लेखकों ने भाषिक जगत् में रेलेवेंस सिद्धान्त के उपयोग का प्रचुर एवं सङ्गत उदाहरणों द्वारा प्रदर्शन किया।¹¹⁹ भाषिक तथा अभाषिक दोनों जगत् के सम्प्रेषण के प्रति रेलेवेंस सिद्धान्त के योगदान की व्याख्या से इनके दृष्टि की समग्रता सूचित होती है।

(ix) परवर्ती विकास

चतुर्थ-अध्याय के साथ ही रेलेवेंस सिद्धान्त के केन्द्रीय-कथ्य का प्रतिपादन साङ्गोपाङ्ग सम्पन्न हो जाता है।

पुस्तक के द्वितीय संस्करण तक सिद्धान्त में जो विकास हुआ अथवा जो संशोधन किये गये उनकी सूचना के लिए लेखकों ने अन्त में एक अनुबन्ध (postface) जोड़ा है। इसमें वर्णित तथ्यों का संक्षिप्त विवरण आगे प्रस्तुत किया जा रहा है -

उपर्युक्त विकास अथवा संशोधन विभिन्न आलोचकों द्वारा दिये गये सुझावों तथा आलोचनाओं पर आधारित हैं। इसके अतिरिक्त सिद्धान्त-प्रतिपादन के अनन्तर लेखकों के स्वयं इस विषय पर गहन-अध्ययन के कारण अनेक नवीन समस्याएँ उभरकर सामने आई हैं।¹²⁰ इन्हें लेखकों ने (i) विकास तथा (ii) संशोधन दो शीर्षकों के अन्तर्गत रखा है। 'विकास' के अन्तर्गत उन्होंने निम्नोक्त बिन्दु सूचित किये हैं-

एच्०पी०ग्राइस के अनुसार केवल वाक्यार्थ तथा सान्दर्भिक-कारक ही विसन्दिग्धीकरण एवम् प्रसङ्ग निर्धारण के लिए पर्याप्त हैं। लेखकों ने रेलेवेंस सिद्धान्त के परिप्रेक्ष्य में उपर्युक्त समस्याओं पर विचार करते हुए वाक्यार्थगत निहितार्थों के अध्ययन के साथ इसके उपयोग को नहीं माना है¹²¹ तथा निहितार्थ के समानान्तर बाह्यार्थ तथा सुव्यक्त संप्रेषण (explicit communication) की अवधारणा कल्पित की है। व्यक्त तथा अव्यक्त (implicit) सम्प्रेषणों के मध्य विभेद तथा व्यक्त सम्प्रेषण में प्रैगमैटिक-कारकों की भूमिका नवीन शोध के केन्द्र बिन्दु रहे हैं।

विसन्दिग्धीकरण तथा प्रसङ्ग निर्धारण के दौरान रेलेवेंस सिद्धान्त के अनुसार श्रोता वाक्य के उसी व्याख्या-विशेष का ग्रहण करेगा जो कि अधिक रेलेवेंस-युक्त हो।¹²²

रेलेवेंस-पद्धति तथा अन्य सिद्धान्तों में व्यक्त सम्भाषण में अनुमान की भूमिका खोजी जा रही है। रॉबिन कार्स्टन ने अपने महत्त्वपूर्ण शोध-पत्रों में बाह्यार्थ के प्रति समृद्धीकरण (enrichment) की प्रक्रियाओं के योगदान का अध्ययन प्रस्तुत किया है।

संबन्धित-शोधों का दूसरा मुख्य केन्द्र-बिन्दु रहा है - 'भाषिक-अर्थविज्ञान के लिए रेलेवेंस सिद्धान्त की उपयोगिता, जिसे अ-सत्याश्रित-भाषिक अर्थ भी कहा जाता है। वाग्व्यवहार-सम्बन्धी अर्थवैज्ञानिक अ-सत्याश्रित सम्प्रेषणों को "अ-वचन व्यापार-शक्ति (illocutinary-force) के संकेतक" मानते रहे हैं। रेलेवेंस-पद्धति के अन्तर्गत इसका पुनर्मूल्याङ्कन हुआ है। इसके अन्तर्गत संकूटन को सम्प्रत्ययात्मक तथा प्रक्रियात्मक दो प्रकारों में विभक्त करके यह माना गया है कि दोनों प्रकार की अभिव्यक्तियाँ निहितार्थ की अपेक्षा बाह्यार्थ को ही योगदान देती हैं। तथा असत्याश्रित-अभिव्यक्तियों का विश्लेषण सम्प्रत्ययात्मक शब्दावली की अपेक्षा प्रक्रियात्मक शब्दावली से अधिक अच्छी तरह से हो सकता है।

विकास के क्रम में व्यङ्ग्योक्ति तथा लक्षणा के प्रति लेखकों की दृष्टि परिवर्तित हुई है। भाषा का व्याख्यात्मक-आयाम केवल व्यङ्ग्य तक ही सीमित नहीं है अपितु इससे प्रश्नवाचक, विस्मयबोधक, प्रतिध्वनिक प्रश्न,

छद्म आज्ञात्मक आदि अभिव्यक्तियों (जिन्हें शुद्ध रूप से वर्णनात्मक-शब्दावली में विश्लेषित किया जाता रहा है) पर भी प्रकाश पड़ता है।

रेलेवेस सिद्धान्त का और व्यापक स्तरों पर उपयोग के लिए खोज प्रारम्भ हो चुकी है। हास्य, विनीतता, विज्ञापन, तर्क-वितर्क, राजनैतिक-भाषा, तथा शिक्षण की भाषा सबका विचार रेलेवेस की दृष्टि से हो रहा है। पॉल किपास्की ने साहित्यिक अध्ययन तथा रूथ केम्पसन ने प्रजनक व्याकरण के क्षेत्र में प्रकृत सिद्धान्त की अवधारणाओं का प्रयोग किया है। फॉस्टर, कोहेन तथा वाट्सन ने भाषिक-विकास एवम् स्मिथ ने भाषार्जन के सम्बन्ध में रेलेवेस सिद्धान्त का प्रयोग किया है।

मनोविज्ञान के क्षेत्र में अनेक मनोरञ्जक परिणाम प्राप्त हुए हैं। फ़र्थ तथा हैपी (Happy) ने रेलेवेस सिद्धान्त का उपयोग स्वलीनता के विश्लेषण में किया है। पुलित्ज़र ने तार्किक-मनोविज्ञान की कुछ प्रमुख प्रायोगिक रूपावलियों का पुनर्विश्लेषण करके इसमें रेलेवेस सिद्धान्त के उपयोग का प्रायोगिक परिणामों की व्याख्या पर प्रभाव को प्रदर्शित किया है। इसी प्रकार स्पर्बर, कारा (Cara) तथा Girotto ने प्रकृत सिद्धान्त के आलोक में वासन (Wason) के प्रसिद्ध Selection task का पुनर्विश्लेषण किया है।

इस प्रकार एक साथ अनेक अनुशासनों से सम्बद्ध होने के फलस्वरूप रेलेवेस-सिद्धान्त का तत्तत् शास्त्रों में एक साथ प्रयोग करके परिणामों का बड़े पैमाने पर अध्ययन हो रहा है। यद्यपि पूर्ण विकसित न होने के कारण सिद्धान्त में ही अनेक परिवर्धनों एवं परिवर्तनों की आवश्यकता है तथा इस क्षेत्र में वर्णनात्मक एवं सैद्धान्तिक दोनों दृष्टियों से अत्यधिक विकास की आवश्यकता है, तथापि रेलेवेस सिद्धान्त में सुझायी गयी अवधारणाएँ परिणाम देने लगी हैं।¹²³

(ग) गुण दोष विवेचन

रेलेवेस सिद्धान्त के साङ्गोपाङ्ग वर्णन के पश्चात् इसके गुणों तथा दोषों का वर्णन प्रसङ्ग प्राप्त है। इससे सिद्धान्त के मूल्याङ्कन के साथ अगले अध्याय के लिए भूमिका भी प्रस्तुत हो जायेगी।

(i) गुण

रेलेवेंस सिद्धान्त ने अपना मूल एच्०पी० ग्राइस के वार्तालाप-सिद्धान्तों से लिया तथा पूर्णतया अपने को विकसित कर ग्राइस के सिद्धान्तों की कमियों को दूर करने का भी प्रयत्न किया। संज्ञानात्मक-विज्ञान में ग्राइस के सिद्धान्तों के समकक्ष स्थापित होना इसकी सबसे प्रमुख विशेषता है।

ग्राइस द्वारा प्रतिपादित वार्तालाप के चार सिद्धान्तों में से लेखकों ने संगतता सिद्धान्त (Maxim of relevance) के सामर्थ्य को पहचाना तथा उससे उन परिस्थितियों की भी व्याख्या करने का दावा किया जिसमें ग्राइस का सिद्धान्त असमर्थ था।

उदाहरण के लिए इस लाक्षणिक-वाक्य - 'Rooms are generally not silent.' को लें। यह वाक्य ग्राइस के अनुसार गुणवत्ता सिद्धान्त (Maxim of truthfulness)¹²⁴ का उल्लंघन करता है, फलतः यहाँ विफल सम्प्रेषण की स्थिति बननी चाहिए। जबकि ऐसा नहीं होता। इस सफल सम्प्रेषण की व्याख्या में ग्रीसियन-सिद्धान्त समर्थ नहीं है, जबकि रेलेवेंस-सिद्धान्त पूर्वोक्त प्रकार से लाक्षणिक वाक्यों की व्याख्या प्रस्तुत कर सकता है।

द्वितीय उदाहरण; 'प्रश्न पूछे जाने पर श्रोता का नहीं बोलना', ग्राइस के अनुसार व्याख्यात नहीं हो सकता। वे यहाँ मात्रा-सिद्धान्त (Maxim of quantity)¹²⁵ के उल्लंघन का उदाहरण मानकर इसे सफल सम्प्रेषण नहीं मानेंगे। उनके अनुसार यह सम्प्रेषक की अयोग्यता है। जबकि कभी-कभी सम्प्रेषण की दशा में मौन ही उत्तर किंवा सर्वोत्कृष्ट उत्तर हो जाता है।¹²⁶ इस दशा की व्याख्या रेलेवेंस सिद्धान्त के अनुसार स्वीकृति अथवा बोलने की अनिच्छा के रूप में हो सकती है।

1. इस प्रकार रेलेवेंस सिद्धान्त का स्वरूप इतना व्यापक निर्धारित किया गया है कि इसमें ग्राइस के सभी वार्तालाप-सिद्धान्त अन्तर्भूत हो जाते हैं तथा अधिकतर उक्तियों की व्याख्या भी हो जाती है। यह इसका प्रमुख गुण है।

2. रेलेवेंस सिद्धान्त की दूसरी प्रमुख विशेषता इसकी व्यापकता है।

रेलेवेंस केवल शब्द-जन्य सम्प्रेषणों तक ही सीमित नहीं है। सभी प्रकार के संज्ञानात्मक क्रियाकलाप यदि वे - 'निदर्शनात्मक-आनुमितिक-सम्प्रेषण' के विषय हों, रेलेवेंस सिद्धान्त के क्षेत्र में आते हैं। इसके प्रसङ्ग में की गयी सभी स्थापनाएँ (संदर्भ, सांदर्भिक प्रभाव, प्रक्रमण-प्रयत्न आदि) उन संज्ञानात्मक व्यवहारों के प्रति सत्य हैं। चाहे यह सामान्य वार्तालाप, लेखन, भाषण, विज्ञापन, नाटक, अध्यापन हो अथवा साङ्केतिक भाषा हो सभी व्यवहार रेलेवेंस को उच्चतम-बिन्दु की ओर ले जाने की दिशा में प्रवृत्त दिखाई पड़ते हैं।

उदाहरण के लिए कवि, नाटककार अथवा भाषणकर्ता अपनी कृतियों में प्रस्तावना का भाग अवश्य रखता है। यह वस्तुतः सन्दर्भ-निर्माण की प्रक्रिया है ताकि उसमें आगे आने वाली नवीन सूचनाएँ कम प्रक्रमण प्रयत्न में ही प्रक्रमित होकर अधिकाधिक सान्दर्भिक-प्रभावों को उत्पन्न कर सकें। संक्षेपतः रेलेवेंस युक्त हो सकें। सन्दर्भविहीन सूचना के प्रक्रमण में प्रयत्न का अत्यधिक व्यय होता है तथा उसकी तुलना में प्रभाव कम मिलते हैं अथवा बिल्कुल नहीं मिलते। फलतः उक्ति अल्प-रेलेवेंस युक्त अथवा रेलेवेंस विहीन हो जाती है।

लेखकद्वय ने रेलेवेंस को विशुद्ध मनोवैज्ञानिक शब्दावली में सभी उद्दीपक-घटनाओं (stimulus-phenomena) का विषय प्रतिपादित किया है। भाषा एक प्रमुख उद्दीपक घटना है अतः रेलेवेंस का विषय है। अभाषिक-घटनाएँ गौण रूपेण रेलेवेंस के विषय हैं, क्योंकि उनका भाषिक-प्रतिरूपण (verbal-representation) कल्पित किया जा सकता है। भाषा की विशेषता इतनी ही है कि वह सम्प्रेषण का सूक्ष्म, लघु तथा स्पष्ट साधन है। सम्प्रेषण-मात्र भाषा के अधीन नहीं है।¹²⁷

इस प्रकार सभी सञ्ज्ञानात्मक-व्यवहारों को रेलेवेंस का विषय बताकर इसका व्यापक रूप में वर्णन सिद्धान्त का अन्यतम गुण है।

3. रेलेवेंस की प्रकल्पना अनेक अन्य अनुशासनों से घनिष्ठ सम्बन्ध रखती है। इनमें मनोविज्ञान, दर्शन, काव्य-शास्त्र तथा मानव-विज्ञान प्रमुख हैं। प्रतिपादन के क्रम में लेखकों ने उन-उन शास्त्रों से सम्बद्ध विचारों का स्पष्ट विवरण दिया है तथा प्रसङ्गवश उनकी व्याख्या भी की है।

उदाहरण के लिए पुस्तक का पूरा द्वितीय अध्याय तर्कशास्त्र-सम्मत

प्रतिपादनों से पूर्ण है। इस प्रसङ्ग में आगमनात्मक-निगमनात्मक तर्क, अनुमान के demonstrative तथा non-demonstrative भेदों आदि का ऊहापोह-पूर्वक प्रतिपादन किया गया है।

सम्पूर्ण प्रतिपादन के सञ्ज्ञानात्मक होने के कारण मनोविज्ञान का सिद्धान्त पर अत्यधिक प्रभाव है। सम्पूर्ण पुस्तक में मनःशास्त्रीय शब्द (जैसे Cognition, schema, short/long term memory, central thought process, scenario, prototype आदि) बहुशः आते रहते हैं, जिनकी यथावसर व्याख्या भी की गई है।

काव्यशास्त्र के प्रसङ्ग में रेलेवेंस की प्रयोगिकता का वर्णन करते हुए लक्षणा, व्यञ्जना शैली आदि अवधारणाओं की पर्याप्त व्याख्या की गई है।

विभिन्न आगमों से तुलित होने के कारण प्रकृत सिद्धान्त में दृष्टि की सम्पूर्णता तथा व्यापकता स्पष्ट होती है साथ ही विभिन्न शास्त्रों की दृष्टि से इस सिद्धान्त के मूल्याङ्कन में भी सहायता मिलती है।

4. सिद्धान्त का अच्छी तरह से वर्णित तथा परिभाषित होना इसका अन्य गुण है। ग्राइस ने अपने सिद्धान्तों का पर्याप्त वर्णन नहीं किया—उनकी शैली सूत्रात्मक रही। जबकि लेखकद्वय ने प्रसङ्गवश आये अङ्गभूत विचारों का भी वर्णन बड़ी विशदता पूर्वक किया है।

उदाहरणार्थ— 'सन्दर्भ' का वर्णन करते हुए— सन्दर्भ निर्धारण, सन्दर्भ-विस्तारण, सान्दर्भिक-प्रभाव, सन्दर्भ : चयनित अथवा प्रदत्त आदि विषयों पर सविस्तर चर्चा की गई है।

मुख्य प्रतिपाद्य 'रेलेवेंस' को विभिन्न आयामों तथा दृष्टियों से परिभाषित तथा प्रतिपादित किया गया है। व्यक्तिगत रेलेवेंस, उक्तिगत-रेलेवेंस, उद्दीपक-गत रेलेवेंस, रेलेवेंस की प्रकल्पना, इष्टतम-रेलेवेंस आदि का अत्यन्त विस्तार से प्रतिपादन किया गया है।

प्रतिपादन में उदाहरणों की प्रचुरता विषय को स्पष्ट कर उसे समझाने में सहायक हुई है।

विषय का स्पष्ट तथा विस्तृत रूप से प्रतिपादित होना इसका एक प्रमुख गुण है।

प्रारम्भ से ही भाषाविदों में इससे सम्बन्धित शोधों के विषय में परीक्षणीयता की अनिच्छा दिखाई पड़ती है। तथापि रेलेवेंस-भाषाविदों ने भाषिक-अन्तःप्रज्ञा के सावधानीपूर्वक उपयोग, सर्वेक्षण सम्बन्धी आँकड़ों तथा संज्ञानात्मक-मनोविज्ञान की प्रायोगिक विधियों के द्वारा प्रदत्त परीक्षणों का प्रयोग करके इसे परीक्षणीय बनाने के स्तुत्य प्रयास किये हैं।

रेलेवेंस सिद्धान्त अत्यन्त व्यापक तथा महत्त्वपूर्ण है। सभी सञ्ज्ञान-सम्बन्धी क्रियाएँ रेलेवेंस-तत्त्व को ध्यान में रखकर प्रचालित होती हैं। वक्ता का लक्ष्य होता है कि उसकी उक्तियाँ रेलेवेंस की उच्चतम सीमा को प्राप्त करें। श्रोता भी अवधारणा की प्रक्रिया में रेलेवेंस द्वारा ही नियन्त्रित होता है। ये सभी कथ्य तर्कसङ्गत तथा समर्थनीय हैं।

रेलेवेंस सिद्धान्त कुल सत्ताइस वर्ष पुराना है तथा यह अभी विकास की अवस्था में है। ऐसी स्थिति में इसमें अपूर्णताएँ स्वाभाविक हैं। आगे सिद्धान्तगत अल्पताओं की ओर संकेत किया जा रहा है। इससे सिद्धान्त का मूल्याङ्कन तो होगा ही साथ ही साथ हमारे भारतीय-मन्तव्य इस सन्दर्भ में कितने उपयोगी हो सकते हैं, यह भी स्पष्ट हो जायेगा।

(ii) दोष

इस सम्पूर्ण प्रतिपादन की सबसे बड़ी कमी है - सिद्धान्त के स्वरूपतः वर्णन की अपर्याप्तता। लेखकों ने सम्प्रेषण की प्रक्रियाओं में रेलेवेंस तत्त्व के योगदान पर अपने को अधिकतर केन्द्रित रखा है परन्तु उस रेलेवेंस तत्त्व का स्वरूप क्या है, उसके घटक कौन-कौन से हैं, वे कौन से भाषिक अथवा अभाषिक कारक हैं जो किसी उक्ति को रेलेवेंस-युक्त बना देते हैं, इनका वर्णन नहीं किया गया है। वस्तुतः वे तत्त्व जिनसे वाक्यार्थ का निर्धारण होता है, वे ही रेलेवेंस के घटक तत्त्व भी होंगे। सामान्य तथा असामान्य सभी प्रकार की भाषिक-परिस्थितियों में इन तत्त्वों का ध्यान नहीं रखने पर श्रोता को अत्यधिक मानसिक प्रयत्न करने पड़ते हैं तथा सन्दर्भगत-प्रभाव अल्पतर अथवा शून्य हो जाते हैं। दूसरे शब्दों में वे अपना रेलेवेंस खो बैठते हैं।

रेलेवेंस का वर्णन यदि उनके निर्धारक अथवा घटक तत्त्वों के बिना किया

जाता है तो यह सिद्धान्त उतना स्पष्ट नहीं हो सकेगा जितना कि एक वैज्ञानिक-सिद्धान्त के लिए आवश्यक होता है। यह काव्य की शब्दार्थों काव्यम्¹³² परिभाषा के समान ही अवच्छेदक(निर्धारक)विहीन हो जायेगा।

लक्षण के घटकों का समुचित उल्लेख इसे अच्छी प्रकार से स्पष्ट करने के साथ अव्याप्ति-अतिव्याप्ति-असम्भव आदि अनिष्ट व्यावर्त्यों से व्यावृत्त (पृथक्) भी करता है।¹³³

यदि इसके विरुद्ध पूर्व पक्ष का यह तर्क हो कि 'कोई उक्ति रेलेवेंस-युक्त इसलिये है क्योंकि वह किसी सन्दर्भ विशेष में अत्यधिक प्रयत्न किए बिना ही प्रचुर प्रभाव प्राप्त कर लेती है, न कि किसी रेलेवेंस-घटक-तत्त्व-विशेष के कारण' तो भी केवल प्रश्न का स्वरूप ही बदलेगा। समस्या तो यथावस्थ रहेगी। फिर प्रश्न होगा कि 'वे कौन से कारक हैं जिनको वक्ता तथा श्रोता ध्यान में रखते हैं ताकि कम प्रयत्न में अधिक सन्दर्भगत-प्रभाव प्राप्त हो पायें?' इस प्रकार सिद्धान्त के स्वरूप को स्पष्ट करने तथा इसकी प्रक्रियाओं को बोधगम्य बनाने के लिए रेलेवेंस के निर्धारक-तत्त्वों (constraints) की खोज तथा इन्हें मूल सिद्धान्त में जोड़ना अपरिहार्य होगा।

शोध का केन्द्रीय-विचार है कि भारतीय-सिद्धान्त इस सन्दर्भ में अत्यधिक उपयोगी हो सकते हैं। आचार्य भर्तृहरि ने वाक्यपदीय के दूसरे काण्ड में ऐसे निर्धारक तत्त्वों की एक सूची दी है। ये निर्धारित तत्त्व परवर्ती अलङ्कार आदि सभी शब्दार्थ-विवेचक सम्प्रदायों में समान रूप से समादृत तथा मान्य रहे हैं। आचार्य ने इन कारकों को शब्दार्थ के निर्धारकों के रूप में वर्णित किया है। वाक्यार्थ के निर्धारण के स्तर पर इनकी प्रयोजनीयता पर विचार करके इन्हें रेलेवेंस के निर्धारक घटकों के रूप में प्रस्तुत किया जा सकता है।

व्यङ्ग्य-परक अथवा व्यञ्जना प्रधान वाक्यों के सम्बन्ध में भी उपर्युक्त कमी दिखाई देती है। अर्थात्- 'वे कौन से कारक हैं जिनके आलोक में श्रोता व्यङ्ग्यपरक वाक्यों की व्याख्या करके उन्हें रेलेवेंस रहित होने से बचाता है? अर्थात् वक्तृ-सम्मत अर्थ तक पहुँच पाता है। व्यङ्ग्य वाक्यों में भी रेलेवेंस के निर्धारक तत्त्वों की पहचान आवश्यक है। ध्यातव्य है कि शाब्दी व्यञ्जना के निर्धारक तत्त्वों के रूप में मम्मट आदि आलङ्कारिकों ने इन कारकों की सूची प्रस्तुत की है। इस प्रसङ्ग में ये कारक महत्वपूर्ण हो सकते हैं।

लाक्षणिक वाक्यों की चर्चा के प्रसङ्ग में लेखकों ने केवल 'सादृश्य-सम्बन्ध' का उल्लेख किया है अर्थात् अभिधेय वाक्य के साथ लाक्षणिक वाक्यों के सम्बन्ध का आधार केवल सादृश्य (resemblance) को माना है। यह एक अपूर्ण दृष्टि है। भारतीय भाषाविदों ने प्रारम्भ से ही वाच्यार्थ तथा लक्ष्यार्थ के मध्य सादृश्य तथा सादृश्येतर दोनों प्रकार के सम्बन्धों की सत्ता पहचानी है। इसे ही वे शुद्धा तथा गौणी लक्षणाएँ कहते हैं। मीमांसक तो गौणी को एक स्वतन्त्र वृत्ति ही स्वीकार करते हैं।

इस प्रकार इस प्रसङ्ग में भी भारतीय-सिद्धान्तों के अनुसार दृष्टिकोण को व्यापक बनाया जा सकता है।

लेखकों ने भाषा तथा सम्प्रेषण के अविनाभूत सम्बन्ध को अस्वीकार किया है¹³⁴। इससे व्यक्त होता है कि वे भाषा के उस व्यापक-स्वरूप की पहचान नहीं कर रहे जो भारतीय सिद्धान्तों में प्रतिपादित है। हमारे यहाँ अक्षिनिकोच तथा अन्य सभी प्रकार की अशाब्द प्रवृत्तियों को भी भाषा का ही रूप समझा गया है, क्योंकि उन सबका संकेतग्रह भाषा के माध्यम से ही होता है। सम्पूर्ण जागतिक-व्यवहारों की संचालिका भाषा ही है। ध्यातव्य है कि यह भाषा केवल उत्पन्न-प्रध्वस्त ध्वनिरूप ही नहीं अपितु व्यवहार मात्र का निबन्धन स्फोटरूप है। चाहे व्यवहार शाब्द हो अथवा अशाब्द। इतना ही नहीं भारतीय भाषाविदों के अनुसार तो बाहर दीखने वाली ध्वनिरूप भाषा तो भाषिक-तत्त्व का केवल एक चौथाई मात्र है। भाषा का वास्तविक तथा अधिकांश स्वरूप तो आन्तर है।

भाषा-सम्बन्धी इस व्यापक दृष्टिकोण का उपयोग करके हम अनेक भ्रमपूर्ण स्थितियों से बच सकते हैं।

लेखकों ने उन वैयक्तिक स्थितियों का वर्णन प्रचुरता से नहीं किया है जिनके कारण वाक्य रेलेवेंस-विहीन हो जाता है। कभी-कभी वक्ता में स्थित अल्पताओं के कारण भी वाक्य अबोध्य हो जाता है। इन अल्पताओं का वर्णन होना चाहिए। उदाहरण के लिए किसी व्यक्ति के वाक्य-विन्यास का प्रकार इतना अपरिचित हो सकता है कि श्रोता को उसे समझने के लिए प्राप्तव्य प्रभावों की तुलना में प्रयत्न अधिक करना पड़े तथा वाक्य कम रेलेवेंस वाला या रेलेवेंस-शून्य हो जाय।

असम्बद्ध तथा अप्रचलित शब्दों के प्रयोग भी ऐसे ही व्यक्तिगत अभिलक्षण हैं जो रेलेवेंस को दुष्प्रभावित करते हैं। इनका वर्णन इस प्रसङ्ग में अनिवार्य है।

लेखकों ने रेलेवेंस के प्रसङ्ग में सान्दर्भिक प्रभावों का बड़ा ही विशद तथा ऊहापोहपूर्वक वर्णन किया है। जिनमें सन्दर्भ के सम्बन्ध में विस्तृत चर्चा तथा तीन प्रकार के सान्दर्भिक प्रभावों का उल्लेख किया गया। यह रेलेवेंस का सकारात्मक कारक है। रेलेवेंस का नकारात्मक कारक - प्रक्रमण-प्रयत्न (processing effort) भी उतना ही महत्त्वपूर्ण है। उसके विशद वर्णन का ग्रन्थ में अभाव मिलता है। इससे प्रतिपादनगत अल्पता सूचित होती है। परवर्ती रेलेवेंस-वैज्ञानिक डायना ब्लेकमोर (Diane Blakemore) ने अपनी पुस्तक 'Semantic constraints of Relevance' में इन प्रयत्नों की पर्याप्त चर्चा की है।

लेखकों ने 'सन्दर्भ प्रदत्त होता है अथवा चुना हुआ', इस विषय में पर्याप्त ऊहापोह किया है।¹³⁵ इस प्रश्न का उत्तर मीमांसकों के अभिहितान्वयवाद तथा अन्विताभिधानवाद के आधार पर बड़ी ही सरलता से दिया जा सकता है। वह यह है कि प्रसङ्ग वक्ता की दृष्टि से प्रदत्त होता है तथा श्रोता की दृष्टि से चयनित।

इस प्रकार अनेक अन्य रेलेवेंस सम्बन्धी प्रश्नों की चर्चा भारतीय सिद्धान्तों के परिप्रेक्ष्य में करने पर नवीन तथा स्पष्ट समाधान प्राप्त किये जा सकेंगे।

सम्पूर्ण पाश्चात्य-भाषाविज्ञान तथा विशेष रूप से रेलेवेंस सिद्धान्त अभी अपने विकास की प्रारम्भिक अवस्था में हैं। इस कारण से उनमें अल्पताओं, अव्यापकताओं तथा अपुष्टताओं के अवकाश स्वाभाविक हैं। आवश्यकता है कि वे उन भारतीय सिद्धान्तों से निःसंकोच सहायता लें जिससे उनके सिद्धान्त तो पुष्ट होंगे ही, साथ ही मानवीय-संज्ञान के सम्बन्ध में उनकी दृष्टि स्पष्टतर हो जायेगी।

सन्दर्भ

1. 'Relevance' पुस्तक का पश्चपृष्ठ-1
2. en. wikipedia.org से उद्धृत (entry - Dan Sperber)

3. (i) Blackwell Publishers Ltd. 108 Cowley Road, Oxford OX4 1JF, UK.
(ii) Blackwell Publishers Ltd. 238 Main Street Cambridge, Massachusetts, 0242, USA
4. '... The theory of communication it proposes has been widely accepted, widely criticized and widely misunderstood.' (Ibid. - p. 225)
5. विस्तार हेतु देखें - Notes to postface - Ibid. p. 295
6. विस्तार हेतु, Notes to postface p. 295
7. Pascal Engel - Revue Philosophique. (द्वितीय संस्करण के पश्चपृष्ठ पर प्रदत्त उद्धरण)
8. वेबसाइट - www.ua.es
9. 'Handbook of Pragmatics. (Ibid. p.s - 607-632) Oxford: Blackwell (2004)
10. website - en.wikipedia.org, entry-Paul Grice
11. 'The maxims are general principles which are thought to underlie the efficient use of language, and which together identify a general co-operative principle.' A dictionary of Linguistics & Phonetics, entry - maxims of conversation.
12. 'Relevance theory may be seen as an attempts to work out in detail one of Grice's central claims - that an essential feature of most human communication (both verbal and non-verbal) is expression and recognition of intentions' (Grice - 1989, Essays 1-7, 14, 8; Retrospective - Epilogue), from the website - www.dan.sperber.com
13. 'The central claim of Relevance Theory is that the expectations of relevance raised by an utterance are precise enough, and predictable enough to guide the hearer towards the speaker's meaning.' From 'A Handbook of Pragmatics', Ibid. p.-608
14. 'By 'relevance' it is meant whatever allows the most new information to be transmitted in that context on the basis of the least amount of effort required to convey it.' From the website - en.wikipedia.org.
15. From the website : en.wikipedia.org (under the entry = Relevance -Theory)
16. 'Relevance theory claims that human do have an automatic tendency to maximize relevance, not because we have the choice in the matter, but because of the way our cognition systems have evolved.' from the website: www.dan.sperber.com. (Collected from: A handbook of Pragmatics)
17. The first or cognitive Principle of Relevance: 'Human tendency tends to be geared to the maximization of relevance.' (Ibid.um)

18. 'Human cognitive-processes are geared to achieving the greatest possible cognitive effect for the smallest possible processing - effort' (Ibid. - Preface to second edition - vii)
19. '...Communication is achieved by encoding and decoding messages' (Ibid. - Ibid. p. - 2)
20. 'A code is a system which pairs messages with signals, enabling two information-processing devices (organs or machines) to communicate.' (Ibid. - Ibid. p. 3-4)
21. '... in general, conclusions are not associated to their premises by a code, and signals don't warrant the messages they convey' Ibid. Ibid. p. 13
22. '... behaviour which makes manifest an intention to make something manifest is ostensive behavior or simply ostension.' (Ibid. p. 49)
23. 'Communicated information comes with a guarantee of relevance.' (Ibid., preface - vii)
24. '...It is agreed that the inference process involved in comprehension are non-demonstrative.' (Ibid. - p-67)
25. 'Deductive inference rules generate all the interesting conclusion logically implied by a set of premises' (Ibid. p. 68)
26. Logical, encyclopaedic & lexical (entries)
27. विस्तृत विवेचन हेतु : वही - पृ० 75 से 108
28. 'A central function of the deductive device is to derive spontaneously, automatically and unconsciously the contextual implications of any newly presented information in a context of old information (Ibid. p. 108)
29. '... new information may provide further evidence for, and therefore strengthen old assumptions; or it may provide evidence against, and perhaps lead to the abandonment of, old assumptions.' (Ibid. - p. 109)
30. 'We are crediting the deductive device with the ability to reproduce degrees of strength, and to raise or lower them.' (Ibid. - p. 111)
31. 'We are not aware of any other evidence showing that the human mind is equipped with a more powerful and precise way of spontaneously determining the strength of its factual assumptions.' (Ibid. - p. 111)
32. Ibid. - p.117
33. Ibid. - p. 116
34. Ibid. - p. 48

35. 'There is no reason to think that a proper semantic analysis of the English word 'relevance' would also characterize a concept of scientific - psychology'. (Ibid. - p-119)
36. 'We assume that people have intuitions of relevance that they can consistently distinguish relevant from irrelevant information or in some cases, more relevant from less relevant informations.' (Ibid. p. 119)
37. 'The assumption may contribute new information but this information doesn't connect with any information present in the context.' (Ibid. - p. 121)
38. Ibid. - p.121
39. Ibid. - p.121
40. 'Relevance may be achieved by expressing irrelevant assumptions, as long as this expressive behavior is itself relevant.' (Ibid. p. 121)
41. Ibid. - p-123
42. 'A Classificatory concept sets up a necessary and sufficient condition for class-membership.' (Ibid.m - p- 79-80)
43. 'Comparative concepts are best defined in terms of what might be called 'extent' conditions. (Ibid. - p. 124)
44. Ibid. p. - 125
45. विस्तृत विवेचन हेतु - Ibid. p- 127-28
46. Contextual effects and processing effort are non representational dimentionations of mental processes.' Ibid. - p. 131
47. 'Since we are interested in relevance as a psychological property, we have no reason to aim for a quantitative definition of relevance.' (Ibid. - p. 132)
48. '...The context used to process new assumptions is, essentially a subset of the individuals old assumptions, with which the new assumptions combine to yied a variety of contextual effects.' (Ibid. - p. 132)
49. '... The context for the comprehension of a given utterance is the set of assumptions explicitly expressed by preceding utterances in the same dialogue or discourse.' (Ibid. - p. 133)
50. 'The organization of the ndividual's encyclopaedic memory and the mental activity in which he is engaged, limit the class of potential contexts from which an actual context can be chosen at any given time' (Ibid. p. 138)
51. 'People do not come to the processing of new information with a 'blank-mind', they have some kind of short term memory-store, whose contents are never simply erased.' (Ibid. p. 138)

52. Ibid. p. 139
53. 'The assumption left over in the memory of the deductive device, i.e. the interpretation of the previous utterance, constitute an immediately given context in which the next utterance may be processed.' (Ibid.-140)
54. 'Extension of the context can be made by 'going back in time' and adding to it assumptions used or derived in previous deductive processes. (Ibid. - p. 140)
55. 'A third way of extending the context is to add to it information about the immediately observable environment.' (Ibid. p. 141)
56. 'These factors determine not a single context but a range of possible contexts.' (Ibid. - 141)
57. 'In verbal comprehension in particular, it is relevance which is treated as given, and context which is treated variable.' (Ibid. p. 142)
58. '...The rather abstract notion of relevance in a context can help with the construction of a psychologically more significant notion of relevance to an individual.' (Ibid. p. 150)
59. 'We have done this is attempt to come closer to a psychologically adequate notion of relevance, for use in describing and explaining verbal comprehension and other cognitive processes.' (Ibid. p. 150)
60. Ibid. p. 142
61. 'Just as processing an item of information in a context involves some effort, so accessing a context involves some efforts.' (Ibid. p. 142)
62. '...some relevance is achieved in all accessible contexts by the strengthening of an existing assumption'. (Ibid. p. 148).
63. Ibid. - p. 150
64. 'An assumption is relevant to an individual at a given time if and only if it is relevant in one or more of the contexts accessible to that individual at that time.' (Ibid. p. 144)
65. Ibid. p. 144
66. '...The context enabling the best possible balance of effort against effect to be achieved. When such a balance is achieved, we will say that the assumption has been optimally processed.' (Ibid. p. 144) -
67. **Extent condition 1:** 'an assumption is relevant to an individual to the extent that the contextual effects achieved when it is optimally processed are large.' (Ibid. p. 145)
68. **Extent condition 2:** 'an assumption is relevant to an individual to the extent that the effort required to process it optimally is small.' (Ibid. p. 145)

69. 'In either case, a complex cognitive process requiring mental effort is involved.' (Ibid. p. 150)
70. Ibid. p. 151 to 155.
71. 'An individual's cognitive environment is the set of all facts which are manifest to him.' (Ibid. p. 151)
72. 'The automatic filtering out of some phenomena and the automatic pre-empting of attention by others can be seen as a heuristic device aimed at maximizing cognitive efficiency.' (Ibid. p. 152)
73. 'The perceptual machemisms and perceptual silence itself – are relevance oriented.' (Ibid. p. 152)
74. '**Relevance to a phenomenon- (Classificatory) :** A phenomenon is relevant to an individual if and only if one or more of the assumptions it makes manifest is relevant to him.' (Ibid. p. 152)
75. '**Relevance to a phenomenon – (Comparative) Extent conditional 1:** A phenomenon is relevant to an individual to the extent that the contextual effects achieved when it is optimally processed at large.' (Ibid. p. 153)
76. '**Extent condition 2 :** A phenomenon is relevant to an individual to the extent that the effort required to process it optimally is small'. Ibid.
77. '...the processing of phenomena in general and hence of stimuli in particular, is geared to the maximization of relevance.' (Ibid. p. 153)
78. 'This is clearly true of coded signals used in ostensive communication, linguistic utterances particular which unless treated as ostensive stimuli, are mere irrelevant noises or marks or paper.' (Ibid. p. 154)
79. 'The best ostensive stimuli are entirely irrelevant unless they are treated as ostensive.' (Ibid. p. 154)
80. 'The communicator produces a stimulus which makes it mutually manifest to communicator and audience that the communicator intends, by means of this stimulus, to make manifest or more manifest to the audience a set of assumption. (Ibid. p. 155)
81. '... Ostensive communication requires the participation of the recipient in the form of appropriate cognitive behaviour and in particular of attention.' (Ibid. p. 155)
82. 'With an ostensive stimulus the addressee can have not only notes but also fairly precise expectation of relevance.' (Ibid. p. 156)
83. '...an ostensive communicator necessarily communicates that the stimulus she uses is relevant to the audience. In other words, an act of ostensive communication automatically communicates a presumption of relevance.' (Ibid. p. 156).
84. (a) 'The set of assumptions (I) which the communicator intends to

make manifest to the addressee is relevant enough to make it worth the addressee's while to process the ostensive stimulus.' (Ibid. p. 158)

85. (b) 'The ostensive stimulus is the most relevant one the communicator could have used to communicate (I)' (Ibid. p. 158)
86. **Principle of relevance** : 'Every act of ostensive communication communicates a presumption of its own optimal relevance.' (Ibid. p. 158)
87. '... some stimuli are of little intrinsic relevance but by being presented at the right time, increase the relevance of subsequent stimuli so that a greater degree of overall relevance is achieved with them than without them.' (Ibid.p.160)
88. 'It also varies with the degree of intellectual alertness of the addressee.' (Ibid. p. 161)
89. 'In other words, relevance theory explains how ostensive communication is possible and how it may fail.' (Ibid. p. 170)
90. '...relevance theory offers a pragmatic frame work in which serious questions can be raised and new answers developed.' (Ibid. p. 172)
91. Ibid. p. 174
92. 'The coded communication process is not autonomous it is subservient to the inferentials process.' (Ibid. p. 176)
93. 'The goal of pragmatics is to explain how the hearer's task can be carried out.' (Ibid. p. 179)
94. '... A semantic representation must be selected, completed and enriched in various ways to yield the propositional form expressed by the utterance.' (Ibid.p.179)
95. Ibid. p. 181
96. 'The right propositional form is the one that leads to an overall interpretation which is consistant with the principle of relevance.' (Ibid. p. 184)
97. Ibid. p. 194
98. 'An implicature is a contextual assumption or implication which a speaker, intending her utterance to be manifestly relevant, manifestly intended to make manifest to the hearer.' (Ibid. p. 195)
99. 'There is no entirely neutral style.' (Ibid. p. 218)
100. 'Style arises, we maintain, in the pursuit of relevance.' (Ibid. p. 219)
101. 'It can represent some style of affairs, in virtue of its propositional form being true of that state of affairs.' Ibid. p. 228

102. '... It can represent some other representation which also has a propositional form $\bar{O}$ in virtue of a resemblance between the two propositional forms.' Ibid. p.. 229
103. '... utterances are also phenomena, and like all phenomena they can be used to represent something they resemble.' (Ibid. p. – 227)
104. 'We assume, then, that every utterance is an interpretive expression of the speaker.' Ibid. p. – 231
105. 'How close the interpretation is can be determined on the basis of the principle of relevance.' Ibid. p.- 231
106. विस्तार हेतु वही – पृ० 231, तथा 232 पर स्थित रेखाचित्र
107. '...the identification of these resemblances, like every other aspect of comprehension, is guided by the principle of relevance.' (Ibid. p. – 233)
108. '...The hearer should take an utterance as fully literal only when nothing less than full literality will confirm the presumption of relevance.' (Ibid. p. – 234)
109. '...The element of indirectness in an utterance must be offset by some increase in contextual effects.'
110. '...A good metaphor is precisely one in which a variety of contextual effects can be retained & understood as weakly implicated by the speaker.' (Ibid. p. – 236)
111. 'The search for optimal relevance leads the speaker to adopt, on different occasions, a more or a less faithful interpretation of her thoughts.' (Ibid. p. – 237)
112. '...What unites these cases is the fact that the thought of the speaker which is interpreted by the utterance is itself an interpretation.' (Ibid. p. – 238)
113. '...Verbal irony, invariably involves the implicit expression of an attitude, and that the relevance of an ironical utterance invariably depends, on the information it conveys, about the speaker's attitude. The opinion echoed.' (Ibid. p. – 239)
114. 'नदियों का जल और मनुष्यों की जवानी बीत जाने पर फिर नहीं आते' – महाकवि अश्वघोष : सौन्दरनन्द
115. 'Metaphor plays on the relationship between the propositional form of an utterance and the speaker's thought ; irony plays on the relationship between the speaker's thought and a thought of someone other than the speaker'. Relevance: Communication and Cognition, p. 243.
116. साहित्यजगत् का मूर्धाभिषिक्त उदाहरण- 'भम धम्मिअ वीसत्थो' (गाथा-सप्तशती-2/75) भी इसी कोटि का है।

117. 'कहाँ सूर्य से उत्पन्न वंश और कहाँ मेरी कम विस्तार वाली बुद्धि' -कालिदास : रघुवंशमहाकाव्यम्, प्रथमसर्ग, श्लोक-2
118. 'Questions can be successfully analysed without appeal to the machinery of speech act theory.' (Relevance: Communication and Coginition, p.-253)
119. 'This very sketchy discussion illustrates the general relevance of the principle of relevance.' (Ibid. p. 254)
120. Ibid. p. 255
121. Ibid. - p. 256
122. 'Relevance theory claims that in disambiguation and reference assignment the first interpretation consistent with the principle of relevance is the one the hearer should choose.' (Ibid. 257)
123. 'There is much more to be done in this area, from both theoretical and descriptive point of view. However, the reorganization proposed in Relevance seems to be bearing fruits. (Ibid. p. 259)
124. देखें पृष्ठ-
125. देखें पृष्ठ-
126. 'कान्तेन रहसि पृथ्य मौनमेवोत्तरं ददौ'। (चन्द्रालोक, परिणाम अलंकार के उदाहरण में उद्धृत)
127. Relevance: Communication and Coginition, p. 174
128. 'The output of decoding is correctly treated by the audience as a piece of evidence about the communicator's intentions.' (Ibid. - p. 27)
129. 'The coded communication process is not autonomous : it is subservient to the inferential process.' (Ibid. - p. 176)
130. '...as children don't have to learn their language but come with an substantial innate endowment, so they don't have to learn what ostensive inferential communication is but come with a substantial innate endowment.' - A Handbook of pragmatics from the Website - 'relevance_theory.htm'
131. देखें पृष्ठ-
132. 'शब्द तथा अर्थ काव्य कहे जाते हैं' - रुद्रट : काव्यालङ्कार 2/1
133. "व्यावृत्तिर्व्यवहारश्च लक्षणस्य प्रयोजनम्।" तर्कसंग्रह की नीलकण्ठी टीका से उद्धृत।
134. देखें पृष्ठ -
135. See- Relevance: Communication and Coginition, Chapter-3 (Relevance) Sections 3 and 4

पञ्चम अध्याय

भारतीय सिद्धान्तों द्वारा रेलेवेंस का पूरण

(क) वाक्यार्थ निर्धारण के तीन स्तर तथा उनमें प्रयुक्त तत्त्व : यथाशास्त्र विश्लेषण

पिछले अध्याय में रेलेवेंस तत्त्व का वर्णन करके उसमें वर्तमान अनेक विप्रतिपत्तियाँ तथा अपूर्णताओं की ओर संकेत किया गया, साथ ही भारतीय सिद्धान्तों में इस विषय में प्रतिपादित तत्त्वों द्वारा उसके पूरण एवं पोषण की बात भी कही गयी। यही इस अध्याय का प्रमुख प्रतिपादनीय विषय है।

शब्द उच्चरित हों अथवा लिखित; उनके स्थूल भौतिक स्वरूप हमारी इन्द्रियों द्वारा स्पष्टतः ज्ञात होते हैं। यही कारण है कि शब्दों के स्वरूपमात्र के ज्ञान में हमें कोई संदेह अथवा विप्रतिपत्ति लगभग नहीं होती। परन्तु ऐसी स्पष्टता अर्थतत्त्व के साथ नहीं है। इसका कारण यह है कि अर्थ का सम्प्रत्यय मानसिक होता है। यह सुनाई अथवा दिखाई नहीं पड़ता। अर्थ का यह बौद्ध स्वरूप ही इसकी अनिश्चितता तथा विविधता का प्रमुख कारण है। बुद्धि व्यक्तिनिष्ठ होती है तथा व्यक्ति अनेकानेक शाब्द एवं अशाब्द परिस्थितियों (जैसे देश, काल, संस्कृति, स्वभाव आदि) से प्रभावित होता है। इसके कारण बुद्धि स्वभावतः बुद्धि प्रतिव्यक्ति भिन्न हो जाती है। भिन्न-भिन्न बुद्धियों द्वारा ग्राह्य अर्थ में विविधता का अवकाश विद्यमान होता है। इसके अतिरिक्त सुदीर्घ काल तक भिन्न-भिन्न परिस्थितियों में प्रयोग के कारण शब्द भी अनेकार्थक हो जाते हैं। इस प्रकार अर्थ व्यक्ति की मानसिक संरचना तथा समाज की प्रयोग-शैली

दोनों पर आधारित होने के कारण विविधस्तरीय, बहुआयामी तथा कई बार सन्दिग्ध हो जाता है। आचार्य भर्तृहरि की परिभाषा से अर्थ का अनिश्चित स्वरूप स्पष्ट प्रतीत होता है।

सम्प्रेषण की प्रक्रिया में लगे वक्ता तथा श्रोताओं का जागतिक-सम्प्रत्यय भिन्न होता है। इन सम्प्रत्ययों के भिन्न होने के कारण भाषिक-जगत् में उनके प्रतिनिधि शब्दों का भिन्नार्थक होना स्वाभाविक ही है।

भिन्नार्थक शब्दों से संघटित वाक्य भी स्वाभावतः भिन्नार्थक तथा अनेक सम्भावित अर्थों वाले होते हैं। परन्तु श्रोता वाक्य से सभी सम्भावित अर्थों का ग्रहण नहीं करता। ऐसा होने लगे तो भाषा का सबसे प्रमुख व्यावहारिक गुण - 'लाघव' ही प्रश्नचिह्नित हो जायेगा तथा शाब्द-सम्प्रेषण सांकेतिक-भाषा से भी जटिल एवम् गौरवयुक्त हो जायेगा।

बोद्धा वाक्य से केवल अपने सम्बन्ध में उपयोगी अर्थ का ग्रहण करता है। अन्य अनुपयोगी अर्थों को वह उपेक्षा भाव से त्याग देता है।

सामान्यतः श्रोता तथा वक्ता के मध्य ऐसी सूचनाओं का सम्प्रेषण नहीं होता जो परस्पर को अभिमत न हों। इसका प्रमुख कारण है वक्ता तथा श्रोता के बीच बुद्धि के स्तर पर आत्यन्तिक सामानाधिकरण्य। किसी प्रसङ्ग विशेष में श्रोता तथा वक्ता दोनों की बुद्धि में संगृहीत सूचनात्मक सामग्री की जानकारी एक दूसरे को होती है - यही उनका बुद्धिगत सामानाधिकरण्य है। वक्ता अपने वाक्यों की संरचना श्रोता की बुद्धिगत सूचनाओं की उपलब्धता को ध्यान में रखकर करता है। श्रोता को भी यह विश्वास होता है कि वक्ता के वाक्य की संरचना खुद उस (श्रोता) की सूचनाओं के अनुरूप है इसलिए वाक्य का तात्पर्य भी उस (श्रोता) की समझ के अनुकूल ही होगा। इस प्रकार का पारस्परिक अव्यभिचरित बौद्ध सामानाधिकरण्य सम्प्रेषण प्रक्रिया की प्रमुख विशेषता है तथा इसकी सफलता का प्रमुख कारण भी।

इस प्रकार यह तथ्य स्पष्ट होता है कि सम्भाषण का प्रमुख प्रयोजन है - 'श्रोता द्वारा सङ्गत एवं इष्ट अर्थ की प्राप्ति'। रेलेवेंस सिद्धान्त के उपस्थापकों ने 'वाक्य से सम्बद्ध एवं संगत अर्थ की प्राप्ति को ही वाक्य अथवा वक्ता का

श्रोता के प्रति रेलेवेंस युक्त होना कहा है। उनके अनुसार 'कम से कम मानसिक-प्रयत्नों के व्यय पूर्वक अधिक से अधिक नवीन सूचनाओं की प्राप्ति रेलेवेंस तत्त्व के कारण होती है। निश्चित रूप से ऐसा तभी हो सकेगा जब श्रोता अपने इष्ट अर्थ की प्राप्ति कर सके। स्पेर्बर तथा विल्सन ने स्पष्ट किया है कि सभी प्रकार के सम्प्रेषण में रेलेवेंस तत्त्व अन्तर्निहित तथा अनिवार्य होता है-क्योंकि वक्ता तथा श्रोता दोनों केवल संबद्ध अर्थ का क्रमशः सम्प्रेषण तथा ग्रहण करना चाहते हैं।

रेलेवेंस सिद्धान्त को स्वीकार करते हुए भी यह महत्त्वपूर्ण प्रश्न शेष रह जाता है कि वे कौन सी परिस्थितियाँ अथवा कारक हैं जिनके फलस्वरूप शब्द अथवा वाक्य की बह्वर्थकता नियन्त्रित हो जाती है तथा श्रोता को उसका अभीष्ट अर्थ प्राप्त हो पाता है।

इन परिस्थितियों की व्याख्या के बिना रेलेवेंस सिद्धान्त सम्यक् रूप से प्रतिष्ठापित नहीं हो सकता। क्योंकि इन्हीं की सहायता से मानसिक श्रम न्यून तथा सूचनाओं की प्राप्ति अत्यधिक होकर रेलेवेंस का प्रादुर्भाव हो जाता है। वाक्यार्थ के इन निर्धारक तत्त्वों का वर्णन रेलेवेंस के निर्धारण में अत्यन्त सहायक होगा। परन्तु सिद्धान्त के संस्थापन के प्रसङ्ग में लेखकों ने इन निर्धारक तत्त्वों का न तो सम्पूर्णतया वर्णन किया है और न ही इसकी स्पष्ट भूमिका स्वीकारी है। जिसके कारण यह सिद्धान्त अनिर्धारित तथा अनिर्णीत ही बना रहा है।

उल्लेखनीय है कि भारतीय अर्थ-वैज्ञानिकों ने अर्थ के विभिन्न स्तरों पर अलग-अलग अथवा समेकित रूप से अर्थ का सीमाङ्कन करने वाले तत्त्वों का क्रमबद्ध विशद तथा पूर्णतया वर्णन किया है।

इन तत्त्वों का उपयोग करके हम वाक्य के रेलेवेंस का काफी हद तक आकलन एवं नियमन करके पूर्वानुमान कर सकते हैं। इससे अनुवादादि विभिन्न संगणकीय कार्यों में इस सिद्धान्त का उपयोग होकर बृहत् स्तर पर लाभ प्राप्त हो सकेगा। संक्षेप में यही इस अध्याय का प्रतिपाद्य-विषय है।

प्रस्तुत अध्याय को प्रमुखतया तीन खण्डों में विभक्त किया गया है। प्रथम खण्ड में वाक्यार्थ के निर्धारक तत्त्वों को सम्बद्ध ग्रन्थों से उद्धृत करके

उनका यथाशास्त्र वर्णन किया जायेगा। द्वितीय खण्ड में इन तत्त्वों के स्वरूप तथा अन्य सम्बद्ध विषयों की समीक्षा की जायेगी। साथ ही इनको लौकिक उदाहरणों द्वारा स्पष्ट करके सम्प्रेषण मात्र में इनके उपयोग को सिद्ध किया जायेगा। तृतीय खण्ड में रेलेवेंस सिद्धान्त के उपस्थापकों द्वारा दिये गये उदाहरणों तथा विभिन्न स्थितियों में इन तत्त्वों का परीक्षण किया जायेगा। इससे स्पष्ट हो सकेगा कि रेलेवेंस युक्त स्थितियाँ इन निर्धारक तत्त्वों की उपस्थिति से तथा रेलेवेंस का अभाव इन्हीं की अनुपस्थिति से होता है। इससे यह सिद्ध होगा कि जिस प्रकार सम्प्रेषण में रेलेवेंस तत्त्व की गारण्टी निहित होती है, ठीक उसी प्रकार रेलेवेंस तत्त्व में भी इन वाक्यार्थ निर्धारक तत्त्वों की गारण्टी निहित होती है। अर्थात् यदि कहीं रेलेवेंस सम्भव हो रहा है तो असन्दिग्ध रूप से वहाँ इन कारकों की उपस्थिति है।

यदि श्रोता तथा वक्ता सम्प्रेषण के प्रसङ्ग में इन कारकों से परिचित हैं तो निश्चित रूप से रेलेवेंस की स्थिति होगी अन्यथा नहीं। इस प्रकार अन्वय तथा व्यतिरेक की रीति से ये तत्त्व रेलेवेंस के प्रादुर्भाव में कारण सिद्ध किये जायेंगे।

वाक्यार्थ निर्धारण की तीन परिस्थितियाँ

भारतीय अर्थवैज्ञानिकों ने अर्थ-निर्धारण हेतु प्रचुर मात्रा में शाब्द तथा अशाब्द कारकों का परिगणन किया है। वाक्यार्थ निर्धारण के प्रसङ्ग में ऐसी तीन परिस्थितियाँ हो सकती हैं जिनमें उपर्युक्त कारक तत्त्वों की सहायता से अर्थावबोध सम्भव होता है। इन तीन परिस्थितियों को आगे में क्रमशः प्रथम स्तर, द्वितीय स्तर तथा तृतीय स्तर के नाम से उल्लेखित किया जायेगा। ये तीनों स्थितियाँ निम्नवत् हैं -

- (क) वाक्य में कुछ ऐसे पद अथवा पदों का प्रयोग हो जाता है जो सन्दिग्धार्थक अथवा अनेकार्थक होते हैं। उस पद के अर्थ में संशय होने के कारण श्रोता को वाक्यार्थ का अवधारण नहीं हो पाता। अतः इस परिस्थिति में जिन कारक-तत्त्वों का प्रयोग करना होता है, वे पदार्थ-निर्धारणपूर्वक वाक्यार्थ की सङ्गति में सहायक होते हैं। 'रामार्जुनौ गच्छतः'-इस वाक्य में 'राम' एवम्

अर्जुन पद अनेकार्थक हैं, जिसके अनिर्धारण से सम्पूर्ण वाक्यार्थ अनिर्णीत रहता है। 'संयोग' नाम वक्ष्यमाण निर्धारक तत्त्व 'राम' पद के अर्थ का निर्णय करके वाक्यार्थ-निर्धारण में सहायक होता है। इस प्रकार पहली परिस्थिति वाक्यस्थ पदों के निर्णय से सम्बन्धित है।

- (ख) द्वितीय स्थिति में श्रोता को वाक्यार्थ का अवबोध तो हो जाता है, परन्तु उससे वक्ता के तात्पर्य की उपपत्ति, अथवा वाक्यार्थ के घटक पदार्थों में परस्पर अन्वय की उपपत्ति नहीं हो पाती है। अर्थ-ग्रहण में कुछ बाधा अवश्य रह जाती है। फलतः इस स्तर पर अनुपपन्न पदार्थ से कथाञ्चित् सम्बद्ध अर्थ को ग्रहण करके वाक्यार्थ का सङ्गतिपूर्ण निर्धारण किया जाता है। उदाहरण के लिए - 'गङ्गायां घोषः।

इस वाक्य में 'गङ्गा-प्रवाहे आभीरवसतिः वर्त्तते' इस प्रकार का वाक्यार्थ निष्पन्न होता हुआ भी पारस्परिक सम्बन्ध की दृष्टि से अनुपपन्न है, अतः यह सङ्गत वाक्यार्थ नहीं है। 'सामीप्य' नामक वक्ष्यमाण तत्त्व की सहायता से मुख्यार्थ से सम्बद्ध 'गङ्गा तट' अर्थ का ग्रहण होकर वाक्यार्थ की सङ्गति हो जाती है।

- (ग) सम्प्रेषण के तृतीय प्रकार की स्थिति में श्रोता को वाक्यार्थ का अवबोध होने के साथ-साथ उस प्रसङ्ग विशेष में वाक्यार्थ की सङ्गति का अनुभव भी हो जाता है। तथापि उस वाक्यार्थ से एक अथवा अनेक वाक्यार्थ प्रतीत होते हैं। ये वाक्यार्थ कुछ निर्धारक तत्त्वों के वैशिष्ट्य के कारण प्राप्त होते हैं। इन तत्त्वों से उन वाक्यार्थों का अन्वयव्यतिरेकी सम्बन्ध हुआ करता है।

उदाहरण के लिए - 'गतोऽस्तमर्कः' (सूरज डूब गया)

इस वाक्य को यदि कोई शिष्य सुने तो उसे सूर्यास्त रूपी प्राथमिक वाक्यार्थ का ज्ञान होने के साथ सन्ध्योपासना रूपी अन्य वाक्यार्थ का भी ज्ञान होगा ही। यहाँ दूसरे वाले वाक्यार्थ का निर्धारक तत्त्व विशिष्ट श्रोता है। यदि इसी वाक्य का श्रोता कोई किसान हो तो वाक्यार्थ भिन्न हो जायेगा।

वाक्यार्थ निर्धारण के प्रसङ्ग में इन्हीं उपर्युक्त तीन प्रकार के निर्धारणों का उपयोग करके वाक्यार्थ का ज्ञान किया जाता है। आगे विस्तार से वर्णन किया जायेगा कि प्रथम तथा तृतीय परिस्थितियाँ सभी वाक्यों के साथ घटित होती हैं जबकि द्वितीय निर्धारण की परिस्थिति वाक्य-विशेष की अपेक्षा रखती है।

उपर्युक्त तीन स्थितियों में से पहली स्थिति में तो वाक्यार्थ का बोध ही नहीं हो पाता; दूसरी में अर्थावबोध होता हुआ भी वाक्यार्थ वक्ता के तात्पर्य का अनुसरण न करने के कारण बाधित हो जाता है अतः इसके निर्धारण हेतु कुछ विशेष कारक-तत्त्व प्रयुक्त होते हैं। तीसरी स्थिति में बाध न होने पर भी कुछ विशेष कारक-तत्त्वों के अनुरोध से अन्य अर्थ प्राप्त होते हैं।

पहली दो स्थितियों में वाक्यार्थ का बोध पदार्थ निर्धारण के द्वारा होता है। प्रथम स्थिति में निर्धारित अर्थ उस शब्द का साक्षात् सङ्केतित अर्थ होता है, जिसे भारतीय शब्दावली में अभिधेय-अर्थ कहते हैं। द्वितीय स्थिति में निर्धारित अर्थ साक्षात् सङ्केतित न होकर अभिधेयार्थ से किसी न किसी प्रकार से सम्बद्ध होता है। इसे हम लक्ष्य-अर्थ कहते हैं। तृतीय स्थिति में वाक्यार्थों का बोध प्रथम वाक्यार्थ पूर्वक ही होता है, तथा यह अन्य वाक्यार्थ प्रथम (अभिधेय) वाक्यार्थ से नितान्त भिन्न होता है।^१ इसे आलङ्कारिकों ने प्रतीयमान अथवा व्यङ्ग्यार्थ कहा है।

ऊपर वाक्यार्थ की तीन निर्धारणीय परिस्थितियों की चर्चा की गयी, जिसके अन्तर्गत सभी सम्प्रेषण प्रक्रियाएँ आ सकती हैं। अब उन कारकों की चर्चा करनी आवश्यक है, जिनकी सहायता से श्रोता सङ्गत वाक्यार्थ का निर्धारण कर पाता है।

सर्वप्रथम इन तत्त्वों का यथाशास्त्र निरूपण किया जा रहा है। इस प्रसङ्ग में वाक्यपदीय, काव्यप्रकाश प्रभृति शास्त्रीय ग्रन्थों तथा उनकी टीकाओं से विशेष सहायता प्राप्त हुई है। इनका यथास्थान उल्लेख कर दिया गया है।

प्रथम स्थिति (अभिधेय वाक्यार्थ) के निर्धारक तत्त्व

शब्द मानव-समाज की संस्कृति, रुचि तथा विवक्षा आदि विभिन्न परिप्रेक्ष्यों

के अनुसार प्रयुक्त होने के कारण अनेकानेक अर्थों में संकेतित हो जाया करते हैं। श्रोता एक शब्द के जितने अधिक संकेतित अर्थ जानता है, अवबोध की प्रक्रिया में उसके भ्रमित होने के प्रसङ्ग उतने ही अधिक होते हैं। वक्ता इस आशङ्का से पूर्णतः परिचित होता है। अतः स्वाभाविक रूप से वह अनेकार्थक शब्दों के साथ या पहले कुछ ऐसे वाक्यों या शब्दों का प्रयोग करता है जो नियन्त्रक तत्त्वों का कार्य करते हैं। ये नियन्त्रक तत्त्व श्रोता की बुद्धि में प्रसक्त हो सकने वाले दूसरे विभिन्न ज्ञानों को रोक कर सङ्गत अर्थ के निश्चय में सहायक होते हैं।¹

वाक्यार्थ-निर्धारण की प्राथमिक स्थिति में पदार्थों के नियन्त्रण में उपयोगी इन कारकों की चर्चा हमें सर्वप्रथम आंशिक रूप से महाभाष्य¹ में तथा व्यवस्थित रूप से वाक्यपदीय में प्राप्त होती है। वाक्यपदीय के प्रसिद्ध टीकाकार पुण्यराज की अवतरणिका से सिद्ध होता है कि ये कारिकाएँ वाक्यपदीयकार की नहीं अपितु परम्पराप्राप्त हैं, जिन्हें आचार्य ने प्रसङ्गवश उद्धृत किया है -

“तथा चापरैः संसर्गादयः शब्दार्थावच्छेदहेतवः प्रदर्शिता इत्याह।”

(पुंयराज, वा०प० 2/315 का उपोद्घात)

इससे स्पष्ट है कि भारतीय भाषा शास्त्रीयों इन तत्त्वों को अत्यन्त प्राचीन काल से पहचानते आ रहे हैं - उपर्युक्त कारिकाएँ इस प्रकार हैं -

संसर्गो विप्रयोगश्च साहचर्यं विरोधिता।

अर्थः प्रकरणं लिङ्गं शब्दस्यान्यस्य सन्निधिः॥

सामर्थ्यमौचित्यं देशः कालो व्यक्तिः स्वरादयः।

शब्दार्थस्यानवच्छेदे विशेषस्मृतिहेतवः॥

(वा०प०, 2/315-316)

इन्हीं कारिकाओं को किञ्चित्² पाठभेदपूर्वक आचार्य मम्मट ने अभिधामूला शाब्दी व्यञ्जना के प्रसङ्ग में काव्यप्रकाश के द्वितीय उल्लास में उद्धृत किया है। आचार्य भर्तृहरि ने एक स्वोपज्ञ कारिका के द्वारा भी कुछ अन्य निर्धारक तत्त्वों का परिगणन किया है -

वाक्यात् प्रकरणादर्थौचित्यादेशकालतः ।

शब्दार्थाः प्रविभज्यन्ते न रूपादेव केवलात् ॥

(वा०प० 2/314)

आगे इन कारकों के शास्त्रानुकूल तात्पर्य तथा उदाहरण प्रस्तुत किये जा रहे हैं -

1. संयोग : यहाँ संयोग से तात्पर्य दो वस्तुओं के बीच नियत संयोग से है।⁶ इतना नियत कि एक दूसरे का भान कराने में पर्याप्त रूप से समर्थ हों। संयोग निर्धारणीय/सन्दिग्ध वस्तु के वाचक शब्द के साथ उसके किसी प्रसिद्ध तथा नियत संसर्गी का गुण विशेष रूपी सम्बन्ध होता है।⁷

काव्य प्रकाश में इसका उदाहरण है - 'सशङ्खचक्रो हरिः।

यहाँ 'हरि' शब्द अनेकार्थक है। 'विष्णु' अर्थ में इसका नियन्त्रण शङ्ख तथा चक्र के साथ द्योतित इस प्रसिद्ध संयोग के कारण हो पाता है।

पुण्यराज द्वारा प्रदत्त उदाहरण है - 'सवत्सा धेनुः' तथा 'सकिशोरा धेनुः'। धेनु शब्द घोड़ी तथा गाय दोनों का वाचक है। यहाँ 'वत्स' तथा 'किशोर' शब्दों के साथ नियत संयोग उनको सङ्गत अर्थ में नियन्त्रित कर देता है।

2. विप्रयोग : वियोग सदैव संयोगपूर्वक ही होता। यहाँ सामान्य वियोग विवक्षित नहीं है। संयोग के समान अधिकरण के साथ किसी प्रसिद्ध वस्तु का निमित्त विशेष के कारण होने वाली अनुपस्थिति को विप्रयोग कहा गया है।⁸ अतः वक्ता विप्रयोग घटित वाक्य उसी श्रोता के प्रति प्रयुक्त करता है जिसे दोनों वस्तुओं के संयोग का अवधारण होता है।⁹

'अशङ्खचक्रो हरिः' उदाहरण में शङ्खचक्र का अभाव 'हरि' शब्द के अर्थ के नियन्त्रण में समर्थ है। 'अवत्सा, अकिशोरा, वा धेनुः आनीयताम्' (पुण्यराज); यहाँ वत्सादि का असाहचर्य क्रमशः गाय, घोड़ी तथा ऊँटनी में 'धेनु' शब्द के अर्थ को सीमित कर देता है।

पुण्यराज एक शास्त्रीय उदाहरण प्रस्तुत करते हैं। 'भुजोऽनवने'¹⁰ सूत्र के द्वारा आत्मनेपद का विधान 'भुज पालनाभ्यवहारयोः'¹¹ इसी धातु से होता है,

‘भुजो कौटिल्ये’¹² से नहीं। क्योंकि अवन (रक्षा) अर्थ के अभाव की स्थिति वहीं हो सकती है, जहाँ उसके सद्भाव का सामर्थ्य भी हो।

3. साहचर्य : किसी कार्य विशेष में परस्पर अपेक्षा ही साहचर्य है।¹³ विवरणकार के अनुसार कार्य, समय तथा स्थान के अनुरोध से सहभाव साहचर्य है।¹⁴

‘रामलक्ष्मणौ’ इस उदाहरण में लक्ष्मण के साहचर्य से ‘राम’ का अर्थ दशरथ पुत्र में नियन्त्रित हो जाता है।

पुण्यराज द्वारा दिया गया शास्त्रीय उदाहरण है – ‘विपराभ्यां जेः’।¹⁵ यहाँ ‘वि’ उपसर्ग के साहचर्य से ‘परा’ उपसर्ग का ही ग्रहण होता है, ‘पर’ शब्द के स्त्री-लिङ्ग रूप परा का नहीं। वैयाकरण निकाय में इसी भाव से सम्बन्धित परिभाषा अत्यन्त प्रसिद्ध है –

सहचरितासहचरितयोः सहचरितस्यैव ग्रहणम्। (परि० 112)

4. विरोध : काव्यप्रकाश के विवेक टीकाकार के अनुसार पारस्परिक विरोध दो प्रकार का हो सकता है¹⁶ – 1. बाध्यबाधक भाव अर्थात् शत्रुता तथा 2. सहानवस्थिति अर्थात् साथ साथ रहने की अयोग्यता अथवा असम्भाव्यता।

पहले प्रकार का उदाहरण है ‘रामार्जुनौ’। यहाँ विरोध तत्त्व के कारण दोनों क्रमशः परशुराम तथा सहस्रबाहु अर्जुन में ही नियन्त्रित होते हैं।

दूसरे प्रकार का उदाहरण ‘छायातपौ’ है। अनेकार्थक छाया शब्द¹⁷ आतप के साथ अनवस्थान के कारण ‘छाँव’ अर्थ में समर्पित हो जाता है।

5. अर्थ : आचार्य मम्मट तथा उनके टीकाकारों ने ‘अर्थ’ शब्द का तात्पर्य ‘फल’ या ‘प्रयोजन’ लिया है। किसी वस्तु के स्वीकार करने का जो प्रयोजन अथवा आवश्यकता होती है वह भी उसके अर्थ का निर्धारण करती है।

उदाहरणार्थ – ‘स्थाणुं भज भवच्छिदे’, में ‘भवसागर-तरण’ ऐसा प्रयोजन है जो ‘स्थाणुं’ शब्द को शिव में नियन्त्रित कर देता है। क्योंकि यह प्रयोजन टूट आदि अर्थ लेने से पूरा होना दुःशकं है।

पुण्यराज के अनुसार ‘अर्थ’ से तात्पर्य अभिधेय (वाच्य) से है, न कि प्रयोजन आदि से।¹⁸ उनका उदाहरण है – ‘अञ्जलिना जुहोति’, अञ्जलिना

सूर्यमुपतिष्ठते तथा अञ्जलिना पूर्ण-पात्रमाहरति; इन वाक्यों में जुहोति आदि क्रियाओं से निकला हुआ अर्थ अञ्जलि के अर्थ के भेद को निर्धारित करता है।

उनके अनुसार समभिव्याहत शब्द का अर्थ सन्दिग्ध शब्द के अर्थ को निर्धारित करता है।

6. प्रकरण : सम्प्रेषण प्रक्रिया से सम्बन्धित पूर्ववर्ती अथवा सहवर्ती घटनाओं से प्राप्त सूचनाओं का समूह, जो सम्प्रेषण को आधारभूमि प्रदान करता है, प्रकरण कहलाता है।¹⁹ इसका वक्ता तथा श्रोता की बुद्धि में स्थित रहना आवश्यक होता है।²⁰ 'सैन्धवमानय' वाक्य में 'सैन्धव' का अर्थ भोजन के प्रकरण में 'नमक' और युद्ध के प्रसङ्ग में 'घोड़ा' लिया जायेगा।

पुण्यराज तथा काव्यप्रकाश के टीकाकार माणिक्यचन्द्र ने प्रकरण को अशाब्द कहा है।²¹ इसका अर्थ है कि प्रकरण संयोगादि कारकों की भाँति शब्दनिष्ठ नहीं होता, अपितु यह शब्द से प्राप्त सूचनाओं के द्वारा संरचित परिस्थिति होती है।

यहाँ परिगणित सभी कारकों के मध्य प्रकरण अत्यन्त महत्त्वपूर्ण तथा अन्तरङ्ग कारक है। इसे प्रसङ्ग, प्रस्ताव, विषय और सन्दर्भ आदि नामों से भी जाना जाता है।

7. लिङ्ग : काव्यप्रदीप के अनुसार लिङ्ग वस्तु का वह असाधारण अथवा परपक्ष व्यावृत्त धर्म माना गया है।²² जो शब्दार्थनिर्धारण के समय उसके चिह्न (निर्धारक) का कार्य करे। इसे साक्षात् शब्द के द्वारा ज्ञेय होना चाहिए।²³ उदाहरण के लिए - 'कुपितो मकरध्वजः' उदाहरण में कोप रूपी लक्षण कामदेव में ही सम्भव है, अतः यह शब्द समुद्रादि अन्य अर्थ का बोध नहीं कराता। साहित्यदर्पण की रुचिरा टीका में अन्य उदाहरण भी दिये गये हैं, यथा- रम्भा गायति, सुमनसो घ्राणम्, सुराः संराजन्ते, सुराः पीयन्ते इत्यादि। इस सम्बन्ध में पुण्यराज का मत भिन्न है। उनके अनुसार अन्य वाक्य में प्राप्त चिह्न जब प्रस्तुत वाक्य में स्थित पद के अर्थ-निर्धारण में सहयोग करता है तो वह लिङ्ग कहलाता है।²⁴ उदाहरण के लिए 'अक्ताः शर्करा उपदधाति' इस वाक्य अञ्जन क्रिया किससे करें यह आकाङ्क्षा उत्पन्न होती है। पूर्व वाक्य 'तेजो वै घृतम्' से घृत का लिङ्ग प्राप्त है। 'घृत से सिञ्चित' इस प्रकार का अर्थ प्राप्त होता है।

8. शब्दान्तर सन्निधि : सन्दिग्धार्थक पद से भिन्न समान विभक्ति वाले पद की समीपता से अर्थ का व्यवच्छेद हो जाता है। इस दूसरे शब्द को सन्दिग्ध शब्द का अव्यभिचारी होना चाहिए।²⁵ जैसे 'रामो जामदग्न्यः' में जामदग्न्य इस समानाधिकरण पद के समभिव्याहार से राम शब्द परशुराम मात्र में नियन्त्रित हो गया। 'देवस्य पुराततेः' तथा 'अर्जुनः कार्तवीर्यः' इसके अन्य उदाहरण हैं।

9. सामर्थ्य : निर्दिष्ट क्रिया की उत्पत्ति में कारण बनने की शक्ति को सामर्थ्य कहा गया है।²⁶ 'मधुना मत्तः कोकिलः' यहाँ मधु शब्द वसन्त अर्थ में सीमित हो गया है, क्योंकि कोकिल में मदोत्पादन का कारण वसन्त ही है, शराब आदि मधुपदवाच्य अन्य वस्तुओं में नहीं।

10. औचित्य : साहित्यदर्पण की टीका विवृति के अनुसार प्रकृत प्रसङ्ग में उपयुक्त होने की योग्यता ही औचित्य है।²⁷ रुचिरा द्वारा प्रस्तुत उदाहरण अत्यन्त सटीक है -

आरुह्यन्ते नृपैर्नागाः सैन्धवाश्चानुयायिभिः।

आरोहण की योग्यता हाथी तथा घोड़े में ही है अतः यहाँ उसके अतिरिक्त अनिष्ट अर्थ प्राप्त नहीं हो सकता। "पातु वो दयितामुखम्" में 'मुखम्' का अर्थ साम्मुख्य ही होगा।

11. देश : सन्दिग्ध पद के साथ उच्चरित स्थानवाचक पद को देश कहा गया है।²⁸ रुचिरा (पृ० 267) में अत्यन्त सुन्दर उदाहरण उद्धृत है -

गुरुरेकः कविरेकः सदसि मघोनः कलाधरोऽप्येकः।

अद्भुतमत्रसभायां गुरवः कवयः कलाधराः सर्वे॥

यहाँ 'मघोनः सदसि' तथा 'अत्र सभायाम्' इन दो देशवाचक पदों के अनुरोध से गुरु, कवि तथा कलाधर का ऊपरी पंक्ति में क्रमशः बृहस्पति, शुक्र तथा चन्द्रमा जबकि दूसरी में "आचार्य, कवि तथा कलावान् व्यक्ति अर्थ होगा।"

12. काल : सन्दिग्धार्थक शब्द के साथ उच्चरित अथवा गम्यमान समयवाचक शब्द भी अर्थ का नियन्त्रण करता है। यही काल नामक तत्त्व है।

‘चित्रभानुर्विभाति’ इस वाक्य का प्रयोग दिन तथा रात में करने पर चित्रभानु पद क्रमशः सूर्य तथा अग्नि में नियन्त्रित होगा। ‘द्वारम्’ पद का उच्चारण यदि जाड़े में करें तो (सामान्यतः) पिधेहि, तथा गर्मी में करें तो ‘अपावृणु’ अर्थ आयेगा। उच्चरित काल का उदाहरण है—

पर्वणि पर्वणि चन्द्रो मुदितो भवतीति विश्रुतं भुवने।²⁹

यहाँ चन्द्र का अर्थ चन्द्रमा मात्र है कर्पूरादि नहीं। काल गम्यमान तथा उक्त दोनों हो सकता है।

13. व्यक्ति : प्रतिपादिक के छः अर्थों में एक अर्थ लिङ्ग भी होता है। उसकी अभिव्यक्ति करने वाले पुंस्त्व आदि को व्यक्ति कहा गया है।³² यह भी अर्थनिर्धारण का एक तत्त्व होता है।

उदाहरणार्थ – मित्रं भाति/मित्रो भाति इन वाक्यों में मित्र शब्द का अर्थ लिङ्गवैशिष्ट्य के कारण क्रमशः सुहृद् तथा सूर्य होगा। संस्कृत भाषा में लिङ्गवैशिष्ट्य के उदाहरण अत्यन्त प्रचुर हैं।

14. स्वर : यह तत्त्व भाषाविशेष में सीमित है। उच्चारण स्थानों के उच्चावच के आधार पर उच्चरित होने से संस्कृत में तीन प्रकार के स्वर प्राप्त होते हैं – उदात्त, अनुदात्त एवं स्वरित।

उदाहरण के लिए समान आनुपूर्वी से युक्त ‘क्षय’ शब्द यदि आद्युदात्त (क्षय) हो तो उसका अर्थ ‘घर’ होता है, जबकि अन्तोदात्त (क्षय) होने पर उसका अर्थ विनाश होता है।

वेद में अर्थनिर्धारण हेतु स्वर तत्त्व का अत्यधिक महत्त्व है।

15. वाक्य : आचार्य भर्तृहरि ने इन तत्त्वों के अतिरिक्त वाक्यपदीय 2/314 में ‘वाक्य’ नामक एक तत्त्व और गिनाया है। यहाँ वाक्य से तात्पर्य मीमांसा-सम्मत वाक्यरूपी श्रुति से है। वाक्यगत विशेषण-विशेष्य अथवा गुण-गुणी का सम्बन्ध निर्णय इसी तत्त्व से होता है। भर्तृहरि ने अन्यत्र भी कहा है – “आश्रयाश्रयिणोर्वाक्याद् निर्णयस्त्ववतिष्ठते।”³¹

उदाहरण हेतु, ‘कटं करोति भीष्ममुदारं दर्शनीयम्’ वाक्य में ‘करोति’

क्रिया के साथ साक्षात् सम्बन्ध केवल कट का है। परन्तु निर्गुण कट उत्पन्न नहीं हो सकता उसे भीष्मादि गुणों की अपेक्षा है। इस प्रकार 'क्रिया का' सामानाधिकरण्य वाक्य के घटक पदों के समभिव्याहार रूप सम्बन्ध से हो जायेगा। इस प्रकार "भीष्मादिगुणां वतं कटं करोति" यह वाक्यार्थ निर्धारित होगा।

16. आदि पद से ग्राह्य : अचार्य मम्मट ने आदि पद से अभिनय का ग्रहण माना है। एतावन्मात्रस्तनी० - इत्यादि श्लोक में मात्रा वाचक सर्वनामों का अर्थ अभिनय से ज्ञात हो पाता है।

इस प्रसङ्ग में ऊहित अन्य तत्त्वों का वर्णन द्वितीय खण्ड में किया जायेगा।

द्वितीय-स्तरीय निर्धारण तथा उसके तत्त्व

प्रथम स्तरीय वाक्यार्थ निर्णय के अनन्तर भी कुछ वाक्यों का निर्धारित अर्थ वक्ता के तात्पर्य के अनुकूल प्राप्त नहीं हो पाता। फलतः उस वाक्यार्थ को श्रोता अस्वीकार कर देता है। उसे यह विश्वास होता है कि वक्ता का तात्पर्य उसके तात्पर्य से कथमपि भिन्न नहीं हो सकता। ऐसे वाक्यों का प्राथमिक अर्थ वस्तुतः श्रोता के तात्पर्य के अनुकूल नहीं होता - तथापि श्रोता तथा वक्ता के बीच बौद्धिक-सामानाधिकरण्य इतना बलवान् तथा इतनी सीमा तक अव्यभिचरित होता है कि श्रोता यह अनुमान सरलता से लगा लेता है कि प्रकृत वाक्यार्थ निश्चित रूप से वक्ता के भी अनुकूल नहीं होगा। इसी को आचार्यों ने मुख्य-अर्थ का बाध कहा है। यह बाध ही द्वितीय-स्तर के निर्धारण का प्रारम्भिक बीज बनता है³², क्योंकि वक्ता तथा श्रोता हमेशा ही संगत अर्थ के अन्वेषण की ओर उन्मुख होते हैं तथा इसी क्रम में वे अन्य मानसिक-प्रक्रमणों का व्यय करते हैं।

इस प्रसङ्ग में आचार्यों ने स्पष्ट किया है कि मुख्यार्थ बाध का अर्थ पदार्थों का अलग-अलग बाध नहीं अपितु पदार्थ का उच्चरित पदार्थान्तर के साथ अन्वय (सम्बन्ध बोध) का बाध है।³³ विवरणकार श्री गोकुलनाथ उपाध्याय ने मुख्यार्थ-बाध के निम्नलिखित तीन कारण उपस्थापित किये हैं³⁴ -

- (क) अयोग्यता का निर्णय - (गङ्गायां घोषः)
 (ख) निराकाङ्क्षत्व का अवधारण - (राजपुरुषः)
 (ग) इदम्पदत्वावच्छेदेन मुख्यार्थतात्पर्य के ज्ञान का अभाव - (काकेभ्यो दधि रक्ष्यताम्)

इस प्रकार पदार्थनिर्धारणपूर्वक निराकाङ्क्षवाक्य का बोध होने पर भी यदि वाक्यार्थ प्रमाणान्तर से बाधित³⁵ है तो तात्पर्यपूर्ति में सहायक न होने के कारण वह अस्वीकृत हो जाता है। फलतः श्रोता उस बाधित मुख्यार्थ से कथञ्चित् सम्बन्धित किसी ऐसे अर्थ का ग्रहण करता है जो वक्ता के तात्पर्य के अनुकूल हों।

मुख्य अर्थ तथा दूसरे अर्थ के बीच कोई न कोई सम्बन्ध होना अनिवार्य होता है। वस्तुतः ये सम्बन्ध ही हैं जिन्हें ध्यान में रखकर वक्ता ऐसे वाक्यों का प्रयोग करता है, अतः वाक्यार्थ बोध हेतु श्रोता को भी इन तत्त्वों का ज्ञान होना अनिवार्य होता है।

दूसरे शब्दों में ये सम्बन्ध ही द्वितीय स्तर के वाक्यार्थ-निर्णय में निर्धारक अथ च नियन्त्रक तत्त्वों का कार्य करते हैं।

उदाहरण हेतु, 'गङ्गायां घोषः' वाक्य में 'गङ्गायाम्' पद का अर्थ 'गङ्गातटे' है। इस अर्थ का निर्धारण तथा नियन्त्रण दोनों के मध्य सामीप्य नामक सम्बन्ध तत्त्व करता है।

वक्तृसम्मत संगत अर्थ की प्राप्ति के दौरान श्रोता इन तत्त्वों को सदैव ध्यान में रखता है।

भारतीय अर्थ वैज्ञानिकों ने अत्यन्त प्राचीन समय से ही भाषा के इस प्रयोग को पहचान लिया था। प्राचीन समय से ही इसको गौण, औपचारिक, लाक्षणिक तथा भाक्त आदि प्रयोगों के नामों से जाना जाता रहा है तथा इस द्वितीय प्रकार के अर्थ को निर्धारित करने वाले विभिन्न तत्त्वों की खोज भी प्रारम्भ कर दी थी।

इन तत्त्वों के सोदाहरण वर्णन से पूर्व इससे सम्बन्धित दो मुख्य तथ्यों का स्पष्टीकरण आवश्यक है -

1. वाक्यार्थ निर्णय के उपर्युक्त तीन स्तरों के बीच प्रस्तुत स्तर सार्वत्रिक नहीं है। अर्थात् यह आवश्यक नहीं है कि निर्णय की यह प्रक्रिया सभी भाषिक वाक्यों पर लागू हो ही। इसकी आवश्यकता तो केवल तभी पड़ती है जब प्रथम स्तर के निर्णय के बाद भी तात्पर्य का अवगमन न हो सके।

मुख्य-अर्थ वक्ता के तात्पर्य को समझाने में समर्थ नहीं हो पाता, क्योंकि वक्ता किसी प्रयोजन विशेष या परम्परा के अनुसार वाक्य में ऐसे शब्द प्रयुक्त करता है जो सामान्य स्थिति में प्रयुक्त ही नहीं होते हैं। अतः ऐसी परिस्थिति में इस द्वितीय स्तर की निर्णय-प्रक्रिया का आश्रय लेना पड़ता है।

2. द्वितीय स्तरीय निर्धारण को प्रथम स्तरीय निर्धारण से पूर्णतः सम्बद्ध होना चाहिए। इस प्रकार इन दोनों में गौण-मुख्य भाव होना चाहिए। वस्तुतः प्रकृत निर्धारण मुख्यार्थनिर्धारण की ही पूरक प्रक्रिया है अतः स्वाभाविक रूप से गौण तथा कादाचित्क है। इसीलिए भारतीय-चिन्तकों द्वारा इस (लक्षणा) प्रक्रिया को मुख्यार्थ (अभिधा) प्रक्रिया की पुच्छभूत कहा गया है।³⁶

न्यायसूत्रकार गौतम से लेकर अर्वाचीन विश्वनाथ कविराज तक विभिन्न ग्रन्थकारों तथा टीकाकारों ने लक्षणा के इन निर्धारक तत्त्वों को पहचानने का प्रयत्न किया है। इनका सोदाहरण विवरण आगे प्रस्तुत है -

वाक्य के मुख्यार्थ तथा गौणार्थ के मध्य सम्भावित सम्बन्धों को विद्वानों ने प्रथमतः सादृश्य तथा सादृश्येतर दो वर्गों में विभाजित किया है।³⁷ 'सादृश्य' भी सामान्य सम्बन्धों की तरह ही एक सम्बन्ध विशेष है, तथापि इसे एक स्वतन्त्र वर्ग में रखा गया है। इसके निम्नलिखित कारण हो सकते हैं -

- (क) गौण-वाक्यार्थ के अन्तर्गत लक्षणा से प्राप्त अर्थ का समभिव्याहृत पद के साथ योग हुआ करता है। परन्तु ऐसा केवल सादृश्येतर सम्बन्धों की स्थिति में होता है, सादृश्य सम्बन्ध में नहीं।

उदाहरणार्थ - 'गङ्गायां घोषः' वाक्य में निर्धार्यमाण पद 'गङ्गायाम्' है। इससे गौण अर्थ प्राप्त हुआ 'गङ्गाप्रवाहे'। यह सादृश्येतर

सम्बन्ध सामीप्य से लभ्य है। अतः इसका समभिव्याहृत पद - 'घोषः' के साथ निर्विघ्न सम्बन्ध उपपन्न हो जाता है।

परन्तु सादृश्य सम्बन्ध द्वारा लाक्षणिक पद से कोई दूसरी वस्तु लक्षित नहीं होती अपितु उसी पद के गुण लक्षित होते हैं तथा उन्हीं गुणों के साथ सहोच्चारित पद का अन्वय होता है।

उदाहरणार्थ - 'गौर्वाहीकः' में गो-गत जाइय तथा मान्द्य गुण लक्षित होते हैं, जिनका समानाधिकरण्य वाहीक पद से होता है।

इस प्रकार सादृश्येतर सम्बन्ध में पदार्थान्तर लक्षित होता है, जबकि सादृश्य में उसी पदार्थ के गुण। यही इन दोनों के मध्य भेद का आधार है।

(ख) अन्य सभी सम्बन्धों की अपेक्षा सादृश्य लक्षणा के प्रयोग-हेतु अधिक उत्तरदायी है। इसके प्रयोग विषय के आधिक्य के कारण आचार्यों ने इसे एक स्वतन्त्र कोटि में रखा है, ऐसा भी सम्भावित किया जा सकता है।

यहाँ ध्यातव्य है कि इन्हीं दो प्रकार के सम्बन्धों के आधार पर आचार्यों ने लक्षणा को दो भागों में विभक्त किया है-

(i) शुद्धा (सादृश्येतर सम्बन्ध द्वारा प्रयोजित।)

(ii) गौणी (सादृश्य सम्बन्ध द्वारा प्रयोजित।)

इस सम्बन्ध में रोचक तथ्य यह है कि मीमांसकों ने सादृश्य द्वारा प्रायोजित गौणी वृत्ति की विलक्षणता के आधार पर इसे लक्षणा के अतिरिक्त एक स्वतन्त्र वृत्ति स्वीकार किया है।³⁸ नैयायिकों ने इस धारणा का प्रबल खण्डन किया है।

वाक्यगत द्वितीय निर्धारण के प्रयोजक इन तत्त्वों का यथा-शास्त्र विवेचन आगे प्रस्तुत है -

(क) गौणी

1. सादृश्य : दो सदृश वस्तुओं की प्रतीति का कारण सादृश्य सम्बन्ध होता है।³⁹ जैसे किसी ब्रह्मचारी को देखकर यदि कहा जाय - 'अग्निरयम् माणवकः' (ब्रह्मचारी आग है।) तो इसका अर्थ होगा - 'माणवकः अग्नितेजस्वी

शुचिश्च ।' (ब्रह्मचारी आग की तरह तेजस्वी एवं पवित्र है।) यह अर्थ अग्नि तथा माणवक के मध्य सादृश्य के कारण ही निर्धारित हो पाता है। दूसरे शब्दों में अग्नि तथा माणवक के मध्य सामानाधिकरण्य के प्रयोग से उत्पन्न अनुपपत्ति को सादृश्य के माध्यम से ही संगत किया जा सकता है।

जैसा कि कहा जा चुका है कि सादृश्य सम्बन्ध द्वारा प्रयोजित लक्षणा अन्य किसी भी सम्बन्ध की अपेक्षा अधिक प्रयुक्त तथा महत्त्वपूर्ण होती है।

(ख) सादृश्येतर

2. कार्यकारण : कभी-कभी मुख्य तथा गौण अर्थ के बीच कार्य कारण सम्बन्ध वाक्यार्थ का निर्धारक हो जाता है। उदाहरणार्थ - घृत के लिए 'आयुः एव इदम्' (आयु ही है यह।) वाक्य के प्रयोग में कार्यकारण (आयु-कार्य, घृत-कारण) भाव ही प्रयोजक है।

ध्वन्यालोकलोचन¹⁰ में एक अन्य उदाहरण मिलता है - अन्न चुराने वाले व्यक्ति के सम्बन्ध में 'प्राणानयं हरति', ऐसा व्यवहार अन्न तथा प्राण के मध्य कारण-कार्य भाव सम्बन्ध द्वारा ही प्रयोजित है।

3. तादर्थ्य : मुख्यार्थ तथा गौणार्थ के बीच तादर्थ्य सम्बन्ध भी लाक्षणिक-प्रयोगों का कारण बन-है। उदाहरणार्थ इन्द्र देवता के लिए प्रयुक्त यज्ञ स्तम्भ के लिए 'इन्द्रः' का प्रयोग।¹¹

4. तात्कर्म्य : वक्ता 'तक्षा' (बढ़ई) शब्द का प्रयोग यदि किसी ऐसे व्यक्ति के लिए कर दे जो जाति से तक्षा नहीं है तो अर्थ बोध के लिए तात्कर्म्य नामक सम्बन्ध तत्त्व की सहायता लेनी होगी।

काव्यप्रकाश के सङ्केत तथा विवेक टीकाकारों द्वारा निम्न उदाहरण दिया गया है।¹² 'महति समरे शत्रुघ्नस्त्वम्'। यहाँ शत्रुघ्नोचित कार्य सम्पादित करने के कारण राजा के लिए शत्रुघ्न शब्द प्रयुक्त हुआ है।

5. तात्स्थ्य : किसी स्थान-विशेष पर स्थित व्यक्तियों के लिए कभी-कभी उस स्थान का व्यवहार हो जाता है। ऐसे गौण प्रयोगों के शाब्दबोध के लिए 'तात्स्थ्य' नामक सम्बन्ध तत्त्व सहायक होता है। उदाहरणार्थ - मञ्चस्थ व्यक्तियों के शोर मचाने पर 'मञ्चाः क्रोशन्ति' यह गौण-प्रयोग।

6. सामीप्य : मुख्यार्थ से गौणार्थ का सामीप्य भी इन प्रयोगों का नियन्त्रक तथा निर्धारक हुआ करता है। यथा - गङ्गा तट के लिए 'गङ्गा' शब्द का व्यवहार दोनों के बीच सामीप्य सम्बन्ध को समझने पर ही सङ्गत हो पाता है।

7. साहचर्य : कभी-कभी आधेय सहित आधार को कहने के लिए केवल आधेय का व्यवहार कर देते हैं। इन गौण प्रयोगों का निर्धारण तथा नियन्त्रण साहचर्य सम्बन्ध को ध्यान में रखकर किया जाता है। उदाहरण हेतु भाला लिए हुए पुरुषों के प्रवेश करने पर 'कुन्ताः प्रविशन्ति' इस प्रकार का प्रयोग। 'यष्टीः प्रवेशय' भी इसी कोटि का उदाहरण है।

8. स्वस्वामिभाव : राजकीय पुरुष के लिए 'राजाऽसौ' इस वाक्य का प्रयोग करते समय वक्ता तथा इसके अवगम के समय श्रोता को स्वस्वामिभाव सम्बन्ध का ध्यान रखना होता है। तभी इस प्रयोग की उपपत्ति हो पाती है।

9. अवयवावयविभाव : हस्त शब्द कन्धे से लेकर हथेली की अंगुलियों तक का बोधक है तथापि केवल हथेली के लिए भी 'हस्त' शब्द का प्रयोग होता है। इस प्रकार के प्रयोगों में अर्थ का निर्धारण अवयवावयविभाव रूपी सम्बन्ध तत्त्व से होता है।

10. वैपरीत्य : कभी-कभी शब्द का द्वितीय गौण अर्थ मुख्य अर्थ से नितान्त विपरीत प्राप्त होता है। ऐसी स्थितियों में वैपरीत्य नामक सम्बन्ध तत्त्व स्वीकारा गया है।

उदाहरण के लिए - किसी असुन्दर व्यक्ति के लिए यदि हम 'भद्रमुखोऽयम्' प्रयोग करें तो यहाँ वैपरीत्य तत्त्व अर्थ का निर्धारक होगा। 'उपकृतं बहु तत्र किमुच्यते' आदि¹³ उदाहरण वैपरीत्य सम्बन्ध का प्रसिद्ध उदाहरण है।

11. माप्य-मापकभाव : लौकिक प्रयोगों में परिमाण वाचक शब्द तथा परिमेय वाचक शब्द में समान विभक्ति का प्रयोग देखा जाता है - जैसे 'द्रोणो ब्रीहिः' या 'प्रस्थः सक्तुः'¹⁴ में। इसका मुख्यार्थ नितान्त बाधित है। यहाँ अर्थ की उपपत्ति हेतु हम 'द्रोण' को गौण प्रयोग मानेंगे जो मापक होता हुआ भी माप्य के लिए प्रयुक्त हुआ है।

ध्यातव्य है कि इस प्रसङ्ग में आचार्य पाणिनि, द्रोण आदि परिमाण सामान्य के वाचक पदों में 'सु' आदि प्रत्यय का अर्थ परिमाण विशेष ही मानते हैं।¹⁵ अतः दोनों के अभेदान्वय में कोई अनुपपत्ति नहीं रह जाती। फलतः उन्हें यहाँ लक्षणा नहीं माननी पड़ती।

12. समवाय : किसी सफ़ेद जीव के दौड़ने पर 'श्वेतो धावति', इस प्रकार का प्रयोग भी द्वितीय प्रकार के निर्धारण (अर्थात् लक्षणा) का विषय बनता है। यहाँ इन दोनों में समवाय सम्बन्ध मानना होगा - क्योंकि गुण तथा गुणी के मध्य एकमात्र यही सम्बन्ध होता है। ऐसे वाक्यों को समवाय सम्बन्ध द्वारा सङ्गतार्थ किया जा सकता है।

13. आधिपत्य : किसी प्रधान व्यक्ति के लिए 'अयं कुलस्य राजा' इस वाक्य के प्रयोग का प्रयोजक उस व्यक्ति में रहने वाले राजा जैसा आधिपत्य गुण है। इस तत्त्व को न्यायसूत्रकार¹⁶ ने इङ्गित किया है।

14. योग : 'कृष्णः शकटः' वाक्य में 'शकट' में उसके धर्म 'कृष्ण' का आरोप कर दिया गया है। महर्षि गौतम¹⁷ के अनुसार यह 'योग' नामक सम्बन्ध तत्त्व द्वारा प्रयोजित है।

15. वृत्त : 'यमः राजा' - यहाँ राजा के लिए यम पद का व्यवहार यमराज जैसे वृत्त अर्थात् आचरण के द्वारा प्रयोजित है अतः गौतम¹⁸ के अनुसार यह वृत्त नामक तत्त्व है।

उपर्युक्त तीनों तत्त्वों में से 13वें का सादृश्य में तथा 15वें का समवाय या सादृश्य में सरलता से अन्तर्भाव हो जायेगा, अतः इनका पृथक् पाठ युक्त नहीं लगता।

भाषा के इन गौण प्रयोगों के समय वक्ता तथा इनका अवगम करते समय श्रोता उपर्युक्त सादृश्य आदि सम्बन्धों की सहायता लेता है तथा बहुत अंशों तक ये तत्त्व ही उसके सम्प्रेषण को निर्धारित तथा नियन्त्रित करते हैं।

अतः वाक्यार्थ सामान्य के निर्धारण तथा द्वितीय स्तर के वाक्यार्थ निर्धारण में इन उपर्युक्त तत्त्वों की महत्वपूर्ण भूमिका स्पष्ट होती है।

तृतीयस्तरीय निर्धारण एवं उसके तत्त्व

प्रथम स्तर में पदशः निर्णय तथा द्वितीय स्तर में बाध आदि के निवारण द्वारा निराकाङ्क्ष वाक्यार्थ का स्वरूप श्रोता के प्रति स्पष्ट हो जाता है। यह वाक्यार्थ असङ्गत या बाधित नहीं होता अतएव श्रोता इसे छोड़कर प्रयत्नपूर्वक अन्य अर्थ का अन्वेषण प्रायः नहीं करता। तथापि उसी वाक्यों से वक्ता के तात्पर्य के अनुकूल अनेक प्रकार के भिन्न-भिन्न अर्थ स्वाभाविक रूप में प्रतीत हो जाते हैं। ये प्रतीयमान अर्थ सामान्यतः प्रथम अथवा द्वितीय स्तर के निर्णय से प्राप्त वाक्यार्थ से नितान्त भिन्न होते हैं।

यदि हम इन प्रतीयमान वाक्यार्थों का विश्लेषण करें तो हमें अनेक ऐसे तत्त्व प्राप्त होते हैं जो सामान्य वाक्यार्थ से इन विशिष्ट प्रतीयमान वाक्यार्थों की प्रतीति अथवा निष्पत्ति के प्रति उत्तरदायी होते हैं। वक्ता के वाक्य की विशेष संघटना इन तत्त्वों को ध्यान में रखकर होती है; तथा श्रोता का अर्थावबोध बहुत सीमा तक इन्हीं तत्त्वों द्वारा निर्देशित तथा नियन्त्रित होती है।

भारतीय अर्थ वैज्ञानिकों ने तृतीय स्तर के निर्धारण में नियन्त्रक तत्त्वों का बड़ा ही विशद वर्णन उपस्थापित किया है, जिनका सोदाहरण विवरण आगे के पृष्ठों में प्रस्तुत किया जा रहा है।

यहाँ एक बात स्पष्ट करनी अनिवार्य है कि ध्वनिवादी काव्यशास्त्रियों ने इन तत्त्वों का वर्णन आर्थी-व्यञ्जना के प्रसङ्ग में करते हुए सदैव काव्यात्मक उदाहरण दिये हैं। इसका यह तात्पर्य कदापि नहीं है कि सामान्य (अकाव्यात्मक) वाक्यों में इनका योगदान नहीं होता। वस्तुतः काव्यशास्त्र के प्रसङ्ग में सामान्य वाक्यों में इन तत्त्वों का योगदान प्रदर्शित करना अनेपक्षित था, अतः आचार्यों ने अप्रकृत चेष्टा नहीं की। ध्वनि सदैव प्रतीयमान ही होता है, तथा ये तत्त्व सभी प्रतीयमान अर्थों के निर्धारक तथा नियन्त्रक होते हैं - अतः ध्वन्यर्थ के भी नियन्त्रक यही होते हैं। दूसरे शब्दों में प्रतीयमान-अर्थ व्यापक है तथा ध्वन्यर्थ व्याप्य। ध्वन्यर्थ भी प्रतीयमानार्थ के अन्तर्गत आ जाता है। इस कारण से ध्वनि के प्रसङ्ग में भी ये ही तत्त्व उत्तरदायी होते हैं। अतः प्रतीयमान अर्थ चाहे काव्यात्मक हो अथवा सामान्य, इन्हीं तत्त्वों के द्वारा नियन्त्रित तथा निर्धारित हुआ करता है। दैनन्दिन वाक्यों में इन तत्त्वों का प्रयोग हम इसी अध्याय के

द्वितीय खण्ड में प्रदर्शित करेंगे। आगे प्रतीयमान अर्थ के लिए उत्तरदायी तत्त्वों का यथाशास्त्र विवेचन प्रस्तुत किया जा रहा है -

आर्थी व्यञ्जना के प्रसङ्ग में आचार्य मम्मट ने अपने ग्रन्थ काव्यप्रकाश के तृतीय उल्लास में नौ तत्त्वों का उल्लेख निम्नोक्त प्रकार से किया है -

वक्तृबोद्धव्यकाकूनां वाक्यवाच्यान्यसन्निधेः।

प्रस्तावदेशकालादेर्वैशिष्ट्यात् प्रतिभाजुषाम्।

योऽर्थस्यान्यार्थधीहेतुर्व्यापारो व्यक्तिरेव सा।⁴⁹

(उपर्युक्त तत्त्वों की विशिष्ट उपस्थिति के कारण प्रतिभावान् लोगों को अभिधेय तथा लक्ष्य वाक्यार्थ से अतिरिक्त जिस अन्य अर्थ की प्रतीति होती है, वह व्यञ्जना व्यापार के कारण ही होती है।)

यहाँ 'प्रतिभाजुषाम्' (प्रतिभावानों को) पद का प्रयोग काव्यगत ध्वनि का प्रकरण होने के कारण किया गया है। अन्यथा प्रतीयमान अर्थ की प्रतीति तो आपामर-विद्वज्जन सबको होती है।

'अर्थ' से तात्पर्य केवल अभिधा तथा लक्षणा से प्राप्त वाक्यार्थ है।⁵⁰

'अन्यार्थ' शब्द का प्रयोग प्रतीयमान वाक्यार्थ की नितान्त विलक्षणता को सूचित करता है। प्रथम तथा द्वितीय स्तर से निर्धारित वाक्यार्थ तो वाक्य के आर्थ-प्रतिरूपण (Semantic-representation) से सम्बद्ध रहते हैं⁵¹, परन्तु व्यङ्ग्यार्थ इससे भिन्न ही होता है।

ध्यातव्य है कि इन्हीं तत्त्वों को किञ्चित् परिवर्तन के साथ साहित्यदर्पणकार ने भी उद्धृत किया है।⁵²

व्यञ्जना से प्राप्त अर्थ अभिधा एवं लक्षणा की भाँति नियत तथा स्पष्ट हो यह आवश्यक नहीं है। इसका मुख्य कारण यह है कि व्यञ्जना व्यापार में सहायक उपर्युक्त तत्त्वों में से एक साथ अनेक तत्त्व भी कार्यरत हो सकते हैं। अतः अर्थ भी बहु-आयामी तथा विलक्षण हो जाते हैं।

आगे ये तत्त्व सोदाहरण प्रस्तुत हैं -

1. वक्तृवैशिष्ट्य :- कभी-कभी विशिष्ट वक्ता की उपस्थिति से वाक्य का अन्य अर्थ प्रतीत होने लगता है अर्थात् इस प्रतीयमान अर्थ का

अवधारण उस वाक्य के वक्ता में स्थित विशेषताओं के कारण हो पाता है। काव्य जगत् में दो प्रकार के वक्ता सम्भव हैं - (1) कवि, (2) कविनिबद्धवक्ता।⁵³

अइपिहुलं जलकुम्भं घेत्तूण समागदमिह सहि तुरिअम्।

समसेअसलिलणीसासणीसहा वीसमामि खणम्⁵⁴।।

(पानी के बहुत बड़े घड़े को लेकर हे सखि! मैं बहुत शीघ्रता से आई हूँ, अतः पसीने तथा निःश्वास से व्याकुल हूँ। कुछ क्षण मैं विश्राम करती हूँ।)

वाक्य का अर्थ अति सामान्य है। परन्तु जब हमें यह ध्यान होता है कि इस वाक्य को बोलने वाली स्त्री स्वैरिणी है तो इसी वाक्यार्थ से अन्य वाक्यार्थ प्रतीत हो जाता है - 'वक्त्री अपने चौर्यरत को छिपाना चाहती है।'

ध्यातव्य है कि यह अर्थ पूर्ववर्ती अर्थ से नितान्त विलक्षण है।

इसी वाक्य को यदि कोई सामान्य महिला कहती, (जो स्वैरिणी नहीं हो अथवा इस विषय में हमें ज्ञात नहीं हो) तो इस अर्थ की प्रतीति नहीं होती। अतः सिद्ध है कि प्रस्तुत व्यङ्ग्यार्थ वक्ता की विशिष्टता (स्वैरिणीत्व) के कारण स्फुरित हो रहा है न कि बोद्धव्य आदि के वैशिष्ट्य से।⁵⁵

2. बोद्धव्यवैशिष्ट्य :- बोद्धव्य का अर्थ वह व्यक्ति है जिसके प्रति वक्ता सूचनाओं को प्रतिपादित करना चाहता है।⁵⁶ बोद्धव्य का अर्थ 'वाच्यार्थ' नहीं है। ऐसा मानने पर पुनरुक्ति हो जायेगी।⁵⁷

कभी-कभी विशिष्ट प्रतिपाद्यमान (श्रोता) के परिप्रेक्ष्य में सामान्य वाक्यों से अन्य वाक्यार्थ प्रतीत हो जाते हैं। श्रोतृगत विशिष्टता की सूचना के साथ इन अर्थों का अन्वयव्यतिरेक सम्बन्ध होता है। फलतः इन प्रसङ्गों में श्रोतृगत वैशिष्ट्य रूपी तत्त्व को प्रतीयमानार्थ का निर्धारक तथा नियन्त्रक माना जा सकता है।

श्रोतृगत वैशिष्ट्य का अत्यन्त प्रसिद्ध उदाहरण है - 'गतोऽस्तमर्कः। यदि 'सूरज डूब गया', इस वाक्य का लक्ष्य कृषक हो तो उसे प्रतीत अर्थ होगा - 'हल बैल घर ले चलें'। ब्रह्मचारी इससे अर्थ ले सकता है - 'सन्ध्योपासना करनी है'। स्वैरिणी को 'उपपति से मिलने का नियत समय' प्रतीत हो सकता है - आदि आदि।

ध्यातव्य है कि सभी अर्थ वाच्यार्थ से तो भिन्न हैं ही परस्पर भी पर्याप्त भिन्नता लिए हुए हैं। इन वाक्यार्थों की भिन्नता का निर्धारण श्रोतृगत विशिष्टता के द्वारा ही हो सकता है -

काव्यप्रकाश में इसका उदाहरण निम्नवत् है -

ओणिण्दं दोब्बलं चिंता अलसत्तणं सणीससिअम्।

मह मंदभाङ्गीए केरं सहि तुह वि अहह परिहवड्।⁵⁸

यहाँ बोद्धव्य एक ऐसी दूती है जो नायिका के प्रिय से मिलकर आ चुकी है।

इसकी विशिष्टता (अर्थात् दुश्चरित्र होना) नायिका के प्रिय के साथ उसके सङ्गम की प्रतीति करा रहा है। सिद्धचन्द्रगणि ने काव्यप्रकाशखण्डनम् में - 'उपकृतम् बहु०' --इत्यादि तथा विश्वनाथ कविराज ने 'निःशेषच्युतचन्दनं स्तनतटम्' इत्यादि उदाहरण दिये हैं।⁵⁹

3. काकुवैशिष्ट्य :- समान आनुपूर्वी के वाक्य में यदि ध्वनियों को किञ्चित् परिवर्तित करके उच्चारण किया जाये तो वाक्य का अर्थ बदल जाता है। ध्वनियों का यह परिवर्तन अथवा विकार काकु कहलाता है। इसके प्रयोग से सामान्य वाक्य भी निषेधात्मक एवं विस्मयबोधक आदि हो जाता है।

वाक्येऽभिधीयमानेऽर्थे येनाऽन्यःप्रतिपद्यते।

भिन्नकण्ठध्वनिधीरैः काकुरित्यभिधीयते।।⁶⁰

साहित्यदर्पण⁶¹ में प्रदत्त उदाहरण इस प्रकार है -

गुरुपरतन्त्रतया बत दूरतरं देशमुद्यतो गुन्तुम्।

अलिकुलकोकिलललिते नैष्यति सखि सुरभिसमयेऽसौ।।⁶²

यहाँ 'नैष्यति सखि सुरभिसमयेऽसौ' (सखि! वे तुम्हारे पति- वसन्त समय में नहीं आयेंगे) इस वाक्य को सामान्यनिषेधात्मक वाक्य की तरह उच्चरित न करके काकु प्रयोगपूर्वक इसे प्रश्नवाचक बना दिया गया है। जिसके कारण यह व्यञ्जित हो रहा है कि वे अवश्यमेव आयेंगे।

4. वाक्यवैशिष्ट्य : यहाँ 'वाक्य' से तात्पर्य पदसमूह आदि सामान्यवाक्य नहीं है। इस प्रसङ्ग में यह पद पारिभाषिक है। यहाँ वाक्य में प्रयुक्त ऐसे पदों को

‘वाक्य’ कहा गया है जो - विशेष प्रकार का व्यङ्ग्यार्थ न लिये जाने - की स्थिति में व्यर्थ हो जायेंगे।⁶³ दूसरे शब्दों में वे साभिप्राय पद जो वाक्य के समन्वय में सहायक हों उन्हें यहाँ वाक्य कहा गया है।⁶⁴ सारबोधिनी⁶⁵ के अनुसार वाक्य का वह विशेष खण्ड (विच्छिन्न वाक्य) ही वाक्य है जो व्यङ्ग्यार्थ की प्रतीति का निर्धारक हो। सिद्धचन्द्रगणि का उदाहरण है⁶⁶ -

लावण्यं तदसौ कान्तिस्तदूपं स वचःक्रमः।

तदा सुधास्पदमभूत् अधुना तु ज्वरो महान्॥

यहाँ ‘तदा’ तथा ‘अधुना’ इन शब्दों (वाक्यों) से घटित वाक्य से क्रमशः प्रमोद तथा वैराग्य का अतिशय द्योतित हो रहा है। यहाँ रागरञ्जित हृदय तथा विरागसंवलित चित्त की अवस्था को द्योतित करने वाले क्रमशः ‘तदा’ तथा ‘अधुना’ शब्दों से घटित होना वाक्य का वैशिष्ट्य है।

मम्मटचार्य ने उपर्युक्त आशय का एक उदाहरण प्रस्तुत किया है -

तइआ मह गंडत्थलणिमिअं दिट्ठिं ण णेसि अण्णत्तो।

एणिहं सच्चेअ अहं ते अ कवोला ण सा दिट्ठी॥

(उस समय तो तुम मेरे कपोलों से अपनी दृष्टि कहीं भी अन्यत्र नहीं ले जाते थे। और अब वही मैं, वही मेरे गाल हैं पर वे दृष्टियाँ नहीं है।)

विवरणकार⁶⁷ ने तदा, अधुना, नयसि, निमिताम् आदि पदों को साभिप्राय बताया है। इन साभिप्राय पदों से युक्त होना ही वाक्य का वैशिष्ट्य है।

5. वाच्य : - कभी-कभी वाक्यार्थ का निर्धारण वाक्यगत पदों के वाच्यों = अर्थों की विशिष्टता से होता है। एक वाक्य में इस प्रकार के कई पदार्थ भी हो सकते हैं। अनेक होते हुए भी वे एक वाक्यार्थ के अनुकूल व्यवहार करते हुए उसका उपकार करते हैं। प्रत्येक पद के वाच्य के वैशिष्ट्य द्वारा प्राप्त व्यङ्ग्य अर्थ मुख्य व्यङ्ग्यवाक्यार्थ के प्रति गौण होता है। इन्हीं वाच्यों की विशिष्टता से वक्ता का अभिप्राय अनुमित होता है-

“प्रतिपदं वाच्यस्य वैशिष्ट्यं मुख्यव्यङ्ग्यानुगुणव्यङ्ग्यान्तरमैत्री
- लक्षणं तत्सहकृतेन च वाक्यार्थेन वक्तुरभिप्राय कलनम्।”⁶⁸

काव्यप्रकाश द्वारा उद्धृत उदाहरण है⁶⁹ -

उद्देशोऽयं सरसकदलीश्रेणिशोभातिशायी ।

कुञ्जोत्कर्षाङ्कुरितरमणीविभ्रमो नर्मदायाः ॥

किञ्चैतस्मिन् सुरतसुहृदस्तन्वि ते वान्ति वाताः ।

येषामग्रे सरति कलिताकाण्डकोपो मनोभूः ॥

यहाँ नर्मदा को उद्दिष्ट करके उसके विशेषणस्वरूप कुञ्ज, वायु, कामदेव आदि वाच्य की विशेषताओं के वर्णन से जो कुछ वैशिष्ट्य द्योतित हो रहा है, उसके द्वारा 'मिलन के लिए यहाँ आओ' ऐसा अर्थ प्रतीत होता है।

इन विशेष वाच्यों के न रहने पर उपर्युक्त व्यङ्ग्यार्थ का प्राप्त होना असम्भव था। वाक्यवैशिष्ट्य से वाच्यवैशिष्ट्य का अन्तर स्पष्ट है। पहली शब्दों की तो दूसरी अर्थों की विशिष्टता है। इसी कारण से वाच्य परिवृत्ति-सह होता है - अर्थात् इन शब्दों के समानार्थक अन्य शब्दों को रख दें तो भी व्यञ्जना की हानि नहीं होगी। परन्तु वाक्यवैशिष्ट्य के घटक 'तदा' तथा 'अधुना' शब्दों के परिवर्तनमात्र से व्यङ्ग्यार्थ ही समाप्त हो जायेगा। इसी अन्तर के कारण इन दोनों का पृथक् परिगणन किया गया है।⁷⁰

6. अन्यसन्निधिवैशिष्ट्य :- अन्य की उपस्थिति से तात्पर्य है वक्ता तथा बोद्धा से अन्य किसी व्यक्ति की उपस्थिति। जिसकी उपस्थिति के वैशिष्ट्य से सामाजिकों को व्यङ्ग्यार्थ की प्रतीति हो पाती है। उदाहरण हेतु -

णोल्लेइ अणोल्लमणा अत्ता मं घरभरम्मि सअलम्मि ।

खणमेत्तं जइ संझाइ होइ ण व होइ वीसामो ॥⁷¹

(मेरी कठोर सास मुझे दिन भर सभी गृहकार्यों में फँसाये रखती है! शायद शाम को क्षणमात्र के लिए विश्राम हो अथवा वो भी न हो।)

यह वाक्य स्वैरिणी अपनी पड़ोसन से कह रही है। उसका उपपत्ति वहीं कहीं छिपा हुआ है जिसे लक्ष्य करके यह वाक्य कहा जा रहा है। उसे संकेत काल जानने की इच्छा है। उपपत्ति की उपस्थिति ही यहाँ वह विलक्षणता है जिसके कारण सामाजिकों को निम्नोक्त व्यङ्ग्यार्थ प्रतीत होता है - 'सन्ध्या हमारे मिलने का नियत समय है।'

यही व्यङ्ग्यार्थ उपनायक को वक्तृवैलक्षण्य से अवगत होता है।⁷²

यदि यहाँ जार की उपस्थिति (अन्यसन्निधि) के तत्त्व को न माने तो व्यञ्जना की प्रतीति असम्भव है। फलतः इस प्रकार के वाक्यों में अन्यसन्निधि का वैशिष्ट्य ही प्रतीयमान अर्थ का निर्धारक एवं नियन्त्रक होता है।

7. प्रस्ताव :- इसे प्रकरण, प्रसङ्ग, सन्दर्भ आदि भिन्न-भिन्न नामों से जाना जाता है। तृतीय-स्तर के वाक्यार्थ निर्धारण के सभी तत्त्वों में यह सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण तत्त्व है।

वक्ता तथा श्रोता दोनों की बुद्धि में स्थित सूचनाओं का समूह ही प्रकरण होता है।⁷³ इस प्रकार प्रकरण सर्वसमावेशी तत्त्व है - इसमें पूर्णवर्णित लगभग सभी तत्त्वों का समाहार किया जा सकता है। विवरणकार प्रस्ताव के क्षेत्र को सीमित करते हुए प्रतीत होते हैं। उनका लक्षण है -

प्रकरणं नाम प्रवर्त्तनीयस्य निवर्त्तनीयस्य वा विषयस्य वक्तृश्रोतृ-
बुद्धिस्थितता।⁷⁴

आचार्य मम्मट द्वारा प्रस्तुत उदाहरण है -

सुव्वइ समागमिस्सदि तुज्झ पिओ अज्ज पहरमेत्तेण।

एमेअ किं ति चिद्धसि ता सहि सज्जेसु करणिज्जम्।⁷⁵

(सुनते हैं कि तुम्हारे पति पहर भर में आने वाले हैं। तो सखि! ऐसे ही बैठी क्यों हो? काम काज समेट लों।)

यहाँ 'नायिका का उपपति से मिलना निश्चित है' यह सूचना रूपी प्रकरण नायिका तथा उसकी सखी दोनों की बुद्धि में स्थित है। इस प्रकरण में पति के अचानक आने की सूचना व्यञ्जित करती है कि नायिका को जार से मिलने जाना उचित नहीं है। इस प्रतीयमान अर्थ का निर्धारण तथा नियन्त्रण उपर्युक्त प्रकरण द्वारा ही होता है।

भर्तृहरि (वा०प० 2/314) द्वारा प्रकरण को शब्दार्थ-निर्णायक बताया गया है। टीकाकार पुण्यराज अत्यन्त प्रसिद्ध उदाहरण प्रस्तुत करते हैं 'सैन्धवमानय'।⁷⁶ युद्ध के प्रसङ्ग में सैन्धव का अर्थ घोड़ा तथा भोजन के प्रसङ्ग में नमक अर्थ होगा। दूसरा उदाहरण शास्त्रीय है। 'कर्तृकरणयो स्तृतीया'⁷⁷ में विभक्तियों का प्रसङ्ग है, अतः तत्सम्बद्ध कारक ही ग्रहण किये जायेंगे,

जबकि 'शब्द-वैर-कलहाभ्रकण्वमेघेभ्यः करणे' में करण का अर्थ करना है।

8. देशवैशिष्ट्य :- क्रिया विशेष के आधार के रूप में निर्दिष्ट स्थान को यहाँ देश शब्द से कहा गया है।⁷⁸ व्यङ्ग्यार्थ के प्रसङ्ग में उपयोगी होना ही देश का वैशिष्ट्य है। काव्यप्रकाशग। उदाहरण है⁷⁹ -

“अन्यत्र यूयं कुसुमावच यं कुरुध्वमत्रास्मि करोमि सख्यः।

नाहं हि दूरं भ्रमितुं समर्था प्रसीदतायं रचितोऽञ्जलिर्वः॥

यहाँ नायिका सखियों से अन्यत्र जाने का अनुरोध कर रही है। इससे वह स्थान विशेष विजन हो जायेगा - तथा इस देश के वैशिष्ट्य से यह तथ्य व्यञ्जित होता है कि 'आप लोग प्रच्छन्नकामुक को यहाँ बुला भेजें।'

दीपिकाकार का स्पष्टीकरण है कि 'अन्यत्र' आदि शब्दों से प्रतिपादित स्थान की अत्यन्त विजनता तो केवल सहायकमात्र है। व्यङ्ग्यार्थ प्रतीति का प्रधान कारण तो वक्तृवैशिष्ट्य ही है।⁸⁰

9. कालवैशिष्ट्य :- काल क्रिया के परिच्छेदक समय विशेष का वाचक है। काल की विलक्षणता भी प्रतीयमान अर्थ के निर्धारण में सहायक हुआ करती है।

कविराज विश्वनाथ द्वारा रचित उदाहरण है⁸¹ -

कालो मधुः कुपित एष च पुष्पधन्वा

धीरा वहन्ति रति खेदहराः समीराः।

केलीवनीयमपि वञ्चलकुञ्जमञ्जु

दूरे पतिः कथय किं करणीयमद्य॥

यहाँ मधुमासरूपी विशेषकाल के वैलक्षण्य से सखियों के प्रति यह अर्थ प्रतीत होता है -

‘शीघ्र ही इस स्थान विशेष में प्रच्छन्नकामुक को प्रेषित करें।’

यद्यपि यहाँ मुख्य तत्त्व तो वक्ता ही है तथापि काल भी सहायक के रूप में गिना जा सकता है।

10. चेष्टादिवैशिष्ट्य :- कारिका में गृहीत आदि पद से मम्मट ने चेष्टा तत्त्व को गृहीत किया है। चेष्टा के साथ आदिपद लगाने का तात्पर्य है कि आगे आने वाले विद्वानों के द्वारा ऊहित अन्य तत्त्व भी इनके अन्तर्गत सम्मिलित कर लिए जायँ।

चेष्टा का अर्थ विदग्धों के द्वारा की जाने वाली आङ्गिक क्रियाएँ हैं जो- अत्यन्त अभिप्राय से युक्त होती हैं।

महापात्र विश्वनाथ द्वारा उद्धृत उदाहरण है -

सङ्केतकालमनसं प्रियं ज्ञात्वा विदग्धया।

हसन्नेत्रार्पिताकूतं लीलापदमं निमीलितम्।⁸²

हासपूर्वक नेत्रों की अभिप्रायात्मक चेष्टा के साथ लीलाकमल का बन्द किया जाना उस सन्ध्या काल को अभिसार का समय सूचित कर रहा है जबकि कमल मुँद जाते हैं।

ध्यातव्य है कि यहाँ प्रिय की प्रच्छन्नता का ज्ञान अर्थात् अन्यसन्निधि भी व्यङ्ग्यार्थ की सहायक है।

(ख) वाक्यार्थ निर्धारण के तीनों स्तरों तथा तत्त्वों से सम्बन्धित नवीन उपपत्तियाँ

प्रथम-खण्ड में वाक्यार्थ-निर्धारण के दौरान विभिन्न स्तरों पर प्रयुक्त होने वाले निर्धारक तथा नियन्त्रक तत्त्वों का शास्त्रानुकूल वर्णन उपस्थापित किया गया। इन तत्त्वों के अध्ययन के प्रसङ्ग में पाया गया है कि ये प्रकृत रेलेवेंस सिद्धान्त के निर्धारक एवं सहायक सिद्ध हो सकते हैं।

द्वितीय खण्ड में उन नवीन उपपत्तियों का वर्णन किया जायेगा जो इन तत्त्वों के अध्ययन के सन्दर्भ में प्राप्त हुई हैं। इनमें कुछ नवीनता है अथवा ये नवीनतया उपस्थापित एवं वर्गीकृत हैं।

यहाँ उपर्युक्त तथ्यों का बिन्दुवार उपस्थापन किया जायेगा ताकि विषय की स्पष्टता के साथ-साथ प्रस्तुत अध्ययन के प्रमुख मन्तव्य भी स्पष्ट हो जायें। उपस्थापन की इस शैली से कुछ अंशों में पुनरुक्ति का आभास भी सम्भव है।

• रेलेवेंस सिद्धान्त तथा प्रस्तुत अध्ययन का मन्तव्य

रेलेवेंस सिद्धान्त के अनुसार सम्भाषण की प्रक्रिया में प्रयुक्त होने वाले सभी सम्प्रेषणों तथा अवबोधों के अन्तर्गत रेलेवेंस तत्त्व अनिवार्य रूप से उपस्थित होता है।

इसका तात्पर्य यह है कि वक्ता हमेशा सङ्गत वाक्य का ही सम्प्रेषण करता है तथा श्रोता उससे यथासम्भव सङ्गत अर्थ का ही अवबोध करता है। दूसरे शब्दों में सम्भाषण मात्र की प्रक्रिया रेलेवेंस तत्त्व की प्रतिभूति (Guarantee) से युक्त होती है। किसी भी वाक्य में रेलेवेंस तत्त्व है तो इसका अर्थ है कि वह रेलेवेण्ट है। इस प्रकार रेलेवेंस युक्त होने का भाव ही रेलेवेंस होता है। संक्षेप में यही सिद्धान्त के उपस्थापकों का मन्तव्य है।

सम्प्रेषण प्रक्रिया में उपर्युक्त कथना इतना स्वाभाविक है कि इसे स्वीकार करने में सम्भवतः किसी को कोई आपत्ति नहीं होगी। वस्तुतः सम्भाषण क्रिया स्वयं में साध्य नहीं होती अपितु विभिन्न जागतिक कार्यों के प्रति साधन होती है। प्रत्येक वक्ता यह इच्छा करता है कि उसके द्वारा कथित वाक्यों का ग्रहण सभी लोग उसके तात्पर्य के अनुकूल ही करें। अतः वह अपने सामर्थ्य से तक जान-बूझकर कभी ऐसी वाक्य-संरचना प्रस्तुत नहीं करता जो उसके तात्पर्यों के अवबोध में तनिक भी बाधक बने अर्थात् वह सदैव रेलेवेंस-युक्त बने रहना चाहता है। श्रोता भी चूँकि यह जानता है कि वक्ता ने उसे ध्यान में रखकर ही प्रस्तुत संरचना वाली शब्दावली का प्रयोग किया है अतः वाक्यार्थ मेरी अर्थात् श्रोता की परिस्थिति से प्रतिकूल नहीं हो सकता - अतः वाक्यार्थ अन्वेषण के समय वह भी इन्हीं तथ्यों से नियन्त्रित रहता है अर्थात् वह रेलेवेंस युक्त अर्थ को ही ग्रहण करता है। इस सिद्धान्त को स्वीकार कर लेने पर भी इससे सम्बन्धित एक मूलभूत तथ्य की ओर चिन्तन का अवकाश रह जाता है।

यह सर्वमान्य तथ्य है कि वक्ता तथा श्रोता सम्भाषण के दौरान रेलेवेण्ट होते हैं। परन्तु यह प्रश्न विचारणीय रह जाता है कि वे कौन से तत्त्व हैं, जिनका उपयोग वक्ता रेलेवेण्ट वाक्यों की संरचना में तथा श्रोता उन वाक्यों से सङ्गतिपूर्ण अवबोध में करता है?

वस्तुतः उच्चरित वाक्य से श्रोता सङ्गत अर्थ का ही ग्रहण करे इसके लिए वक्ता वाक्य की संघटना तथा इसके अतिरिक्त अनेक शाब्द तथा अशाब्द तत्त्वों को ध्यान में रखता है। श्रोता को भी सङ्गत अर्थ का अन्वेषण इन्हीं तत्त्वों के आलोक में करना होता है क्योंकि वक्ता द्वारा वाक्य इन्हीं तत्त्वों को ध्यान में रखकर संघटित किमया गया होता है। अतः संगत अर्थ की प्राप्ति के लिए ये तत्त्व अत्यावश्यक हैं।

ये तत्त्व अर्थ निर्धारण के प्रसङ्ग में श्रोता की सहायता करके उसके अवबोध सम्बन्धी मानसिक श्रम को कम करते हैं तथा अर्थ को प्रदान करते हैं अर्थात् रेलेवेंस की स्थिति को सम्भव बनाते हैं।

यदि सम्प्रेषण में रेलेवेंस की स्थिति बन रही है तो इसका अर्थ है कि निश्चित रूप से ये तत्त्व वहाँ उपस्थित हैं। इस प्रकार इन तत्त्वों के साथ वाक्यगत रेलेवेंस तत्त्व का अन्वय-व्यतिरेक सम्बन्ध है। दूसरे शब्दों में ये तत्त्व रेलेवेंस की स्थिति के कारक तत्त्व हैं।

यदि रेलेवेंस तत्त्व सम्प्रेषण की प्रतिभूति है तो उपर्युक्त तत्त्वों को भी रेलेवेंस की प्रतिभूति कहा जा सकता है। कहने का तात्पर्य यह है कि यदि सम्प्रेषण की स्थिति घटित हो रही है तो जिस प्रकार वहाँ रेलेवेंस तत्त्व को अवश्य उपस्थित माना जाता है उसी प्रकार जहाँ कहीं भी रेलेवेंस की सत्ता है वहाँ सर्वत्र ये कारक तत्त्व नियम से उपस्थित होंगे।

संक्षेप में ये तत्त्व प्रत्येक सम्प्रेषणात्मक क्रिया में निर्धारक तथा नियन्त्रक के रूप में उपस्थित होते हैं।

• सभी वाक्य निर्धारण अथवा निर्णय की अपेक्षा रखते हैं :-

भाषा में प्रयुक्त सभी वाक्यों का कुछ न कुछ अर्थावबोध अवश्य होता है। भाषा में आने वाले सभी प्रकार के वाक्य निर्धारण सापेक्ष हुआ करते हैं।

अर्थ तत्त्व अमूर्त होने के कारण स्वभावतः अस्पष्ट होता है। इन शब्दार्थों से संघटित वाक्यार्थ भी अस्पष्ट होता हुआ अनेक-स्तरीय निर्धारणों की अपेक्षा रखता है।

वाक्य से प्राप्त होने वाले अर्थ पर्याप्त बहुआयामी तथा कभी-कभी अस्पष्ट एवं सन्दिग्ध भी होते हैं। अतः उनमें से वक्ता तथा श्रोता द्वारा इष्ट अर्थ की प्राप्ति के लिए निर्धारण अनिवार्य हो जाता है।

निर्धारण के अभाव का अर्थ है वाक्यार्थ बोध का अभाव। चूँकि अवबोध का अभाव सामान्यतः बहुत कम घटित होता है अतः कहा जा सकता है कि निर्धारण की प्रक्रिया भी सर्वव्यापी प्रक्रिया है।

वाक्य अथवा अन्य किसी भी सम्प्रेषणात्मक सूचना को प्राप्त करने के बाद मनुष्य निर्धारण में लग जाता है। यह मनुष्य के मस्तिष्क की स्वाभाविक विशिष्टता है। उसके मस्तिष्क का विकास ही इसी दिशा में हुआ है। यह निर्धारण केवल किसी बाध्यता अथवा कर्तव्यता का परिणाम नहीं है।

इस प्रकार यह मत उपस्थापित होता है कि वाक्यार्थ सदैव निर्धारणीय तथा निर्णय होता है।

सामान्यतः यह समझा जाता है कि वे वाक्य जो द्व्यर्थक अथवा सन्दिग्ध शब्दों से घटित होने के कारण सन्दिग्ध होते हैं वे ही निर्णय की अपेक्षा रखते हैं। जैसे - 'श्वेतो (श्व + इतो) धावति' अथवा 'सुरभिमांसं भुङ्क्ते' आदि। परन्तु वस्तुतः ऐसा नहीं है।

इस प्रसङ्ग में हमारा प्रस्ताव यह है कि सामान्य रूप से स्पष्टार्थक दीखने वाले वाक्य, जिनमें किसी भी निर्धारण प्रक्रिया का अनुभव नहीं होता, वे भी निर्धारणीय होते हैं। जैसे 'रामः गच्छति' तथा 'सूर्योऽस्तमेति' आदि।

उदाहरण के लिए 'रामः गच्छति' में 'रामः' शब्द में प्रथम स्तर का निर्धारण अपेक्षित है। 'राम' शब्द निर्विशेष रूप में सभी राम नाम वाले व्यक्तियों का, जो भूत, भविष्यत् अथवा वर्तमान में हुए या होंगे, सबका बोध कराने लगेगा।

शब्दान्तर ('गच्छति') की सन्निधि (नामक तत्त्व) उसे वर्तमान काल में सीमित करेगा तथा 'प्रकरण' नामक तत्त्व उससे वक्ता के सम्मत अर्थ को निर्धारित करेगा।

इसी प्रकार सभी वाक्य, चाहे वे सामान्य प्रयोग में हों अथवा विशेष, सदैव निर्धारणीय होते हैं।

• वाक्यार्थ निर्धारण के तीन स्तर हैं :-

वाक्यार्थ-निर्धारण, जो कि वाक्यार्थ-बोध की वास्तविक प्रक्रिया है, तीन स्तरों पर सम्पादित होता है। अर्थ प्राप्ति के प्रसङ्ग में कोई भी वाक्य अधिक से अधिक तीन तथा कम से कम दो निर्धारणानुकूल-परिस्थितियों से अवश्य गुजरता है। इन्हीं परिस्थितियों को यहाँ 'स्तर' शब्द से कहा गया है—

ये स्तर हैं —

1. प्राथमिक स्तर।
2. द्वितीय स्तर।
3. तृतीय स्तर।

इन स्तरों पर निर्धारण के फलस्वरूप प्राप्त अर्थ की प्रकृति भिन्न होती है, इसलिये उन्हें भिन्न प्रकारों में रखा गया है। भारतीय अर्थ-वैज्ञानिकों ने इन्हीं स्तरों को क्रमशः — 1. वाच्यार्थ से सम्बद्ध, 2. लक्ष्यार्थ से सम्बद्ध तथा 3. व्यङ्ग्यार्थ से सम्बद्ध माना है तथा इन स्तरों की प्रक्रियाओं में प्रयुक्त होने वाली शक्तियों को भिन्न-भिन्न स्वीकारा है। इन्हें शब्द-शक्ति नाम दिया गया है जो क्रमशः अभिधा, लक्षणा तथा व्यञ्जना हैं। इन्हें भिन्न-भिन्न मानने में कारण उनके कार्य (=प्राप्त अर्थों) की विलक्षणता है। इसके अतिरिक्त यह स्वाभाविक बात है कि एक प्रकार की शक्ति एक प्रकार का कार्य करके क्षीण हो जाती है — “शब्दबुद्धिकर्मणां विरम्य व्यापाराभावः”¹³

इन तीन परिस्थितियों के लिए वाक्यों के अलग-अलग प्रकार नहीं हैं, बल्कि भाषागत कोई भी वाक्य अपने अर्थ-निर्धारण के लिए इन तीनों ही परिस्थितियों के अन्तर्गत आ सकता है।

• इन स्तरों के विभाजन का आधार प्राप्त अर्थों की विलक्षणता है :-

कार्य प्रायः कारण का अनुमापक होता है। कार्य की विलक्षणता से कारण की विलक्षणता लक्षित होती है। ‘कारणगुणा हि कार्यगुणान् प्रारभन्ते’¹³⁴ यह न्याय प्रसिद्ध है जो इसी आशय को स्पष्ट करता है। इस प्रसङ्ग में उपर्युक्त तीनों स्तरों पर घटित होने वाली प्रक्रियाएँ कारण हैं तथा उनसे प्राप्त अर्थ कार्य

हैं। वाक्य से अवबोध की प्रक्रिया के दौरान प्राप्त होने वाले अर्थों की प्रकृति परस्पर भिन्न होती है। अर्थों की यह विभिन्नता ही इनकी प्रक्रियाओं तथा इन प्रक्रियाओं की स्थितियों के भेद का अनुमान कराती है। इन तीन प्रकार के वाक्यार्थों में दृष्ट विलक्षणता आगे स्पष्ट की जा रही है -

(क) पहले स्तर पर प्राप्त वाक्यार्थ (वाच्यार्थ) संज्ञेत से गृहीत होता है। क्योंकि इसमें निर्धारण पद के स्तर पर होता है। पद संकेत से गृहीत होते हैं। संकेतित होने के कारण यह अर्थ वाक्य के आर्थ-प्रतिरूपण के बहुत निकट होता है।

(ख) द्वितीय स्तर पर प्राप्त वाक्यार्थ (=लक्ष्यार्थ) प्रथम स्तरीय वाक्यार्थ के साथ किसी न किसी सम्बन्ध विशेष से अवश्य युक्त होता है। वाच्यार्थ के साथ सम्बद्धता ही उसका निर्धारक होती है।

यह अर्थ प्रथम स्तरीय निर्धारण का परिबृंहण (Extention) मात्र है। यह उसका पूरण तथा पोषण करके वाच्यार्थ को व्यर्थ होने से बचाता है। इसी अभिप्राय से लक्षणा को अभिधा का पुच्छभूत कहा गया है।

(ग) तृतीय स्तरीय वाक्यार्थ (व्यङ्ग्यार्थ) सामान्यतः प्रथम अथवा द्वितीय स्तरीय वाक्यार्थ से असम्बद्ध हुआ करता है। संज्ञेतित अर्थ से इसका अविनाभूत सम्बन्ध कदापि नहीं होता। इस में वाक्य के आर्थ-प्रतिरूपण से सबसे अधिक विचलन दिखाई पड़ता है।

संक्षेप में ये तीनों ही अर्थ वाक्य के आर्थ-प्रतिरूपण की दृष्टि से उत्तरोत्तरदूर होते जाते हैं। यही इनके मध्य भेद का आधार है।

(क एवं ख) प्रथम तथा द्वितीय स्तर पर प्राप्त वाक्यार्थ सामान्यतः निश्चित तथा एक होता है। इसका प्रमुख कारण यह है कि प्रथम स्तरीय वाच्यार्थ संकेतित होता है तथा संकेत-ग्रह निश्चित अर्थ में ही होता है। द्वितीय अर्थ भी प्रथम अर्थ का पूरक मात्र होता है, अतः वह भी प्रायः निश्चित होता है।

(ग) तृतीय-स्तर पर प्राप्त होने वाले वाक्यार्थ (व्यङ्ग्यार्थ) अनियत तथा बहुआयामी हो सकते हैं।

इसका प्रमुख कारण है इसका संकेतित अर्थ से नितान्त पृथक् तथा प्रतीयमान होना।

• इन स्तरों में प्रयुक्त प्रक्रियाओं में भी विभिन्नताएँ हैं :-

अर्थों की विलक्षणता के अतिरिक्त इन स्तरों का एक प्रमुख भेदक तत्त्व है - इन स्तरों पर प्रयुक्त होने वाली प्रक्रियाओं की प्रकृति में भेद। प्रत्येक स्तर पर निर्धारित होने वाले अर्थ की प्राप्ति की प्रक्रियाएँ भिन्न-भिन्न होती हैं। प्रक्रियाओं के मध्य भेद को प्रदर्शित करने वाले निम्नाङ्कित बिन्दु नीचे दिये जा रहे हैं -

(क) प्रथम-स्तर पर प्राप्त होने वाले अर्थ का निर्धारण वाक्यगत पदों को लक्ष्य बनाता है। यद्यपि प्राप्त होने वाला वाक्यार्थ अखण्डात्मक ही होता है तथापि अर्थावबोध की प्रक्रिया में बुद्धि प्रत्येक पद को लक्ष्य बनाकर उनका निर्धारण करती है।

(ख) द्वितीय स्तर के निर्णय की अपेक्षा का अनुभव तभी होता है जब प्राथमिक वाक्यार्थ प्राप्त हो गया हो तथा उससे वक्ता का तात्पर्य पूरा नहीं हो पा रहा हो। फिर भी द्वितीय स्तर की प्रक्रिया बाधित वाक्यार्थ के केवल उस अंश को विषय बनाती है जिस अंश में बाध हो रहा हो अर्थात् जो अंश अनुपपत्तिजनक हो। उदाहरणार्थ - 'गङ्गायां घोषः' में गङ्गा पदार्थ की घोष पदार्थ के साथ तात्पर्य अनुपपन्न है, अतः द्वितीय निर्धारण का विषय वही अंश होगा, पूरा वाक्य नहीं क्योंकि उसका निर्धारण तो प्रथम स्तर की प्रक्रिया में ही हो गया है।

यद्यपि वाक्यार्थ अखण्ड होता है तथा अनुपपत्ति सम्पूर्ण वाक्यार्थ की ही होती है तथापि प्रक्रिया की सरलता हेतु अखण्ड वाक्यार्थ में भी अंशों की कल्पना कर ली जाती है।

(ग) तृतीय स्तरीय निर्धारण की प्रक्रिया सम्पूर्ण वाक्यार्थ को विषय

बनाती है। यह वाक्यार्थ प्रथम तथा द्वितीय दोनों निर्धारण प्रक्रियाओं से स्पष्ट तथा अबाधित रूप में प्राप्त होना चाहिए।

संक्षेप में, द्वितीय प्रक्रिया वाक्यार्थ को अंशतः विषय बनाती है जबकि प्रथम तथा तृतीय पूर्णतः। इसमें भी प्रथम प्रक्रिया पदशः विषय बनाती है जबकि तृतीय सम्पूर्णतया।

(क-ख) प्रथम तथा द्वितीय स्तर के निर्धारण की आवश्यकता तथा इसकी प्रक्रिया का भान प्रायः श्रोता को हो जाता है। क्योंकि प्रथम स्तर में शब्दार्थ निर्धारण होता है तथा द्वितीय स्तर में वाक्यार्थगत अनुपपन्नता का निरसन किया जाता है। वाक्यार्थ-लाभ नहीं होने के कारण श्रोता इसकी प्रक्रिया के प्रति सचेतन तथा प्रेक्षणशील रहता है।

(ग) तृतीय स्तरीय निर्णय प्रतिभात्मक तथा प्रतीयमान होता है। इसकी प्रक्रिया तथा सहायक तत्त्वों का भान प्रायः वाक्यार्थ निर्णय के अनन्तर ही हो पाता है।

इसका कारण सम्भवतः यह है कि पूर्वोक्त दो प्रक्रियाओं से निर्बाध वाक्यार्थ की प्राप्ति के अनन्तर श्रोता प्रक्रियाओं से किञ्चित् निश्चिन्त सा हो जाता है।

(क) प्रथम-स्तरीय निर्णय की प्रक्रिया श्रोता द्वारा सुने गये वाक्य को विषय बनाती है, अतः प्राथमिक वाक्यार्थ वाक्य से लभ्य होता है।

(ख-ग) द्वितीय अथवा तृतीय स्तर की प्रक्रिया वाक्य को नहीं बल्कि वाक्यार्थ को विषय बनाती है। द्वितीय तथा तृतीय स्तरीय वाक्यार्थ प्रथम स्तरीय वाक्यार्थ से निर्धारित या निर्णीत किया जाता है।

वाक्यार्थ-गत निर्णय होने पर भी द्वितीय तथा तृतीय स्तरीय निर्णय के लिए 'वाक्य-गत निर्णय' शब्द का प्रयोग औपचारिक है - वास्तविक नहीं।

• प्रथम तथा तृतीय स्तरीय निर्णय सार्वत्रिक तथा द्वितीय स्तरीय निर्णय कादाचित्क होता है :-

इन निर्णयों में से प्रथम तथा तृतीय स्तरीय निर्णय का अनुभव प्रत्येक

वाक्य करता है, जबकि द्वितीय स्तरीय —निर्धारण कुछ विशेष प्रकार के वाक्यों तक सीमित होता है।

जैसा कि ऊपर वर्णन किया गया - प्रथम स्तरीय निर्धारण वाक्य के पदों को विषय बनाता है। वाक्यार्थ पदार्थ निर्धारण के अनन्तर स्फुटित स्फुरित होता है। फलतः पदार्थ-निर्धारण के स्तर (प्रथम स्तर) का अनिवार्य होना स्वाभाविक है।

द्वितीय स्तर के का निर्धारण तब होता है जब प्रथमस्तरीय निर्धारण से प्राप्त वाक्यार्थ वक्ता के तात्पर्य की पूर्ति में समर्थ नहीं हो पाता तथा आकाङ्क्षा अक्षुण्ण रह जाती है। वाक्य की निरर्थकता से बचने के लिए श्रोता द्वितीय स्तरीय निर्धारण की ओर उन्मुख होता है। परन्तु सभी प्रकार के वाक्यों में इस प्रकार का बाध नहीं होता। यह बाध तभी अनुभूत होता है जब वक्ता स्वयं किसी प्रयोजन विशेष को ध्यान में रखकर वाक्य की ऐसी संघटना प्रस्तुत करता है। चूँकि बाध सार्वत्रिक नहीं है अतः उसकी उपपत्ति हेतु प्रयुक्त होने वाला निर्धारण भी सार्वत्रिक नहीं हो सकता।

द्वितीय-निर्धारण केवल अनुपपन्न हो रहे वाक्यांश को अपना विषय बनाता है सम्पूर्ण वाक्य को नहीं। यह प्रक्रिया तो प्रथम स्तरीय निर्धारण की सहायक मात्र है, वह भी केवल आवश्यकता पड़ने पर।

तृतीय-निर्धारण प्रथम की तरह सभी वाक्यों को विषय बनाता है। वक्ता द्वारा प्रयुक्त वाक्य के अनेक निहितार्थ बहु-आयामी हो सकते हैं। वह जितने तथ्य अभिहित करता है उनसे कहीं अधिक तथ्य सूचित करना चाहता है। यह भाषा की विशिष्टता है कि वह उसकी कही गई बातों के साथ अनकही (परन्तु अभिप्रेत) बातों को भी श्रोता के प्रति प्रकट कर देती है। प्रत्येक भाषिक वाक्य में अभिहित तथ्यों के अतिरिक्त सूचित अभिप्राय भी सम्मिलित होते हैं। इन अभिप्रायों की उपलब्धि के लिए वाक्यार्थ सम्बन्धी तृतीय निर्धारण को सार्वत्रिक मानना आवश्यक है।

ये अभिप्राय पूर्वतन वाक्यार्थों से रूप तथा अर्थ दोनों दृष्टियों से भिन्न होते हैं इन अभिप्रेत निहितार्थों के निर्धारण के लिए तृतीय स्तरीय प्रक्रिया को सार्वभौम मानना आवश्यक प्रतीत होता है।

- प्रत्येक स्तर पर घटित होने वाले निर्धारणों को सम्भव बनाने वाले कुछ कारक तत्त्व हैं :-

वाक्य को सुनकर श्रोता विभिन्न स्तरों पर वाक्यार्थ का निर्धारण करता है। क्रियामात्र के लिए कुछ साधनों की आवश्यकता होती है। निर्धारण क्रिया में भी अनेक तत्त्व साधन बनते हैं। प्रत्येक स्तर पर भिन्न प्रकृति के तत्त्व प्राप्त होते हैं। इसी भेद के कारण वाक्यार्थों की भिन्नता उपपन्न हो जाती है। ये तत्त्व ही निर्धारणों की दिशा को तय करते हैं।

अध्याय के प्रथम खण्ड में इन तत्त्वों का वर्णन किया जा चुका है।

प्रथम स्तरीय निर्धारण में उन तत्त्वों का परिगणन किया गया है जो मुख्यतया शब्दों के वैशिष्ट्य तक सीमित हैं, उदाहरणार्थ शब्दों का पारस्परिक संयोग, उनमें विरोध आदि। कारण नितान्त स्पष्ट है। प्रथम स्तरीय निर्धारण वाक्यगत शब्दों को ही अपना विषय बनाते हैं, अतः इन तत्त्वों का मात्र शब्दों से सम्बद्ध होना स्वाभाविक है।

द्वितीय स्तर पर स्वीकृत निर्धारण के तत्त्व सम्बन्धात्मक हैं। प्रथम स्तर पर प्राप्त वाक्यार्थ की बाधा (प्रथम एवं द्वितीय स्तरीय वाक्यार्थ के बीच) जिस किसी सम्बन्ध को मानने से समाहित हो जाती है वे ही सम्बन्ध द्वितीय स्तरीय निर्धारण की प्रक्रिया में कारक तत्त्व माने गये हैं। यह सम्बन्ध मुख्यार्थ तथा लक्ष्यार्थ के मध्य का सम्बन्ध होता है। इनका वर्णन भी पूर्वोक्त अंश में किया जा चुका है।

तृतीय स्तर की प्रक्रिया से गुज़रने वाला वाक्यार्थ न तो अस्पष्ट होता है और न ही अनुपपन्न। इस स्तर पर प्रयुक्त होने वाले तत्त्व विशिष्टता के रूप में विद्यमान होते हैं अर्थात् यदि उनकी उपस्थिति हो तो व्यङ्ग्यार्थ प्राप्त हो जाता है अन्यथा पूर्वतन प्राप्त वाक्यार्थ की कोई भी हानि नहीं होती।

ये तत्त्व ही इन निर्धारणों के कारण हैं। यदि वाक्यार्थ-निर्धारण हो रहा है तो इसका तात्पर्य है कि इन तत्त्वों की सक्रिय उपस्थिति वहाँ अवश्यमेव है। चूँकि ये त्रिस्तरीय अर्थ सभी प्रकार के भाषिक-सम्प्रेषणों में प्राप्त होते हैं अतः ये तत्त्व भी यथासम्भव सभी भाषिक प्रक्रियाओं में अन्वयव्यतिरेक सम्बन्ध से उपस्थित रहते हैं।

• उपर्युक्त तत्त्वों के कार्य दो प्रकार के हैं :-

इन तत्त्वों के कार्यों को दो प्रकार का मान सकते हैं - 1. निर्धारण एवं 2. नियन्त्रण।

निर्धारण इनका विध्यात्मक कार्य है जबकि नियन्त्रण निषेधात्मक।

ये तत्त्व वाक्य के अर्थ की पहचान (निर्णय) करने में श्रोता की सहायता करते हैं ताकि वह सरलता से शीघ्रातिशीघ्र वक्ता के अभिप्रेत अर्थ को प्राप्त कर सके। यह इनका विध्यात्मक कार्य है।

निर्धारण करने के द्वारा ये तत्त्व श्रोता की आकाङ्क्षा को पूर्ण कर देते हैं फलतः वह अन्य सम्भावित अर्थों की ओर व्यर्थ भटकने से नियन्त्रित हो जाता है। यह इन तत्त्वों का निषेधात्मक कार्य है।

इन दोनों कार्यों को हम एक ही व्यापार के दो पहलू भी मान सकते हैं। प्रथम कार्य (अर्थात्-निर्धारण) को ये तत्त्व अपनी विशिष्टता से तथा द्वितीय कार्य (अर्थात्-नियन्त्रण) को वे अपनी कृतकार्यता के भान मात्र से कर देते हैं। अर्थात् जब श्रोता को अनुभव हो जाता है कि वे तत्त्व अपना कार्य कर चुके हैं तब वह निराकाङ्क्ष होकर अतिरिक्त व्यर्थ प्रयासों से विरत हो जाता है।

• ये तत्त्व यथासम्भव मिलकर कार्य करते हैं :-

स्तरीय निर्धारणों में ऐसा कदापि नहीं होता कि किसी कार्य को कोई तत्त्व अकेला सम्पादित कर रहा हो। प्रत्येक निर्धारण में एकाधिक तत्त्व सहायक होते हैं।

इसका कारण है कि इनमें से अधिकतर तत्त्वों की प्रकृति ऐसी है कि वे हमेशा वाक्यगत निर्धारणों में उपस्थित रहते हैं। उदाहरणस्वरूप प्रथमस्तरगत निर्धारण में प्रकरण, शब्दान्तरसन्निधि आदि तत्त्व कभी भी वाक्यार्थ बोध के दौरान अनुपस्थित नहीं हो सकते।

जिस तत्त्व की सहकारिता सर्वाधिक होती है सामान्यतः वाक्यार्थ निर्णय में उसी का उपयोग मान लिया जाता है।⁸⁵ परन्तु इसका तात्पर्य यह नहीं कि अन्य तत्त्व वहाँ अनुपस्थिति होते हों। तात्पर्य केवल इतना है कि दूसरे तत्त्व वहाँ

गौण होते हैं। जितने ही अधिक तत्त्व मिलकर कार्यरत होंगे वाक्यार्थ बोध उतना ही शीघ्र तथा स्पष्ट होगा।

यहाँ ध्यातव्य है कि द्वितीय स्तरीय निर्धारण के सम्बन्ध में यह बात लागू नहीं है। इस स्तर पर ये तत्त्व सम्बन्धात्मक माने गये हैं तथा वाक्यार्थ और लक्ष्यार्थ में केवल एक सम्बन्ध मानने से ही उपपत्ति हो जाती है अतएव अन्य सम्बन्ध नहीं माने जाते। इस प्रकार द्वितीय निर्धारण के प्रसङ्ग में एक ही तत्त्व को पर्याप्त माना जाता है तथा अन्य में एकाधिक।

- वाक्यार्थ निर्धारण में इनकी उपस्थिति तथा अनुपस्थिति का अर्थ क्रमशः इनकी ज्ञातता तथा अज्ञातता है :-

ऐसा नहीं कहा जा सकता कि वाक्यार्थ निर्धारण के प्रसङ्ग में इन तत्त्वों की कभी अनुपस्थिति होती हो क्योंकि इन कारक तत्त्वों में से कई तत्त्व ऐसे हैं जिनकी अनुपस्थिति सम्भाषण के दौरान असम्भव है। उदाहरण के लिए प्रथम स्तर पर प्रकरण तथा पदान्तर सन्निधि एवं तृतीय स्तर पर वक्ता, बोद्धव्य, वाक्य तथा प्रस्ताव है।

फिर भी यदि बोद्धा इनमें से कुछ के अभाव का अनुभव कर रहा है तो इसका तात्पर्य है कि ये तत्त्व उपस्थित हैं परन्तु उसे इसकी जानकारी नहीं है। ये तत्त्व यदि शब्दतः उपात्त नहीं हैं तो भी आक्षिप्त कर लिये जाते हैं।

तात्पर्य यह है कि ये तत्त्व उपस्थिति मात्र से ही सहायक नहीं हो जाते हैं बल्कि बोद्धा को इनकी उपस्थिति का ज्ञान भी होना चाहिए। वस्तुतः - ज्ञातता की यह शर्त सभी शाब्द सम्प्रेषणों में लागू होती है। आचार्य भर्तृहरि ने भी इसकी ओर सङ्केत किया है।⁸⁶

दूसरे शब्दों में यह कहा जा सकता है कि - 'सम्प्रेषण की सफलता इनकी उपस्थिति की ज्ञातता तथा विफलता इसकी अज्ञातता पर निर्भर है।'

हम तत्त्वों तथा सम्प्रेषण की सफलता के मध्य अन्वय-व्यतिरेक नहीं दिखा सकते क्योंकि इन तत्त्वों का नितान्त व्यतिरेक असम्भव है।

यहाँ ध्यातव्य है कि सम्प्रेषण की असफलता का तात्पर्य है 'मानसिक श्रम का अधिक व्यय होना तथा उसकी अपेक्षा सूचनाओं की अल्पतर सम्प्राप्ति।'

इन तत्त्वों की ज्ञातता से मानसिक प्रक्रिया में कमी आकर सूचना प्राप्ति का अनुपात बढ़ जाता है, फलतः सम्प्रेषण सफल अर्थात् रेलेवेंस युक्त हो जाता है।

• इन स्तरों तथा इन पर प्रयुक्त कारक-तत्त्वों से श्रोता तथा वक्ता दोनों परिचित होते हैं:-

सम्प्रेषण की घटना का तात्पर्य है वक्ता तथा श्रोता के मध्य आत्यन्तिक सामानाधिकरण्य। 'सामानाधिकरण्य का तात्पर्य है बुद्धिगत सूचनाओं के स्तर पर दोनों का पारस्परिक ज्ञान'। विभिन्न स्तरों पर घटने वाली प्रक्रियाएँ तथा उनमें प्रयुक्त होने वाले तत्त्वों का प्रत्यभिज्ञान ही सम्प्रेषण के स्तर पर बुद्धिगत सूचनाएँ हैं।

ये सभी सम्भव स्तर, इनकी प्रक्रियाएँ तथा कारक तत्त्व न केवल श्रोता को अपितु वक्ता को भी सञ्ज्ञात होते हैं।

वास्तविकता तो यह है कि इन तथ्यों का ज्ञान वक्ता को ही पहले होता है। श्रोता तो बाद में निर्धारण करते समय ज्ञानपूर्वक इनका उपयोग करता है।

वाक्य का संगत अर्थ प्रायः वक्तृसम्मत ही होता है। वक्ता द्वारा अभिप्रेत अर्थ की प्राप्ति सम्प्रेषण की सफलता है। श्रोता के अर्थावबोध की दिशा वक्ता के अभिप्राय (intention) द्वारा ही निर्देशित होती है, अतः स्वाभाविक ही है कि श्रोता अनुमानपूर्वक उन्हीं प्रक्रियाओं तथा तत्त्वों का प्रयोग करता है, जिन्हें वह वक्ता द्वारा प्रयुक्तपूर्व समझता है। यदि श्रोता इन स्थितियों का प्रयोग करके विभिन्न अर्थों को प्राप्त करता है तो यह मानना पड़ेगा कि वे सभी वक्ता द्वारा भी अनुमत तथा अभिप्रेत रहे होंगे।

दोनों के द्वारा इन प्रक्रियाओं के ग्रहण तथा अवधारण का क्रम एवं काल अवश्य भिन्न-भिन्न होता है। वक्ता उच्चारण से पूर्व इन परिस्थितियों का अनुभव मानसिक धरातल पर करके ही वाक्य को ध्वनि रूप देता है। श्रोता इसी वाक्य को सुनने के बाद इन तथ्यों से अवगत हो पाता है।

अर्थवैज्ञानिकों द्वारा भाषा का विश्लेषण चूँकि प्रायः श्रोता की दृष्टि से किया जाता है अतः इन प्रक्रियाओं तथा तत्त्वों का वर्णन यहाँ भी श्रोता की ही अपेक्षा से किया जा रहा है।

• इन सभी तत्त्वों की व्याप्ति सभी प्रसङ्गों में नहीं होती :-

यद्यपि सम्प्रेषण के प्रत्येक स्तरीय निर्धारण में उपर्युक्त तत्त्वों की उपस्थिति नियमतः मानी गयी है —परन्तु इसका तात्पर्य यह नहीं है कि इन सभी तत्त्वों की उपस्थिति एक साथ होती हो। उपर्युक्त कारक तत्त्वों में से कुछ तो सदैव उपस्थित रहने वाले होते हैं जबकि कुछ तत्त्व प्रकरणाधीन होते हैं। उदाहरणार्थ प्रथमस्तरीय निर्धारण में संयोगविप्रयोगादि कारक तथा तृतीय स्तरीय में काकु-अन्यसन्निधि-देश कालादि वैशिष्ट्य रूप कारक सदैव उपस्थित नहीं होंगे। इनके लिए विशेष प्रसङ्ग आवश्यक हैं।

इस प्रकार इन कारकों का सहावस्थान नियत हो यह आवश्यक नहीं। वे तो गौण-मुख्य भाव से सम्बद्ध होते हैं। अतः यथासम्भव उनकी उपस्थिति मुख्य कारक के लिए सहायक होती है - नितान्त अनिवार्य नहीं।

• अनुपात्त होने की अवस्था में ये तत्त्व अध्याहियमाण-शब्द को भी नियन्त्रित करते हैं :-

उपर्युक्त कारक तत्त्व आवश्यक नहीं कि वाक्य में शब्दतः कथित ही हों। वे आक्षेप लभ्य अथवा अनुमान गम्य भी हो सकते हैं। यदि उनका तात्पर्य वहाँ उपस्थिति हो रहा हो अर्थात् यदि उनके आक्षेप के बिना कार्य सिद्धि असम्भव लग रही हो तो उनका आक्षेप किया ही जाता है।

शब्दतः कथित न होने की स्थिति में ये तत्त्व उस अध्याहृत शब्द को भी निर्धारित करते हैं जिसका अध्याहार करके वाक्य को सम्पूर्ण करना होता है।

उदाहरण के लिए शीतकाल रूपी काल तत्त्व अनुमेय है तथा वक्ता 'द्वारम्' का उच्चारण करता है इस अवस्था में 'पिधेहि' शब्द के अध्याहार का निर्धारण काल तत्त्व के ही द्वारा होता है। इसी 'द्वारम्' का उच्चारण वक्ता यदि ग्रीष्मकाल में करे तो जोड़ा जाने वाला पद 'उद्घाटय' होगा।

• कारक-तत्त्वों की अनपेक्षा :-

हम दैनन्दिन जीवन में वाक्य बोलते हैं तथा सुनते हैं परन्तु प्रायः ऐसा प्रतीत होता है जैसे हमें इनकी बिल्कुल आवश्यकता नहीं है। वाक्य सुनने के बाद प्रायः हम शब्दशः विचार तथा विभिन्न तत्त्वों का प्रयोग करके निर्धारण नहीं करते। हमें तो शीघ्र ही अर्थावबोध हो जाता है तथा क्रमिक प्रक्रिया का भान भी नहीं होता।

यद्यपि इन तत्त्वों की प्रक्रिया का भान नहीं होता तथापि वास्तविकता यह है कि प्रक्रियात्मक अवान्तर व्यापार की सत्ता तो होती ही है। 'शतदलपत्र-भेदन्याय' से सम्प्रेषण अतिशीघ्र होने के कारण हमें इस प्रक्रिया का अवधारण नहीं हो पाता। इसके कई कारण इङ्गित किये जा सकते हैं -

(क) श्रोता तथा वक्ता के मध्य अवबोध के स्तर पर साझेदारी इतनी पूर्ण तथा विश्वस्त होती है कि श्रोता का भटक पाना प्रायः असम्भव होता है।

वक्ता तथा श्रोता दोनों ही सम्प्रेषण की क्रिया में सफल होना चाहते हैं। वक्ता की सफलता श्रोता को स्वसम्मत अर्थ सम्प्रेषित कर देने में जबकि श्रोता की सफलता वक्तुसम्मत अर्थ प्राप्त कर लेने में होती है। वस्तुतः वे दोनों समान कार्य में लगे होते हैं। उनकी क्रियाओं में पार्थक्य कदापि नहीं किया जा सकता। दोनों के मध्य इस प्रकार का सामानाधिकरण्य सम्प्रेषण जैसी जटिल प्रक्रिया को इतना सरल बना देता है कि उसमें अवान्तर व्यापार का क्रम अदृश्य सा हो जाता है।

(ख) श्रोता का लक्ष्य वाक्यार्थ-अवबोध होता है न कि उसकी प्रक्रिया का अवबोध। सम्भवतः इसलिए भी (गौण) प्रक्रियाओं की ओर से श्रोता उदासीन सा हो जाता है और उसका ध्यान इसकी ओर कम जाता है।

इन उपर्युक्त तथ्यों के विपरीत हम देखते हैं कि यदि श्रोता तथा वक्ता के मध्य सामानाधिकरण्य किसी भी कारण से अव्यवस्थित होता है तो श्रोता इन कारकों पर विशेषतया विचार करने लगता है।

इस प्रकार यदि इन तत्त्वों की आवश्यकता अनुभूत नहीं हो रही है तो इसका तात्पर्य यह नहीं कि वे अनुपस्थित हैं। वे वहाँ इतनी अच्छा प्रकार से ज्ञात हैं कि तुरन्त अपना फल अर्थात् वाक्यार्थ देकर कृतकृत्य हो जाते हैं। यदि उनकी आवश्यकता अनुभूत नहीं है तो यह सम्प्रेषण प्रक्रिया के लिए इष्ट्यपत्ति ही है।

इन तथ्यों को ध्यान में रखकर यह नियम प्रस्तुत किया जा सकता है—

‘इन प्रक्रियाओं तथा कारक तत्त्वों की आवश्यकता का श्रोता जितना कम अनुभव करता है सम्प्रेषण उतना ही सफल तथा सुगम होता है।

इन कारक तत्त्वों की आवश्यकता का अधिक अनुभव सम्प्रेषणगत बाधाओं को सूचित करता है।’

ये कारक जितने ही स्पष्ट तथा ज्ञात होंगे उतने ही अनपेक्षित भी। इनकी स्पष्टता से श्रोता को मानसिक-प्रक्रिया कम करनी पड़ती है जिससे सम्प्रेषण तथा रिलेवेंस सफल हो जाते हैं।

• ये तत्त्व काव्य तथा लोक उभयसाधारण हैं :-

काव्यशास्त्रियों ने तृतीय स्तर में उपयुक्त होने वाले तत्त्वों के उदाहरण केवल काव्य से सम्बन्धित प्रस्तुत किये हैं। इसका अर्थ यह नहीं है कि ये तत्त्व लौकिक वाक्यों के अर्थ निर्धारण में सहायक नहीं होते।

काव्यशास्त्र में ध्वन्यर्थ का निर्धारण चूँकि सदैव तृतीय स्तर पर होता है, अतः प्रकृत में उपयोगी होने के कारण उदाहरण केवल काव्यात्मक दिये गये हैं। अन्यथा ये तत्त्व सभी प्रकार के वाक्यों में उपयोगी हैं, चाहे वह वाक्य काव्यात्मक हो अथवा अकाव्यात्मक।

• इन कारकों के वर्णन में प्रचुरता, व्यापकता तथा सूक्ष्मता भारतीय शास्त्रकारों की विशिष्टता है, यह बिन्दु प्रस्तुत प्रबन्ध के निष्कर्ष का प्रमुख घटक है।

(क) प्रथमस्तरीय-निर्धारण के तत्त्व

ऊपर स्पष्ट किया जा चुका है कि वाक्य में होने वाले तीन प्रकार के निर्धारणों में से प्रथमस्तरीय निर्धारण वाक्यगत शब्दों को अपना विषय बनाता है। वाक्य सुनते समय श्रोता सबसे पहली सार्थक इकाई शब्द को ही सुनता है तथा शब्द के क्रम से ही पूरे वाक्य का श्रवण हो पाता है। अतः स्वाभाविक ही है कि सबसे पहले घटित होने वाले निर्धारण के विषय शब्द ही बनें।

यद्यपि प्रथम निर्धारण में प्रयुक्त तत्त्व शब्दों को विषय बनाते हैं, तथापि उनका लक्ष्य सदैव वाक्यार्थ ही होता है — शब्दार्थ नहीं। यह तो श्रोता की अशक्ति है कि वह सम्पूर्ण वाक्यार्थ का ग्रहण युगपत् नहीं कर पाता।⁸⁷

भाषा के सभी वाक्यों को प्रथम स्तरीय निर्धारण की आवश्यकता पड़ती है। श्रोता चूँकि शब्दार्थ को जान कर ही वाक्यार्थ ज्ञान करता है, अतः इस स्तर का सार्वभौम होना नितान्त स्वाभाविक है। वाक्यस्थ प्रत्येक शब्द चाहे वह स्पष्टार्थक हो अथवा अस्पष्टार्थक प्रथम स्तर पर प्रयुक्त होने वाले तत्त्वों के द्वारा उसका निर्धारण अवश्य होता है।

वाक्य में प्रयुक्त शब्दों को दो प्रकारों में बाँट जा सकता है, 1. अस्पष्टार्थक तथा 2. स्पष्टार्थक। पहले प्रकार के शब्द वे हैं जिनके अर्थ स्पष्ट नहीं होते। अर्थात् परिस्थितियों की विभिन्नता के कारण जिनमें अनेक अर्थ सम्भव हो सकते हैं। यह अस्पष्टता अनेक कारणों से हो सकती है। उदाहरणार्थ शब्द का अनेकार्थक होना, अन्वय (=वाक्य संरचना) में शब्द का यथोचित स्थान पर न आना, शब्द का सन्दिग्धार्थक होना एवं सन्धि या समास के कारण शब्द के स्वरूप का भान न हो पाना आदि।

इन प्रसङ्गों में अस्पष्टता की कई कोटियाँ हो सकती हैं —

1. श्रोता एक शब्द के अनेक अर्थ युगपत् सम्भावित कर सकता है।
2. श्रोता को अनेक अर्थों की अनिश्चित सम्भावना भी हो सकती है।
3. श्रोता को मिथ्या अर्थ का निश्चय हो सकता है।

उपर्युक्त प्रथम स्तरीय तत्त्व इन सभी प्रकार की अनिश्चितताओं, अस्पष्टताओं तथा सन्दिग्धताओं को दूर करके अर्थ का निर्धारण करते हैं।

अध्याय के प्रथम खण्ड में उदाहृत संयोग, विप्रयोग, साहचर्य, विरोध, अर्थ तथा लिङ्ग के उदाहरणों में यह बात सुतरां स्पष्ट हो जाती है।

वाक्य में इन अस्पष्ट तथा सन्दिग्ध शब्दों का प्रयोग सामान्यतः अल्प मात्रा में होता है। अस्पष्टता के कारण 'में' शब्दों की स्वाभाविक प्रकृति, वक्ता का अनैपुण्य, श्रोता का अज्ञान आदि मुख्य हैं। इसके अतिरिक्त इस प्रकार के प्रयोग से अतिरिक्त अर्थ पाने का योजन भी इस आभासी अस्पष्टता का कारण हो सकता है। वाक्य में प्रयुक्त दूसरे प्रकार के शब्दों का सामान्य अर्थ प्रायः स्पष्ट होता है। उदाहरण हेतु - 'राम जाता है' में 'राम' शब्द। साधारण परिस्थिति में यह शब्द राम व्यक्ति का ही अर्थ देता है। इनमें प्रथमदृष्ट्या निर्धारण की आवश्यकता का अनुभव नहीं होता।

परन्तु वस्तुतः निर्धारण की प्रक्रिया मानवीय संज्ञानात्मक व्यापार की स्वाभाविक प्रक्रिया है। इसके लिए आवश्यक नहीं कि प्रत्येक वाक्य अस्पष्टार्थकता अथवा सन्दिग्धार्थकता आदि समस्याओं से अनिवार्यतः युक्त हो। निर्धारण की प्रक्रिया सार्वभौम है अतः इसे समस्यायुक्त वाक्यों की अपेक्षा नहीं होती। यदि वाक्य सन्दिग्ध है तो निर्धारण प्रक्रिया के अवान्तर व्यापार में कुछ वृद्धि अवश्य हो जाती है। निष्कर्ष यह है कि ये प्रक्रियाएँ मानवीय संज्ञान की स्वाभाविक प्रक्रियाएँ हैं जो सभी प्रकार के वाक्यों में प्रवृत्त होती हैं। इनकी प्रवृत्ति के लिए विशेष प्रकार के वाक्यों की अपेक्षा नहीं होती।

• प्रथम स्तरीय तत्त्वों के विभाजन :-

प्राथमिक निर्धारण में सहायक सिद्ध होने वाले संयोग-विप्रयोग आदि चौदह कारकों की पहचान पूर्वाचार्यों द्वारा की गयी है। इन कारकों को निम्नोक्त पाँच दृष्टियों से विभाजित किया जा सकता है।

1. वाच्य तथा गम्य :- उपर्युक्त तत्त्वों के मध्य कुछ तत्त्व वाच्य तथा कुछ गम्य हैं। जिन तत्त्वों के वाचक शब्द साक्षात् वाक्य में विद्यमान हों वे तत्त्व वाच्य कहे जा सकते हैं। उदाहरण के लिए 'सशङ्खचक्रो हरिः' तथा 'अशङ्खचक्रो हरिः' दोनों दृष्ट्यन्तों में संयोग तथा वियोग दोनों भावों के वाचक 'सह' तथा 'नञ्' शब्द क्रमशः विद्यमान हैं। ये तत्त्व वाच्य होने के

कारण पदार्थ निर्धारण में साक्षात् सहायक होते हैं। देश, काल, लिङ्ग, स्वर, वचन, सन्धि आदि तत्त्व इसी कोटि में अन्तर्भूत हो सकते हैं।

दूसरे प्रकार के गम्य तत्त्व शब्दों के द्वारा अभिहित नहीं अपितु असाक्षात् प्रतीत होते हैं। वे स्वतः अर्थावबोध में असमर्थ होने के कारण प्रत्यायक पदों की बोधन शक्ति को उत्तेजित करते हैं। उदाहरणार्थ सामर्थ्य अथवा औचित्य, जो पदों से प्रतीत होते हैं उक्त नहीं। अर्थ, प्रकरण, साहचर्य तथा विरोध भी गम्य तत्त्व कहे जा सकते हैं। उपाध्याय गोकुल नाथ ने विवरण (पृ० 392) में इन्हीं को क्रमशः अन्तरङ्ग एवं बहिरङ्ग शब्दों से कहा है।

2. भाषिक तथा अभाषिक तत्त्व :- उपर्युक्त सभी तत्त्व हमें सूचनाओं के रूप में प्राप्त होते हैं। इनमें से कुछ तो स्पष्टतः भाषिकजगत् से सम्बद्ध हैं जबकि कुछ तत्त्व भाषेतर हैं। भाषिक तत्त्व वाक्यनिष्ठ जबकि अभाषिक तत्त्व बुद्धिनिष्ठ होते हैं। उदाहरणार्थ - व्यक्ति, लिङ्ग, शब्दान्तरसन्निधि, सन्धि आदि शुद्ध रूप से भाषागत तत्त्व हैं। इसके अतिरिक्त देश, काल, अर्थ, प्रकरण, सामर्थ्य, औचित्य, संयोग, विप्रयोग, साहचर्य तथा विरोध आदि तत्त्व भाषेतर माने जा सकते हैं।

यद्यपि हमें जितने भी लौकिक ज्ञान प्राप्त होते हैं प्रायः वे सभी भाषा के माध्यम से ही होते हैं; अतः इस दृष्टि से उपर्युक्त सभी सूचनात्मक तत्त्व भाषिक ही हैं तथापि यहाँ इस दृष्टि से विचार किया गया है कि इनमें कौन से तत्त्व वाक्य के घटक होते हुए इससे साक्षात् सम्बद्ध हैं तथा कौन असाक्षात् सम्बद्ध हैं।

3. भाषा सामान्य तथा भाषा-विशेष से सम्बन्धित तत्त्व :- इनमें से कुछ कारक अर्थ तत्त्व से सम्बन्धित होने के कारण भाषा जाति से सम्बन्धित हैं। सभी प्रकार के भाषिक वाक्य इन तत्त्वों से लाभान्वित होते हैं। उदाहरणार्थ - प्रकरण, सामर्थ्य, औचित्य, अर्थ, साहचर्य, विरोध, लिङ्ग, शब्दान्तर-सन्निधि आदि।

द्वितीय प्रकार के तत्त्व भाषा की संरचना से सम्बन्धित हैं। भाषा विशेष के वैशिष्ट्य होने के कारण यह आवश्यक नहीं कि ये सभी भाषाओं का उपकार कर सकें। जैसे स्वर का प्रयोग वैदिक भाषा के अर्थावबोध में ही उपयुक्त हो

सकता है, क्योंकि यह इसका विशेष अभिलक्षण है। इसके अतिरिक्त - सन्धि, षत्व, णत्वादि भी भाषा विशिष्ट से ही सम्बन्धित हैं।

4. सार्वत्रिक तथा कादाचित्क तत्त्व :- इन तत्त्वों में से सभी तत्त्व अर्थनिर्धारण के प्रसङ्ग में सर्वदा प्रयुक्त हों यह आवश्यक नहीं है। केवल प्रकरण तथा शब्दान्तर-सन्निधि ही ऐसे दो तत्त्व हैं जो सभी प्रकार के वाक्यों के प्राथमिक निर्धारण में उपयुक्त होते हैं। वाक्य अनेक पदों वाला होता है।⁸⁸ अतः पदान्तर का सन्निधान स्वभावतः सार्वत्रिक है, । क्योंकि वाक्य का प्रयोग कभी भी प्रकरण विहीन नहीं हो सकता अतः 'प्रकरण' नामक तत्त्व भी सार्वत्रिक माना जायेगा।

अन्य संयोग - विप्रयोगादि तत्त्व यथाकाल उपस्थित होकर निर्धारण में सहायक सिद्ध होते हैं सदा नहीं। इसका कारण यह है कि इन तत्त्वों का उपयोग परिस्थिति-विशेष अथवा वाक्य की संघटना विशेष पर निर्भर करता है।

5. पूर्वतःप्राप्त तथा युगपत्प्राप्त तत्त्व :- इन तत्त्वों में से अधिकांश तो सम्भाषण के समय ही सूचित होते हैं जैसे प्रकरण के अतिरिक्त संयोग-विप्रयोगादि सभी तत्त्व। केवल प्रकरण ही ऐसा तत्त्व है जो विशिष्ट वाक्य के श्रवण के पूर्व ही वक्ता तथा श्रोता की बुद्धि में स्थित होता है। वस्तुतः प्रकरण सम्भाषण से पहले अथवा साथ ही प्राप्त भाषिक या अभाषिक सूचनाओं का वह समूह होता है जो वाक्यों के प्रक्रमण हेतु प्रयुक्त होता है।

परन्तु प्रकरण सदैव पूर्वप्रदत्त हो यह आवश्यक नहीं है। कई वाक्य ऐसे भी होते हैं जो स्वयं के लिए भी प्रकरण का निर्माण करते हैं। उदाहरणार्थ किसी भी शास्त्र या उपन्यास के प्रारम्भिक वाक्य। इस प्रकार प्रकरण पूर्वप्राप्त तथा युगपत्प्राप्त दोनों प्रकार का हो सकता है।

• उपर्युक्त तत्त्वों की सम्भूयकारिता :-

उपर्युक्त संयोगादि तत्त्व यथावसर अपनी उपयोगिता के अनुकूल उपस्थित होकर वाक्यार्थ-निर्धारण में सहायक होते हैं। इनमें परस्पर बाध्य-बाधक-भाव कदापि नहीं होता क्योंकि -

1. ये तत्त्व एक समान प्रयोजन (अर्थात् वाक्यार्थ निर्धारण) की दिशा में सहयोग करते हैं। प्रयोजन की विभिन्नता न होने से इनमें पारस्परिक बाध का अवकाश नहीं होता।
2. विरोध सदैव तुल्य बल वाले कारकों में ही होता है। वाक्यार्थ निर्धारण के समय उपस्थित सभी कारक परस्पर मुख्य-गौण-भाव में सम्बन्धित हुआ करते हैं। किसी भी कार्य में सम्भूयकारिता तभी सम्भव हो सकती है, जब विविध कारक गौण-मुख्य-भाव से आपस में सम्बद्ध हों।

इस प्रसङ्ग में यह विचार रखा जा सकता है कि वे तत्त्व जो किसी वाक्य विशेष में अर्थ निर्धारण हेतु सर्वाधिक आवश्यक होते हैं वे मुख्य कारक तथा शेष गौण होते हैं। किसी भी कारक को इदमित्थं प्रकार से गौण या मुख्य कोटि में नहीं रखा जा सकता क्योंकि यह गौण मुख्य भाव वाक्य की संरचना तथा अवबोध सम्बन्धी वातावरण के द्वारा निर्धारित होता है।

• नवीन तत्त्वों का ऊहन :-

भविष्य में होने वाले शोधों को प्रोत्साहित करना तथा उसके लिए अवकाश का संकेत करना भारतीय दृष्टि की अन्यतम विशेषताओं में से एक है। उपर्युक्त तत्त्वों के परिगणन के अवसर पर भी 'स्वर' के बाद 'आदि' पद को जोड़कर⁸⁹ संयोगादि से अतिरिक्त तत्त्वों की सम्भावना की ओर संकेत किया गया है।

कुछ नवीन तत्त्वों का ऊह टीकाकारों द्वारा तथा कुछ तत्त्वों की पहचान स्वयं मेरे द्वारा की गयी है। इनका उल्लेख आगे किया जा रहा है -

1. अन्वय :-- वाक्य में पदों का पारस्परिक सम्बन्ध अन्वय कहलाता है। अन्वय की विभिन्नता से भी पदों का अर्थ भिन्न हो जाता है। अतः पद से अन्वित पदान्तर का ज्ञान पदार्थावबोध में सहकारी है।

उदाहरणार्थ - 'अलंबुसानाम् याता।'⁹⁰ (अलम्बुस देश को जाने वाला।) में अलं का अन्वय यदि याता के साथ माना जाये तो पद तथा सम्पूर्ण वाक्य का

अर्थ परिवर्तित हो जायेगा - 'बुसानाम् अलं याता' अर्थात् पर्याप्त मात्रा में भूसे को प्राप्त करने वाला।

संस्कृत वाङ्मय में अर्थनिर्धारण हेतु 'अन्वय' तत्त्व का भूरिशः प्रयोग दिखाई पड़ता है।

2. समास :- समास का ज्ञान भी अर्थनिर्धारण हेतु महत्त्वपूर्ण है। समासवशात् अर्थ परिवर्तन के बहुत से उदाहरण शास्त्रों तथा काव्यों में प्राप्त हैं। 'इन्द्रशत्रुर्वर्धस्व' उदाहरण में समास द्वारा प्रयोजित अनर्थ सर्वविदित ही है। 'लोकनाथः' शब्द में यदि षष्ठी तत्पुरुष मानें तो अर्थ 'राजा' होगा, परन्तु इसी को यदि बहुव्रीहि मान लें तो इसका अर्थ 'अकिञ्चन-भिक्षुक' हो जायेगा।

3. सन्धि :- सन्धि का सम्यक् ज्ञान होने पर हमें शब्द का वास्तविक स्वरूप ज्ञात होता है तथा उसका अर्थ निर्धारित हो पाता है।

उदाहरणार्थ - 'श्वेतो धावति' (सफ़ेद गुणयुक्त वस्तु दौड़ रही है।) से हम 'श्वा-इतः धावति' (कुत्ता इधर की ओर दौड़ रहा है) का अर्थ तभी ले पायेंगे जब हमें यहाँ सन्धि कृत वैशिष्ट्य का ज्ञान होगा।

4. वचन :- कारकों की संख्या को वचन कहते हैं। इसके द्वारा अर्थनिर्धारण के अनेक उदाहरण प्राप्त होते हैं। यदि 'श' वाचक शब्द बहुवचन में प्रयुक्त हो जाये तो वह उस देश-विशेष में रहने वालों का बोध करायेगा।

उदाहरणार्थ : 'कुरुवः' शब्द का अर्थ है 'कुरु' देश के निवासी।

5. पदगतवर्णों में विकार अथवा आगम :- शब्दों में घटित होने वाले विकारों को हम दो प्रकार से देख सकते हैं। कुछ विकार अर्थ को प्रभावित करते हैं तथा कुछ अर्थ में वैशिष्ट्य नहीं करते। स्वभावतः यहाँ अध्ययन के विषय पहले प्रकार के अर्थ विशेषक विकार ही हैं।

(i) सुट्-आगम (स) : यह आगम सामान्यतः उपसर्ग तथा धातु के मध्य आता है। उदाहरण है - 'आस्पदम्' जिसका अर्थ प्रतिष्ठा है। यदि 'सुट्' न हो तो 'आपदम्' का अर्थ होगा 'पैर तक'। इसी प्रकार 'आश्चर्य' अद्भुत अर्थ का वाची है जबकि 'आचर्य' शब्द आचरणीय अर्थ का।⁹¹

(ii) जुक्, षुक् आदि आगम : ये आगम प्रेरणार्थक क्रियाओं में दर्शाये गये हैं। उदाहरणार्थ - 'वा' धातु के प्रेरणार्थक रूप में यदि 'जु' का आगम हो तो उसके द्वारा विधूनन अर्थ ही अभिप्रेत होगा अन्य अर्थ नहीं। जैसे वाजयति (हिलाता है) परन्तु वापयति (मुण्डन करता है)। इसी प्रकार 'भीषयति' रूप का अर्थ होगा 'प्रेरक से डर'।⁹²

(iii) निष्ठा के विकार : क्त तथा क्तवतु के तकार को अनेक विकार होते हैं, जिनमें से कुछ अर्थ को भी निर्धारित करते हैं।

उदाहरणार्थ - 'ऋ' धातु के क्तान्त रूप में 'त्' को 'ण्' होने पर उसका अर्थ 'कर्ज' होता है, अन्यत्र 'ऋत' का अर्थ सत्य होता है।⁹³

(iv) षत्व⁹⁴: दन्त्य (स्) का मूर्धन्य (ष्) हो जाना भी अनेक अर्थों को सूचित करता है।

उदाहरणार्थ - 'निष्णात्' शब्द का अर्थ 'कुशल' है जबकि 'निरनात्' का अर्थ 'अच्छी तरह से स्नात' है।⁹⁵

(v) णत्व : न् का मूर्धन्यभाव (ण्) भी कदाचित् अर्थ को द्योतित करता है। उदाहरणार्थ - 'इक्षुवाहनम्' में णत्व के कारण अर्थ हो जाता है - ऐसा वाहन जिसमें ईख ढोई जाती हो, जबकि 'इन्द्रवाहनम्' का अर्थ होगा - ऐसा वाहन जिसका स्वामी इन्द्र हो।⁹⁶

(vi) कुत्व : 'च्' तथा 'ज्' का क्रमशः 'क्' तथा 'ग्' हो जाना कुत्व है। यह कुत्व भी अर्थविशेष को सूचित करता है।

उदाहरणार्थ - वाच्य-वाक्य, भोज्य-भोग्य आदि युग्मों में अर्थ भेद स्पष्ट ही है।⁹⁷

इस प्रकार शब्दान्तर्गत विकारों का अर्थ के साथ घनिष्ठ सम्बन्ध होता है। इन सम्बन्धों का सम्यक् विवेचन आचार्य पाणिनि ने अष्टाध्यायी में किया है।

6. शब्दों के घटक विभिन्न प्रत्यय :- परमार्थतः तो शब्द अखण्डस्वरूप

ही हैं तथापि वैयाकरण आचार्यों ने अर्थ के साथ अन्वय-व्यतिरेक के आधार पर शब्दों को प्रकृति तथा प्रत्यय इन दो विभागों में बाँट दिया है। प्रत्यय प्रकृति के बाद विहित किये गये हैं। तथा उन्हें विभिन्न अर्थों के साथ सम्बद्ध कर दिया गया है।

अग्रिम पङ्क्तियों में इनका वर्णन अतिसंक्षेप में किया जा रहा है -

- (i) कृत् :- धातु के अनन्तर विहित तिङ्भिन्न प्रत्ययों को कृत् कहा गया है। ये प्रत्यय भाव, कर्म, कर्त्ता, ताच्छीलिक कर्त्ता, धात्वर्थ, स्त्रीविशिष्ट धात्वर्थ आदि अनेक अर्थों में विहित हैं, फलतः इन अर्थों को सूचित तथा निर्धारित करते हैं।

उदाहरणार्थ 'उष्णभोजी' का अर्थ ताच्छीलिक कर्त्ता ही होगा सामान्य कर्त्ता नहीं।⁹⁸

- (ii) तिङ् :- धातु के अनन्तर विहित 18 प्रत्यय तिङ् कहलाते हैं, जो धात्वर्थ की साध्यता को बताते हैं। इन तिङ् प्रत्ययों से पुरुष तथा वचन का अर्थ तो निर्धारित होता ही है, साथ ही साथ आत्मनेपद तथा परस्मैपद के भेद से ये प्रत्यय यह भी निर्धारित करते हैं कि फल का आश्रय स्वयं कर्त्ता ही है, या तद्भिन्न कोई दूसरा।⁹⁹

तिङ् प्रत्यय की इसी विलक्षणता के कारण 'यजामि' तथा 'यजे' में अर्थ भेद परिलक्षित हो पाता है।

- (iii) सुप् :- विभक्तियों के सभी अर्थ जिनमें कारक तथा कारकान्तर सम्बन्ध सम्मिलित हैं, 'सुप्' प्रत्ययों के द्वारा द्योत्य होते हैं। कारक विभक्तियों के द्वारा कर्त्ता आदि कारकीय सम्बन्ध तथा उपपद एवं षष्ठी विभक्ति द्वारा प्रायः अन्यान्य अप्रत्यक्ष सम्बन्ध ज्ञापित होते हैं।

- (iv) स्त्री प्रत्यय तथा तद्धित : प्रातिपादिकों से स्त्री सामान्य अथवा स्त्री विशेष के अर्थ का ज्ञापन उनसे विहित स्त्री प्रत्ययों से ही हो पाता है। उदाहरणार्थ 'गोपी' शब्द में 'ङीष्' पुंयोग (गोप की

स्त्री) को द्योतित करता है जबकि 'गोपा' में 'यप्' स्वयं गोपालन करने वाली स्त्री को बताता है।

तद्धित प्रत्ययों का क्षेत्र अत्यन्त व्यापक है।¹⁰⁰ इस प्रकरण में अर्थ तथा प्रत्यय दोनों का अधिकार चलता है। तत्तद् अर्थों की विभिन्नता के ज्ञान हेतु तद्धितों का साहाय्य अत्यधिक आवश्यक है।

7. आदर्शकार द्वारा ऊहित अन्यान्य कारक :- काव्यप्रकाश के टीकाकार भट्ट सोमेश्वर ने आदि पद के द्वारा कुछ कारकों को संगृहीत किया है, वे हैं - 1. अपदेश, 2. निर्देश, 3. संज्ञा, 4. इङ्गित तथा 5. आकार।¹⁰¹

वस्तुतः ये सभी अभिनय की जाति के ही हैं। इङ्गित का एक उदाहरण प्रस्तुत है -

कदा नौ सङ्गमो भावीत्याकीर्णं वक्तुमक्षमम्।

अवेत्य कान्तमबला लीलापद्मं न्यमीलयत्॥¹⁰²

मधुमतीकार ने आदि पद से आप्तवाक्य का ग्रहण माना है।¹⁰³

इस प्रकार इन नवीन कारकों का ऊह प्रस्तुत किया गया।

इनमें से सन्धि, समास, वचन, पदगत विकार तथा प्रत्यय शाब्द आदि अपदेशादि पाँच तत्त्व अशाब्द हैं। अथ च प्रत्यय, वचन, अपदेशादि भाषा-सामान्य जबकि अन्य भाषा-विशेष के तत्त्व हैं।

इनमें से सन्धि तथा समास शब्द के स्वरूप का निर्धारण करके अप्रत्यक्ष रूप से अर्थ निर्धारण में सहायक होते हैं जबकि शेष प्रत्यक्षतः निर्धारण करते हैं।

इस प्रकार प्रथम स्तरीय निर्धारण के सहायक तत्त्वों का वर्णन इस सम्भावना के साथ सम्पूर्ण होता है कि भाषा विशेष तथा भाषा सामान्य से सम्बन्धित अनेकानेक ऐसे तत्त्वों के अन्वेषण का अवकाश निरन्तर यथावस्थ है।

(ख) द्वितीय स्तरीय निर्धारण के तत्त्व

ऊपर यह स्पष्ट किया गया है कि वाक्यगत द्वितीय निर्धारण सार्वत्रिक

नहीं होता, क्योंकि इसकी प्रवृत्ति प्राथमिक वाक्यार्थ के बाधित होने पर ही होती है। प्राथमिक वाक्यार्थ हमेशा बाधित नहीं होता। इसमें बाध तभी होता है जब वक्ता की ऐसी विवक्षा होती है।

द्वितीय निर्धारण चूँकि सार्वत्रिक नहीं होता इसलिए स्वभावतः इसमें प्रयुक्त होने वाले तत्त्व भी सार्वत्रिक नहीं होते।

द्वितीय स्तर पर निर्धारण में सहायक तत्त्वों की सामान्य विशेषता है - इनका सम्बन्धात्मक होना। प्रथम स्तरीय निर्धारण से प्राप्त मुख्य अर्थ तथा द्वितीय स्तर से प्राप्त गौण अर्थ के मध्य जो सम्बन्ध होता है, उसे ही इस स्तर से पर प्राप्त होने वाले अर्थ के निर्धारण का कारक तत्त्व माना गया है। इन तत्त्वों का प्रायः युग्म में होना यह स्पष्ट करता है कि ये सम्बन्ध विशेष हैं। उदाहरणार्थ - जन्य-जनक सम्बन्ध, माप्य-मापक भाव, धार्य-धारक भाव आदि। सम्बन्ध में द्विष्टता अनिवार्य होती है।

यहाँ प्रश्न किया जा सकता है कि वक्ता वस्तुतः ऐसे वाक्य का प्रयोग करता ही क्यों है जिसका अर्थ बाधित हो जाये तथा श्रोता को दूसरे स्तर का मानसिक प्रयत्न करना पड़े? इस तरह तो मानसिक प्रक्रमण के अधिक होने के कारण रेलेवेँस के हानि की सम्भावना हो जायेगी।

इसका उत्तर शास्त्रकारों ने दिया है। लाक्षणिक वाक्य का प्रयोग वक्ता दो कारणों से करता है - प्रयोजन तथा रूढ़ि।⁰⁴

इस प्रकार के प्रयोगों का पहला कारण 'प्रयोजन विशेष' है।

वक्ता जानबूझकर बाधयुक्त वाक्य का प्रयोग केवल लाक्षणिक अर्थ के लिए नहीं करता। जैसे - वह 'गङ्गायां घोषः' का प्रयोग केवल इसलिए नहीं करता कि 'गङ्गातटे घोषः' अर्थ को प्रकट कर सके अन्यथा उसने 'गङ्गातटे घोषः' वाक्य का ही प्रयोग कर दिया होता। उसके इस प्रकार के प्रयोग का कुछ और ही प्रयोजन है। इस प्रयोजन रूप अर्थ की अतिरिक्त प्राप्ति मानसिक प्रक्रमण की तुलना में अधिक हो जाती है, फलतः रेलेवेँस बना रहता है। लक्षणा के इस भेद को पूर्वाचार्यों ने प्रयोजनवती लक्षणा के नाम से अभिहित किया है।

बाधित वाक्यों के प्रयोग का दूसरा कारण है रूढ़ि - अर्थात् लौकिक व्यवहार। इस प्रकार के प्रयोग लोक में इतने सामान्य हो गये हैं कि बिना किसी

प्रयोजन के भी इनका प्रयोग कर दिया जाता है। इस व्यावहारिकता की ही महिमा है कि श्रोता को अधिक मानसिक श्रम नहीं करना पड़ता। रूढ प्रयोगों का प्रक्रमण भी अभिधा की ही तरह अतिशीघ्रता तथा अल्प व्यय से सिद्ध हो जाता है।

(ग) तृतीय स्तरीय निर्धारण के तत्त्व

तृतीय स्तरीय निर्धारण से उपलब्ध वाक्यार्थ शब्दार्थ घटित नहीं होता यह बहुत सीमा तक शब्दार्थ से निरपेक्ष होता है। उच्चरित वाक्य से बहुत अधिक सम्बद्ध नहीं होने के कारण इसके स्वरूप में अनिश्चितता का अवकाश अधिक रहता है। इसके अनेकानेक स्वरूप तथा स्तर हुआ करते हैं। इसका प्रमुखतम कारण है व्यङ्ग्य अर्थ का प्रतीयमान होना। प्राथमिक तथा द्वितीय वाक्यार्थ शब्द द्वारा प्रमाणित होते हैं अतः वे निश्चित तथा प्रायः एकरूप होते हैं, परन्तु तृतीय स्तर पर श्रोता के लिए एकमात्र प्रमाण उसकी प्रतीति होती है। उसके संज्ञान का वातावरण (Cognitive environemnt) जिन-जिन शाब्द अथवा अशाब्द तत्त्वों से मिलकर घटित होता है, उन्हीं की विशिष्टता तथा वैलक्षण्य के अनुरूप भिन्न-भिन्न अर्थों की प्रतीतियाँ प्राप्त हो जाती हैं।

वाच्य तथा लक्ष्य अर्थ सामान्यतः एकाधिक नहीं होते परन्तु व्यङ्ग्य अर्थ के अनेकानेक आयाम एवं स्वरूप हो सकते हैं। भारतीय काव्यशास्त्रियों ने इस प्रसङ्ग को 'घण्टारणनन्याय' से समझाया है।

• तृतीय स्तरीय निर्धारण की सार्वभौमिकता :-

पिछले पृष्ठों में यह तथ्य अभ्युपगत किया गया है कि प्रस्तुत तृतीय-स्तरीय निर्धारण भाषा के सभी वाक्यों में प्रयुक्त होता है। इस तथ्य को सिद्ध करने का प्रयास किया जा रहा है।

किसी वाक्य का उच्चारण करते समय वक्ता उस वाक्य के आर्थ-प्रतिरूपण (Samantic-representation) से प्राप्त सूचना मात्र को श्रोता के प्रति सम्प्रेषित नहीं करना चाहता। उसका वाक्य तथा उससे प्राप्त सूचनाएँ तो वस्तुतः केवल प्रेरक-सामग्री (stimulus) होती हैं, जो श्रोता के मस्तिष्क में पहले से

निहित (Stored) सूचनाओं के साथ मिलकर सदैव कुछ नवीन सूचनाओं को उत्पन्न करती हैं। ये सूचनाएँ वाक्य के आर्थ-प्रतिरूपण से बहुत सीमा तक भिन्न होती हैं। ये तृतीय स्तर के निर्धारण का परिणाम होती हैं।

वक्ता जिन-जिन सूचनाओं को ध्यान में रखकर वाक्य की संरचना करता है वे सभी सूचनाएँ उस वाक्य विशेष के श्रवण से श्रोता को प्रतीत हो जाती हैं। ये प्रतीत सूचनाएँ स्वाभाविक रूप से तृतीय निर्धारण का विषय होती हैं।

वक्ता जितना सूचित करना चाहता है, उसका वाक्य अकेले उन सभी सूचनाओं को व्यक्त करने में अपर्याप्त होता है। इन अनुक्त सूचनाओं की व्यञ्जना को यदि स्वीकार न किया जाय तो सम्प्रेषण की क्रिया ही अनुपपन्न हो जायेगी। 1. श्रोता यदि तृतीय स्तरीय निर्धारण न करे तो उसे पूर्वापर सम्बन्ध से विहीन वाक्यार्थ का ज्ञान नहीं होना चाहिए परन्तु ऐसा हो जाता है। 2. वक्ता यदि तृतीय स्तरीय निर्धारण की सत्ता से अनभिज्ञ हो तो वह छोटे-छोटे वाक्यों का प्रयोग नहीं करेगा। वह ज्ञात तथा अज्ञात सूचनाओं से युक्त एक दीर्घकाय वाक्य का प्रयोग करेगा, जो कि वह नहीं करता। उपर्युक्त दोनों अनिष्ट परिस्थितियाँ इसलिए प्रसक्त नहीं होने पातीं क्योंकि वक्ता तथा श्रोता दोनों को ज्ञात होता है कि उसके द्वारा अनुक्त सूचनायें तृतीय निर्धारण द्वारा व्यञ्जित हो जायेंगी।

इस प्रकार यह सिद्ध है कि तृतीय स्तरीय निर्धारण भी प्रथम की ही तरह सर्ववाक्यसाधारण है।

इस तथ्य को प्रकारान्तर से भी सिद्ध किया जा सकता है। वाक्यार्थ दो वर्गों में विभाजित हो सकते हैं - 1. सिद्ध तथा 2. साध्य। सिद्ध वाक्य में क्रिया के नियोग का अभाव होता है। जैसे - 'राम' है जबकि साध्य वाक्य में नियोग अर्थात् किसी क्रिया के प्रति प्रेरणा होती है - जैसे - 'तुम जाओ।'

मीमांसकों के अनुसार वाक्य को सदैव क्रियार्थक होना चाहिए अन्यथा वह निरर्थक हो जायेगा - 'आम्नायस्य क्रियार्थत्वादानर्थक्यमतदर्शनम्' (मी०सू० 1/2/1)। अतः सिद्धावस्था में भी वाक्य किसी न किसी सक्रिय (साध्य) वाक्यार्थ के प्रति गौण होकर अपनी सार्थकता की रक्षा करता है। इस प्रकार अक्रिय वाक्यार्थ में सक्रिय वाक्यार्थ की प्रतीति अनिवार्य है ताकि पहले

में अनर्थकता न प्रसक्त हो जाये। इस क्रियार्थक वाक्यार्थ की प्रतीति स्पष्टतः ही तृतीय निर्धारण का विषय है।

साध्य वक्यार्थ का उच्चारण करते हुए भी वक्ता अपने अनेकानेक तात्पर्यों को व्यञ्जित करना चाहता है। ये तात्पर्य वस्तुतः ऐसे वाक्यार्थ होते हैं जिनका निर्धारण तृतीय स्तर में होता है।

• व्यञ्जना का परिसीमन :-

इस प्रसङ्ग में एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण प्रश्न उपस्थापित किया जा सकता है। व्यङ्ग्य अथवा प्रतीयमान अर्थ चूँकि एकाधिक तथा बहुआयामी होते हैं अतः श्रोता के मस्तिष्क में श्रवणोपरान्त वे सभी अर्थ प्रकट हो जाने चाहिए परन्तु ऐसा नहीं होता, क्यों? शब्दों में व्यङ्ग्यार्थ की अनिश्चित शृङ्खला को नियन्त्रित करने वाला तत्त्व कौन है?

इसका उत्तर है, 'वक्ता द्वारा अभिप्रेत अर्थ'। वक्ता के अभीष्ट तात्पर्य की प्राप्ति ही सामान्यतः सम्प्रेषण का प्रमुख लक्ष्य होता है। उस अर्थ की प्राप्ति होते ही श्रोता कृतकृत्य होकर अनर्थक श्रमों से विरत हो जाता है तथा शेष सम्भावित सभी व्यङ्ग्यार्थ अपने आप प्रतीत नहीं होने पाते।

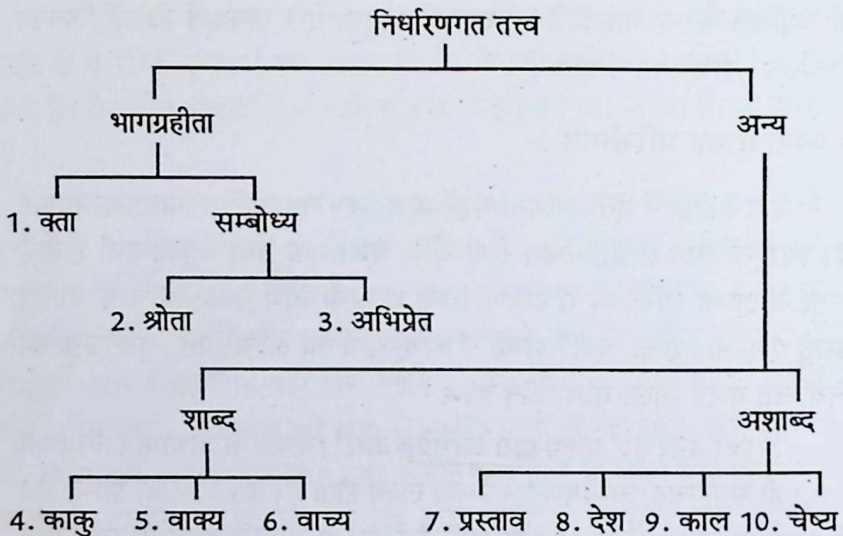
उदाहरण के लिए - यदि वक्ता श्रोता से कहे - 'कमरे में गैस की बदबू आ रही है', तो श्रोता को सामान्यतः प्रतीति होगी - 'गैस के रिसाव का पता लगाकर उसे तुरन्त बन्द करके दुर्घटना टाल देनी चाहिए' न कि यह सूचना - 'गैस की कम्पनियों में हड़ताल नहीं है।' यद्यपि द्वितीय सूचना भी श्रुत वाक्य से कथञ्चित् व्यञ्जित तो होती है, परन्तु चूँकि वह वक्ता को अनभिप्रेत है अतः श्रोता उसको ग्रहण नहीं करता।

वक्ता का तात्पर्य व्यञ्जना की सीमा को तय करता है जबकि निर्धारण के वक्तृबोद्धव्यादि-तत्त्व व्यञ्जना के स्वरूप को निश्चित करते हैं।

• इन तत्त्वों के विभाग :-

पूर्वाचार्यों ने तृतीय स्तरीय निर्धारण हेतु जिन दस वक्तृबोद्धव्यादि तत्त्वों

का निरूपण किया है वे अपनी उपस्थिति की विशिष्टता मात्र से प्राथमिक वाक्यार्थों से अन्य वाक्यार्थों की प्रतीति कराने में समर्थ होते हैं। इन तत्त्वों का विभाजन निम्नोक्त प्रकार से किया जा सकता है-



रेखाचित्र से स्पष्ट है कि प्रथमतः विभाजन सम्प्रेषण में भाग लेने वाले व्यक्तियों तथा शेष के मध्य है। द्रष्टव्य है कि भाग लेने वाले स्वभावतः चेतन हैं तथा शेष- प्राकृतिक घटनाएँ अथवा परिस्थितियाँ हैं।

भाग लेने वाले भी दो प्रकार के हैं वक्ता तथा उसके सम्बोधन के विषयभूत व्यक्ति। ये भी दो प्रकार के हैं - श्रोता तथा अभिप्रेत।¹⁰⁵ यद्यपि अभिप्रेत भी श्रोता होता है तथापि श्रोता ही सदैव अभिप्रेत व्यक्ति नहीं होता। कभी-कभी श्रोता तथा सम्बोध्य भिन्न होते हैं। इसी को अन्यसन्निधि नामक तत्त्व कहा गया है।

इन उपर्युक्त कारकों से अन्य कारक भी दो भागों में बाँटकर देखे जा सकते हैं- शाब्द तथा अशाब्द।

शाब्द- तत्त्व वे हैं जो सम्प्रेषणगत वाक्य अथवा वाक्यार्थ के घटक हैं। ये तत्त्व हैं - काकु, वाक्य तथा वाच्य।

अशाब्द-तत्त्व वे माने जा सकते हैं जो साक्षात् वाक्य के घटक नहीं हैं - जैसे- प्रस्ताव, देश, काल, तथा चेष्टा।

इन सभी तत्त्वों का पुनः सामान्य तथा विशिष्ट इन दो प्रकारों में विभाजन कर सकते हैं।

सामान्य तत्त्व वे हैं जो सदैव प्रयोग के योग्य होते हैं। इनकी अनुपस्थिति असम्भव है। ये तीन हैं - वक्ता, बोद्धव्य तथा प्रकरण।

वक्ता तथा बोद्धव्य के बिना सम्प्रेषण ही असंभव है। वाक्य प्रकरण रहित हो नहीं हो सकता अतः ये तत्त्व सतत उपस्थित होते हैं। फलतः इन्हें सामान्य कहा गया है।

शेष- काकु, अन्य-सन्निधि, वाक्य, वाच्य आदि तत्त्वों का उपयोग परिस्थिति वश ही होता है। अतः कादाचित्क हैं - अतः विशिष्ट भी।

दीपिकाकार ने विशिष्ट तत्त्वों को गौण तथा सामान्य तत्त्वों को मुख्य माना है -

“... देशस्य अतिविविक्तादिवैशिष्ट्यस्य साचिव्यमात्रं प्राधान्यं
तु वक्तृवैशिष्ट्यादेरेव। एवं कालवैशिष्ट्येऽपि ज्ञेयम्।”

(पृ० 456)

तृतीय स्तरीय निर्धारण प्रक्रिया को हम दो वर्गों में बाँट सकते हैं।
1. अभिधापूर्व, 2. लक्षणापूर्व। द्वितीय स्तरीय निर्धारण सार्वत्रिक नहीं होता। उसकी उपस्थिति में तृतीय स्तरीय निर्धारण लक्षणापूर्व होता है तथा उसकी अनुपस्थिति में अभिधापूर्व।

लक्षणापूर्व का तात्पर्य यह नहीं कि इसमें अभिधाव्यापार होता ही नहीं। इसका अर्थ है - ‘ऐसा व्यापार जिसके तुरन्त पहले लक्षणा है।’

• इन उपर्युक्त तत्त्वों की सम्भूयकारिता :-

वाक्यार्थ के प्रसंग में सदैव एकाधिक तत्त्व मिलकर वाक्यार्थ का निर्णय करते हैं। प्रश्न यह है कि अनेक तत्त्वों की युगपत् सहायता प्राप्त होने पर हम वाक्यार्थ निर्णय को किसकी विशिष्टता के कारण सम्पन्न हुआ मानें? सारबोधिनी (पृ० 416) में इस प्रश्न का समाधान प्राप्त होता है -

“एषां च सङ्करे यस्योद्भटता तन्मूलको व्यवहारः।”

अर्थात् बहुत से तत्त्वों की युगपत् प्राप्ति के अवसर पर जिस तत्त्व का उपयोग सबसे अधिक होगा उसे ही हम वाक्यार्थ प्रतीति का श्रेय देंगे।

पुनः प्रश्न उठता है कि यदि ३ नेक तत्त्व समान रूप से सहायक हों तो क्या किया जाये? इसका उत्तर स्वयं आचार्य मम्मट ने देते हुए कहा है -

वक्त्रादीनां मिथः संयोगे द्विकादिभेदेन। (पृ० 463)

अर्थात् ऐसी परिस्थिति में दो, तीन अथवा चार जितने तत्त्व उपस्थित हों उन सबकी विशिष्टता से युक्त उदाहरण देने चाहिए।¹⁰⁶ (दीपिका पृ० 466) में ऐसे उदाहरणों की पहचान भी की गयी है।

इस प्रकार एकाधिक तत्त्व यथावसर उपस्थित होकर एक समान प्रयोजन अर्थात् वाक्यार्थ निर्णय के प्रति सहायक होते हैं।

• तृतीय-स्तरीय-निर्धारण की काव्य तथा लोक दोनों में समान प्रयोजनीयता :-

काव्यशास्त्र में इन तत्त्वों का साङ्गोपाङ्ग वर्णन हुआ है। प्रासङ्गिक होने के कारण वहाँ सभी उदाहरण काव्य जगत् से ही दिये गये हैं सामान्य दैनन्दिन वाक्यों के उदाहरण नहीं। इससे यह नहीं समझा जाना चाहिए कि इन तत्त्वों का सामान्य सम्भाषणात्मक वाक्यों में उपयोग नहीं होता। पूर्वतन पृष्ठों में इसकी सार्वभौमता अनेकशः सिद्ध की गयी है। वस्तुतः व्यङ्ग्य सदैव तृतीय स्तरीय निर्णय में ही घटित होता है, अतः आलङ्कारिकों ने इसका ध्वनि के प्रसङ्गों में सम्यक् वर्णन किया है।

आगे लौकिक जगत् में अनेक वाक्यों का उदाहरण दिया जा रहा है जिससे सामान्य वाक्यों में भी इन तत्त्वों की प्रयोजनीयता स्पष्ट हो जाये।

(i) वक्तृवैशिष्ट्य

श्रोता वक्ता की विशिष्टता के कारण अनेकानेक अर्थों की प्राप्ति कर लेता है। एक ही आनुपूर्वी से घटित वाक्य वक्ताओं की विभिन्नता से भिन्न-भिन्न वाक्यार्थों की प्रतीति कराता है। उदाहरणार्थ ‘मैं बहुत थक गया हूँ’, इस वाक्य

का प्रयोग यदि किसी स्त्री का पुत्र करे तथा उसके घर में काम करने वाला नौकर भी करे तो वाक्यार्थ में जो विभिन्नता होगी वह स्पष्ट है। पहले वाक्य का अर्थ हो सकता है - 'इसे भोजन दे देना चाहिए', जबकि दूसरे का अर्थ हो सकता है- 'इसे छुट्टी दे दी जाय।'

'राम जा रहा है' यह वाक्य सुनकर श्रोता विशिष्ट राम का ही ग्रहण करता है। इसका कारण है कि वह वक्ता द्वारा अभिप्रेत राम का ही ग्रहण कर रहा है।

सभी शाब्द सूचनाओं का स्रोत चूँकि वक्ता ही होता है अतः सभी सूचनाओं का प्रक्रमण (Processing) उसे परम प्रमाण मानकर उसी के परिप्रेक्ष्य में होता है। इस प्रकार सभी के तृतीय निर्धारण में वक्ता रूपी तत्त्व सर्वप्रमुख होता है। कारिका में उसका प्राथम्येन परिगणन इसी तथ्य को स्पष्ट करता है।

(ii) बोद्धव्यवैशिष्ट्य

वाक्य के प्रयोग का लक्ष्य प्रायः श्रोता ही होता है, अतः वाक्यार्थ निर्धारण में उसके अवबोध सम्बन्धी वातावरण की बड़ी महत्ता होती है। यहाँ तक कि समान आनुपूर्वी से घटित एक ही वाक्य को यदि कई श्रोता सुनें तो उसके अर्थ में प्रतिश्रोतृ भिन्नता सम्भव है। 'सूर्योऽस्तमेति' का प्रसिद्ध उदाहरण प्रस्तुत किया जा चुका है। वक्ता भी श्रोता की बुद्धि में स्थित सूचनाओं का अनुमान लगाकर उनके अनुरूप ही अपनी वाक्य संघटना प्रस्तुत करता है।

भाषा में जितने उत्तम पुरुष तथा मध्यम पुरुष के सर्वनाम प्रयुक्त होते हैं वे सभी अपने अर्थ निर्धारण हेतु क्रमेशः वक्ता तथा बोद्धा की अपेक्षा रखते हैं। सर्वनाम शब्द स्वतः स्पष्टार्थक नहीं होते क्योंकि उनका प्रयोग सबके लिए होता है।

(iii) काकु

काकु के वैशिष्ट्य के उदाहरण का हम अपने दैनन्दिन जीवन में प्रचुर मात्रा में अनुभव करते हैं। 1. राम जायेगा। 2. राम जायेगा! तथा 3. राम जायेगा? आदि समान वर्णक्रम घटित वाक्य भी काकु के वैशिष्ट्य से अनेकार्थक

हो जाता है। यहाँ वाक्य की प्रश्नवाचकता या विस्मयबोधकता वस्तुतः काकु प्रयोजित ही है।

(iv) वाक्य

‘अब हमें कैसे-कैसे दिन देखने पड़ रहे हैं।’ इस वाक्य में ‘अब’ शब्द से ‘पूर्व स्थिति की अपेक्षा बुरी स्थिति’, प्रतीत होती है। वाक्य-समन्वय के साधक वे पद जिनका परिवर्तन दुःशक हो वाक्य कहलाते हैं।

(v) वाच्य

वाक्यगत शब्दविशेष के अर्थ को यहाँ वाच्य कहा गया है। हम अपने वाक्यों में ऐसे शब्दों का प्रयोग करते हैं जो किसी वाक्यार्थ विशेष की प्रतीति के अनुकूल हो। उदाहरणार्थ – ‘व्याकरण वैज्ञानिक प्रणालीबद्ध तथा सुरुचिपूर्ण शास्त्र है।’ इसमें वैज्ञानिक आदि विशेषणात्मक पदों के अर्थ प्रतीत कराते हैं – ‘व्याकरण का अध्ययन करना आवश्यक है।’

(vi) प्रस्ताव

प्रस्ताव न केवल वाक्यार्थों का प्रत्यायक होता है अपितु सम्भाषण में प्रयुक्त वाक्यों का स्वरूप भी इसी के द्वारा निर्धारित होता है। ‘सैन्धवमानय’ वाक्य का उदाहरण अति प्रसिद्ध है। प्रकरण इतना महत्त्वपूर्ण तथा सार्वभौम तत्त्व है कि वाक्य का प्रयोग तथा अवबोध दोनों इसे ध्यान में रखकर ही किया जाता है।

(vii, viii) देश तथा काल :

रात को शयन के समय यदि किसी व्यक्ति को कॉफी प्रस्तुत की जाये और उसका वाक्य हो – ‘कॉफी मुझे जगाये रखेगी’ तो कालवैशिष्ट्य नामक तत्त्व की सहायता से वाक्यार्थ प्रतीत होगा – ‘वक्ता कॉफी नहीं पीना चाहता।’

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि वाक्य चाहे वे साधारण हों अथवा काव्यात्मक, तृतीय-स्तरीय-निर्धारण-गत व्यञ्जना व्यापार उन सबको अपना विषय बनाता है, क्योंकि यह निर्धारण सार्वभौम तथा सर्वव्यापी है।

खण्ड (ग)

‘रेलेवेंस’ सम्बन्धी उदाहरणों तथा सिद्धान्तों में उपर्युक्त तत्त्वों का उपयोग

प्रस्तुत अध्याय के प्रथम तथा द्वितीय खण्डों में वाक्यार्थ-प्रक्रिया के अन्तर्गत सम्भावित तीन स्तरों तथा उन पर होने वाले निर्धारणों में उपयोगी तत्त्वों का सम्यक् प्रतिपादन किया गया। प्रथम खण्ड में इन निर्धारणों तथा इनसे सम्बद्ध तत्त्वों का यथाशास्त्र निरूपण एवं द्वितीय खण्ड में इनसे सम्बद्ध कुछ नवीन विचार उपस्थापित किये गये। सम्पूर्ण वर्णन का यह केन्द्रीय विचार उभर कर स्पष्ट हुआ कि ये तत्त्व वाक्यमात्र के रेलेवेंस के प्रयोजक होते हैं। जिस प्रकार सम्प्रेषण प्रक्रिया के घटित होने का तात्पर्य रेलेवेंस तत्त्व की उपस्थिति है, उसी प्रकार रेलेवेंस के उपस्थित होने का तात्पर्य है इन विभिन्न स्तरों से सम्बद्ध कारक तत्त्वों द्वारा उसका प्रायोजित होना। दूसरे शब्दों में यदि कोई सम्भाषण क्रिया घटित हो रही है तो ये तत्त्व वहाँ अवश्यमेव उपस्थित होंगे।

लेखकद्वय डैन स्पर्बर तथा डिएड्री विल्सन ने अपनी पुस्तक में वाक्यार्थ-निर्धारण के प्रचुर उदाहरण प्रस्तुत किये हैं तथा उन-उन प्रसङ्गों में वाक्यार्थ-निर्धारण हेतु रेलेवेंस तत्त्व की उपयोगिता का प्रतिपादन किया है। अध्याय के इस तृतीय खण्ड में यह प्रयास किया गया है कि लेखकों द्वारा प्रदर्शित रेलेवेंस के स्थलों पर उपर्युक्त तत्त्वों की उपयोगिता दिखाई जाये। इससे यह स्पष्ट हो जायेगा कि ये ही तत्त्व वाक्यगत रेलेवेंस के कारक अथवा प्रयोजक हैं। इसके साथ ही रेलेवेंसरहित वाक्यों में स्पष्ट किया जायेगा कि इन स्थलों में उपर्युक्त तत्त्वों की अनुपस्थिति ही रेलेवेंस के अभाव का कारण बनती है।

इस प्रकार अन्वय-व्यतिरेक-मुखेन संयोगादि तत्त्वों की रेलेवेंस के सम्बन्ध में कारणता स्पष्ट हो सकेगी तथा इस अध्याय का केन्द्रीय-विचार ‘भारतीय सिद्धान्तों द्वारा रेलेवेंस सिद्धान्त का पूरण’ भी सम्पन्न हो सकेगा।

संयोगादि तत्त्वों की उपयोगिता दिखाने के लिए यहाँ ‘Relevance’ पुस्तक के चारों अध्यायों में उपस्थापित कुछ प्रमुख तथा प्रतिनिधि उदाहरणों को लिया जा रहा है। इससे स्थालीपुलाकन्याय के द्वारा समस्त वाक्यों में रेलेवेंस के प्रति इन तत्त्वों की उपकारकता स्पष्ट हो जायेगी।

प्रथम अध्याय : सम्प्रेषण (Communication)

सर्वप्रथम लेखकों ने कूट-मॉडल तथा आनुमितिक-मॉडलों की चर्चा करते हुए दोनों को अकेले अकेले अपर्याप्त बताया है। इनके अनुसार भाषिक सम्प्रेषण के दौरान अनेकों अभाषिक तत्त्वों की सहायता ली जाती है। ये तत्त्व ही शाब्द तथा अशाब्द सूचनाओं के मध्य सेतु का काम करते हैं।¹⁰⁷ निश्चित रूप से लेखकों का मन्तव्य पूर्वोक्त प्रतिपादित तत्त्वों से ही है। इनका उदाहरण है -

'I'll come tomorrow.'

यदि इस वाक्य को ऐन (Ann) 30 नवम्बर को कहती है तो वाक्य का अर्थ होगा- 'ऐन 1 दिसम्बर को आयेगी।' यह वाक्यार्थ वाक्य के आर्थ-प्रतिरूपण अथवा व्याकरण के नियमों से अप्राप्य है। यह अर्थ - पूर्वोक्त वक्ता तथा काल के वैशिष्ट्य रूप तत्त्वों की सहायता से ही प्राप्त हो सकता है।

आगे लेखकों ने कुछ और स्थितियों की चर्चा की है जिनमें साधारण वाक्यार्थ तथा उसकी व्याख्याओं में अत्यन्त भेद दिखाई पड़ता है। वक्ता उक्तियों का प्रयोग केवल उनमें निहित विचारों को बताने के लिए ही नहीं करता अपितु वह उन विचारों के विषय में अपनी प्रवृत्तियों तथा सम्बन्धों को भी द्योतित करना चाहता है। उदाहरणार्थ-

'What an honest fellow Joe is.'

इस वाक्य से वक्ता को व्यङ्ग्यात्मक, विस्मयात्मक, सूचनात्मक अथवा काव्यात्मक अर्थ अभिप्रेत हो सकते हैं। इनका निर्णय प्रकरण तथा काकु के वैशिष्ट्य से सरलतापूर्वक हो जाता है।

इस प्रकार ये तत्त्व वाक्यार्थ तथा उससे प्राप्त विभिन्न तात्पर्यों के मध्य सेतु का कार्य करते हैं।

कुछ वाक्य ऊपरी तौर पर तो किसी एक विचार को प्रकट करते हैं जबकि अप्रत्यक्षतः अनेक अन्य अर्थों को सूचित कर सकते हैं।¹⁰⁸ उदाहरणार्थ-

'Coffee would make me awake'

यह वाक्य कॉफी की आवश्यकता तथा अस्वीकृति दोनों को सूचित कर

सकता है। अभीष्ट अर्थ का निर्धारण हम प्रकरण-काल तथा वक्ता के वैशिष्ट्य से कर सकते हैं।

आगे लेखकों ने सन्दिग्धार्थक वाक्यों का उदाहरण दिया है। पिछले पृष्ठों में यह स्पष्ट किया गया था कि ऐसे वाक्यों में प्रथमस्तरीय निर्धारण की आवश्यकता होती है।

'Jones has bought the times'.

यहाँ 'Times' का अर्थ 1. टाइम्स अखबार की एक प्रति तथा 2. वह उद्योग समूह जो 'टाइम्स' का प्रकाशन करता है, दोनों हो सकते हैं। यहाँ 'टाइम्स' शब्द के अर्थ का निर्धारण प्रथम स्तरीय निर्धारण के तत्त्वों प्रकरण, सामर्थ्य तथा औचित्य के द्वारा होकर इस वाक्य का विसन्देह हो पायेगा।

प्रकरणवशात् यह अर्थ स्पष्ट होगा कि जोन्स में 'टाइम्स' उद्योग समूह खरीदने का सामर्थ्य है या उसकी एक प्रति।

आगे लेखकों ने कुछ ऐसे उदाहरण प्रस्तुत किये हैं जो अशाब्द सम्प्रेषण के अन्तर्गत आ सकते हैं। जैसे- पीटर, मेरी से पूछता है -

'How are you feeling today?'

इसके उत्तर में मेरी अपने बैग से एस्पिरिन का डिब्बा निकालकर पीटर को दिखाती है।

यहाँ निश्चित रूप से यह सूचित होता है कि उसे सरदर्द है। यह वाक्यार्थ हमें चेष्टा के वैशिष्ट्य से प्राप्त होता है। यदि उसे सिरदर्द नहीं होता तो वह दवा के डिब्बे को दिखाने की चेष्टा न करती। इसी सम्भाषण का परिवर्तित रूप हमें पुस्तक में अन्यत्र भी प्राप्त होता है, यथा-

'Peter : What do you intend to do today?'

Mary : I have a terrible headache.'

मेरी के वाक्य का स्पष्ट अर्थ है - वह आज कुछ भी नहीं कर पायेगी। यह अर्थ पहले वाले वाक्य से निर्मित प्रकरण तथा 'Terrible headache' शब्द से प्राप्त हुए वाक्य के वैशिष्ट्य से ही प्राप्त हो पाता है। सिरदर्द की अधिकता जता कर वह कार्य के प्रति अपनी असमर्थता सूचित करना चाह रही है।

इस प्रकार स्पष्ट है कि वाक्य के आर्थ प्रतिरूपण एवं तात्पर्य के मध्य रिक्ति का सम्पूर्ण खसन्दिग्धवाक्यों का विसन्देहन या अभाषिक-सम्प्रेषण इन सब कार्यों का सम्पादन उपर्युक्त तत्त्वों की सहायता से होता है, फलस्वरूप वाक्यगत रेलेवेंस तत्त्व का प्रादुर्भाव होता है।

द्वितीय अध्याय : अनुमान

निम्नलिखित संवाद पर ध्यान दें -

Perter - According to the weather forecast, it is going to rain.

Mary - (Standing at the window) It certainly looks like it.

लेखकों के अनुसार मेरी का वाक्य पीटर के वाक्य में स्थित सम्भावना को पुष्ट करता है तथा इसीलिए वह रेलेवेंस-युक्त भी हो जाता है।

वस्तुतः सम्भावना की पुष्टि रूपी सूचना चेष्टा वैशिष्ट्य तथा वाक्य वैशिष्ट्य की सहायता से प्राप्त होती है तथा इसी कारण से वाक्य रेलेवेंस-युक्त हो पाता है।

तृतीय अध्याय : रेलेवेंस सिद्धान्त

इस अध्याय में लेखकों ने सिद्ध किया है कि वे वाक्य जो श्रोता के बौद्धिक-वातावरण में प्रक्रमित (processed) होते हुए कम से कम मानसिक श्रम के व्यय से अधिकाधिक निहितार्थों (implications) को प्राप्त कर लेते हैं वे रेलेवेंस युक्त होते हैं। दूसरे शब्दों में अल्पतर श्रम से अधिकतर सूचनाओं की प्राप्ति ही रेलेवेंस है।

हम इस प्रसङ्ग में यह प्रदर्शित करेंगे कि वस्तुतः संयोगादि तत्त्व ही वे कारक हैं जिनकी सहायता से श्रोता को सूचना (वाक्यार्थ) प्राप्ति हेतु कम श्रम करना पड़ता है तथा सूचनाओं की यथासम्भव अधिक प्राप्ति हो पाती है अर्थात् रेलेवेंस की परिस्थिति प्रादुर्भूत होती है।

प्रारम्भ में लेखकों ने कुछ वाक्यों को उद्धृत किया है। उनके अनुसार सान्दर्भिक निहितार्थों (contextual implications) को न दे पाने के कारण

ये वाक्य रेलेवेंस रहित हैं। हम परीक्षण करेंगे कि वस्तुतः निहितार्थों के न आने का कारण पूर्वोक्त संयोगादि तत्त्वों का अभाव है -

उदाहरण के लिए प्रस्तुत शोध को पढ़ते हुए निम्नाङ्कित दो वाक्य कहे जायें¹⁰⁹ -

1. 5 May 1881 was a sunny day in Kabul.

2. You are fast asleep.

दोनों वाक्य प्रस्तुत प्रसङ्ग से अलग हैं। पहला प्रसङ्ग की दृष्टि से अत्यधिक अप्राप्य है तो दूसरा बिल्कुल विरुद्ध। इस प्रकार प्रकरण नामक तत्त्व की विशिष्टता के अभाव में ही अत्यधिक मानसिक श्रम की अपेक्षा हो रही है तथा सान्दर्भिक प्रभाव भी प्राप्त नहीं हो पा रहे हैं - दूसरे शब्दों में रेलेवेंस का अभाव हो रहा है। उपर्युक्त वाक्यों के लिए यदि हम किसी कृत्रिम सन्दर्भ का निर्माण कर दें तो यह वाक्य निश्चित रूप से रेलेवेण्ट हो जायेगा।

आगे एक संवाद प्रस्तुत किया गया है¹¹⁰

Flage-seller: 'Would you like to buy a flag for the Royal National Lifeboat Institution?'

Passar by: 'No, thanks, I always spend my holidays with my sister in Bermingham.'

झण्डा बेचने वाला, राहगीर के इस विचित्र उत्तर से यह सूचना प्राप्त करता है कि इससे झण्डा खरीदने की उम्मीद नहीं की जा सकती।

यह वाक्यार्थ वस्तुतः वाक्य में प्रयुक्त शब्दों के वाच्य की विशिष्टता से प्राप्त होता है। असम्बद्धता की व्यञ्जना करने वाले शब्दों का वाच्य (अर्थ) ही विक्रेता को इस वाक्यार्थ तक पहुँचाता है।

पृष्ठ 125-26 तथा 27 में लेखकों ने एक कृत्रिम सन्दर्भ का निर्माण करके उसमें दो वाक्यों का प्रक्रमण कराया है तथा उनमें रेलेवेंस के तारतम्य को प्रदर्शित किया है। इस प्रसङ्ग का विशद विवेचन पीछे अध्याय चार में किया जा चुका है।

यहाँ रेलेवेंस के तारतम्य का कारण प्रकरणगत वैशिष्ट्य के अतिरिक्त वाक्यगत संघटना विशेष (जो वाक्यवैशिष्ट्य में अन्तर्भूत हो जायेगी) भी है।

सन्दर्भ पूर्वतः प्रदत्त होता है अथवा प्राप्य इस विषय पर हम-चर्चा करते हुए लेखक अग्रिम संवाद को प्रस्तुत करते हैं¹¹ -

Peter : I am tired.

Mary : The dessert is ready, I' ll make the main course.

मेरी की उक्ति से पीटर दो निष्कर्ष वाक्यार्थ पाता है - 1. भोजन में मुख्य अंश (main course) तथा भोजनोपरान्त की मिठाई (dessert) सम्मिलित है, तथा 2. मेरी भोजन बनायेगी।

मेरी को पीटर के वाक्य का अर्थ वक्तृ-बोद्धव्य काल तथा वाच्यादि के वैशिष्ट्य से प्रतीत होता है कि पीटर की इच्छा है कि मेरी भोजन बनाये।

पीटर भी मेरी के वाक्यार्थ को वक्तृ-बोद्धव्य-काल वाक्य एवं प्रकरण के वैशिष्ट्य से ही प्राप्त कर पाता है।

इन वाक्यार्थों की प्राप्ति हेतु हम केवल प्रकरण-वैशिष्ट्य को कारण नहीं मान सकते - जैसा कि लेखकद्वय ने सर्वत्र माना है। ऐसा होने पर सिद्धान्त प्रतिपादन में सूक्ष्मता तथा सर्वव्यापिता का अभाव बना रहेगा। अन्य तत्त्वों की विशिष्टता हमें प्रत्यक्षतः अनुभूत है जिसका अपलाप नहीं किया जा सकता।

इसी अध्याय के छठे अनुच्छेद में घटनाओं तथा उद्दीपकों के रेलेवेस के सम्बन्ध में यह चर्चा प्रस्तुत की गयी है।¹² घर में गैस की गन्ध पाकर हमारे मन में वाक्यार्थ संख्या 1 तथा 2 तो आ सकते हैं परन्तु 3 के आने की सम्भावना अल्प है -

1. There is a smell of gas.
2. There is a gas leak somewhere in the house.
3. The gas company is not on strike.

प्रश्न उठाया गया है कि इसका निर्धारण कैसे किया जाय कि घटनाओं या उद्दीपकों के द्वारा कौन से विचार आयेंगे तथा कौन से नहीं आयेंगे। लेखकों ने इसका मनोवैज्ञानिक उत्तर देने का प्रयास किया है - जो पिछले अध्याय में संक्षेपतः उपस्थापित किया गया है।

इस प्रसङ्ग में इसी अध्याय के पिछले पृष्ठों में चर्चा आयी है। यहाँ वक्ता

के तात्पर्य को व्यञ्जनाओं का नियन्त्रक माना गया है। घटना या उद्दीपक के प्रसङ्ग में हम बोद्धा की आवश्यकता को तात्पर्यस्थानीय मान सकते हैं। यहाँ बोद्धा को ऐसी कोई आवश्यकता नहीं है जिससे वह तृतीय वाक्यार्थ को प्रक्रमित करके निकालने का प्रयास करे अतः वह ऐसा नहीं करता।

लेखकों के अनुसार - रेलेवेंस के सन्तोषजनक स्तर की अप्राप्ति का अर्थ है कि सम्प्रेषक ने रेलेवेण्ट होने का पूरा प्रयास तो किया परन्तु असफल रहा।¹¹³ उदाहरण के लिए यदि मेरी को ज्ञात है कि पीटर Iris Murdoch नामक लेखक की सब किताबें खरीदता है और वह देखती है कि उक्त लेखक की एक नई किताब स्थानीय पुस्तक की दुकान पर आ गयी है तो बहुत सम्भव है कि वह पीटर के प्रति निम्नलिखित उक्ति का प्रयोग करे -

'Iris Murdoch's new book is in the bookshoop.' ध्यातव्य है कि यहाँ उसके उपर्युक्त वाक्य के रेलेवेंस का दायित्व बोद्धव्य (पीटर) सम्बन्धी विशिष्टता को है।

परन्तु यदि पीटर को पहले से उस नवीन पुस्तक के बारे में पता हो तो वो मेरी का उपर्युक्त वाक्य (उस प्रयोजन विशेष के सम्बन्ध में) रेलेवेंस-रहित हो जायेगा। क्योंकि वहाँ उपर्युक्त बोद्धव्य वैशिष्ट्य का अभाव प्राप्त होगा। बोद्धव्य विशिष्टता से तात्पर्य है कि बोद्धव्य पीटर उक्त लेखक की सब किताबें खरीदने वाला है तथा नवीन पुस्तक के बारे में उसे जानकारी नहीं है।

इस प्रकार रेलेवेंस की स्थिति तथा उसका अभाव दोनों ही इन तत्त्वों से प्रयोजित होते हैं।

चतुर्थ अध्याय : शाब्द सम्प्रेषण के विभिन्न पक्ष

प्रस्तुत चतुर्थ अध्याय में लेखकद्वय ने भाषिक सम्प्रेषण के विभिन्न पक्षों पर विचार करते हुए सर्वत्र रेलेवेंस-सिद्धान्त की व्यापकता को सिद्ध करने का प्रयास किया है। इसका सार संक्षेप तथा आलोचना प्रस्तुत प्रबन्ध के चतुर्थ अध्याय में दी गयी है।

इस प्रसङ्ग में लेखकों ने प्रचुर उदाहरण प्रस्तुत किये हैं। यहाँ पर भाषिक विश्लेषण सम्बन्धी अनेकानेक समस्याएँ, जो सामान्य सिद्धान्तों के परिप्रेक्ष्य में

असमाधेय हैं, उन्हें रेलेवेंस सिद्धान्त द्वारा समाहित करने का प्रयत्न किया गया है, परन्तु उदाहृत वाक्यों में रेलेवेंस के कारक तत्त्वों का निर्देश नहीं किया गया है। प्रस्तुत शोध द्वारा इन्हीं कारक तत्त्वों के पहचान तथा उपयोग का प्रयत्न किया जा रहा है। सम्भावना है कि वाक्यगत रेलेवेंस का सुपरिभाषित वर्णन इन तत्त्वों के परिप्रेक्ष्य में हो सकेगा।

हम यहाँ पर देखेंगे कि जहाँ-जहाँ रेलेवेंस की व्यापकता बताई जा रही है वहाँ- वहाँ मूल में रेलेवेंस के कारक के रूप में उपर्युक्त संयोगादि तत्त्वों की उपस्थिति निश्चित रूप से है।

इससे इन तत्त्वों द्वारा रेलेवेंस सिद्धान्त की सम्यक् व्याख्या की जा सकेगी तथा इसके कारणों को सङ्केतित करते हुए उसे निश्चित किया जा सकेगा।

अधोलिखित उक्ति की कम से कम दो व्याख्याएँ सम्भव हैं- 'He's a bastard.'

1. Peter is a nasty man.

2. Peter is illegitimate.

इन दो व्याख्याओं में से जो वक्ता को अभिप्रेत अर्थ है प्रायः श्रोता वही अर्थ ग्रहण करता है।¹¹⁴ इस प्रसङ्ग में श्रोता द्वारा अभीष्ट अर्थ की प्राप्ति हेतु प्रकरण तथा काकु दोनों तत्त्व सहायक के रूप में देखे जा सकते हैं या तो वक्ता पीटर को गाली देना चाहता है या रहस्योद्घाटन करना चाहता है। दोनों स्थितियों में काकु की स्थिति परिवर्तित हो जायेगी।

अगले अनुच्छेद में वाक्य के अभिहितार्थ (Explicatures) तथा निहितार्थों (Implicatures) की चर्चा हुई है। यहाँ विभिन्न स्तरों पर बोद्धा द्वारा सम्पादित होने वाले कार्यों की भी चर्चा है। इसका सार प्रस्तुत शोध प्रबन्ध के चतुर्थ अध्याय में प्रस्तुत किया गया है।

इस प्रसङ्ग में हम कह सकते हैं कि श्रोता किसी भी उक्ति के अभिहितार्थ (Explicatures) की प्राप्ति प्रथम तथा द्वितीय स्तर के निर्धारणों से जबकि निहितार्थों की उपलब्धि तृतीय- स्तरीय निर्धारण से करता है। उदाहरण के लिए निम्नलिखित वाक्य में मेरी ने पीटर से कहा -

'It will get cold'

प्राथमिक स्तर पर इसके निम्नाङ्कित अभिहितार्थ सम्भव है -

- (i) Mary has said to Peter 'It will get cold.'
- (ii) Mary has said that the dinner will get cold very soon.
- (iii) Mary believes that the dinner will get cold very soon.

ये सभी वाक्यार्थ प्रकरण तथा कालादि की सहायता से स्पष्ट हो रहे हैं।

इससे एक अधोलिखित निहितार्थ भी स्पष्ट होता है -

'Mary wants Peter to come and eat dinner at once.'

इस प्रकार का वाक्यार्थ तृतीय निर्धारण स्तर पर काल तथा वाक्य के वैशिष्ट्य से प्राप्त हो रहा है। काल का अतिपात तथा वाक्य की विशिष्ट संघटना द्वारा वक्त्री का अभिप्रेत अर्थ प्राप्त होता है।

चतुर्थ परिच्छेद में लेखकों ने किसी भी वाक्य के प्रातिज्ञप्तिक-रूप की पहचान के बारे में चर्चा की है।¹⁵ वाक्यगत प्रातिज्ञप्तिक रूप का निर्धारण वस्तुतः प्रथम तथा द्वितीय निर्धारण के क्षेत्र में आता है। इस प्रसङ्ग में अनेकार्थक शब्दों से घटित वाक्यों के उदाहरण दिये गये हैं -

I saw a gasolin can explode.

इस वाक्य की निम्नलिखित दो व्याख्याएँ हो सकती हैं-

- (i) I saw that it is possible for gasoline to explode, .
तथा
- (ii) I saw that can of gasoline explode.

'Can' शब्द का विसन्देहन सामान्यतया प्रथमस्तरगत 'प्रकरण' तत्त्व के द्वारा सम्भव है। तथापि यदि वक्ता का अगला वाक्य हो -

'And a brand new gasoline can it was too.'

तब इसके द्वारा निर्धारण द्वितीय वाक्यार्थ (ii) के अनुकूल ही होगा। उपर्युक्त निर्धारण वस्तुतः लिङ्ग नामक कारक तत्त्व से सम्भव हो पाया है।

इस प्रसङ्ग में अनेकार्थक वाक्यों के और भी उदाहरण दिये गये हैं, यथा-

'The child left the straw in the glass'.

अग्रिम उदाहरणों के द्वारा ग्रन्थकारों ने वाक्यगत-भाषिक संरचना तथा प्रैग्मैटिक प्रभावों के मध्य सम्बन्धों का अध्ययन प्रस्तुत किया है। उदाहरण प्रस्तुत है -

(a) It rained on **MONDAY**.

(b) On Monday it **RAINED**.

(c) On **MONDAY** it rained.

वाक्यों के पदक्रम में परिवर्तन के साथ-साथ दीर्घवर्णीय (Capital lettered) पदों पर बलाघात का भी प्रयोग किया गया है।

तीनों वाक्यों में प्राप्त अर्थभेद की व्याख्या हम 'वाक्य' तथा 'काकु' वैशिष्ट्य नामक तत्त्वों से सरलता से कर सकते हैं।

अगले अनुच्छेद में काव्यात्मक शैली तथा निहितार्थों के बारे में चर्चा की गई है। इस प्रसङ्ग में लेखकों की धारणा है कि कवि की कविता शैली का लक्ष्य रेलेवेस प्राप्त करना होता है।¹¹⁸ वह अपनी शैली का परिवर्तन रेलेवेस प्राप्ति की दिशा की ओर करता है। इस प्रसङ्ग यह सुझाव दिया जा रहा है कि पूर्वोक्त संयोगादि तत्त्व ही काव्यात्मक शैलियों की भिन्नता के अनुसार अर्थों की प्रतीति कराकर रेलेवेस-तत्त्व को उन-उन परिस्थितियों में सम्भव बनाते हैं।

उदाहरण के लिए -

Peter : Is Jack a good sailor?

पीटर के इस प्रश्न पर उत्तर के लिए मेरी तीन शैलियाँ अपनाती हैं -

Mary : (i) Yes, he is

(ii) All the English are good sailors.

(iii) He is English.

तीनों वाक्यों में वाक्य तथा वाच्यगत वैशिष्ट्यों के कारण उत्तरोत्तर निहितार्थों का आधिक्य प्राप्त हो रहा है।

आगे आवृत्ति के कुछ उदाहरण प्रस्तुत किये गये हैं तथा यह बताया गया है कि आवृत्ति से प्राप्त होने वाले निहितार्थ सदैव नियत तथा सदृश नहीं होते। उदाहरण के लिए -

1. We went for a **long, long** walk.
2. There were **houses, houses** every where.
3. I shall **never, never** smoke.
4. There's a **fox, a fox** in the garden.
5. My childhood days are **gone, gione**.

इन वाक्यों के अर्थों में वैभिन्न्य को लेखकों ने सम्यक्तया प्रतिपादित किया है। यद्यपि यहाँ पदों की आवृत्ति रूप एक ही तत्त्व प्रयुक्त है तथापि वाच्यवैशिष्ट्य तथा प्रकरण वैशिष्ट्य की प्रति वाक्य भिन्नता के कारण अर्थ में भेद स्वाभाविक ही है।

अगले अनुच्छेद में सुझाया गया है कि यह आवश्यक नहीं है कि किसी वाक्य का प्रातिज्ञप्तिक-रूप तथा उसका अभिहितार्थ दोनों समान हों।¹¹⁹ ध्यातव्य है कि इस प्रकार के वाक्यों को भारतीय अर्थविदों ने लाक्षणिक प्रयोग कहा है - फलतः इसके निर्धारण हेतु द्वितीय स्तर के तत्त्वों का प्रयोग न्याय्य होगा। उदाहरणार्थ -

'This room is a pigsty.' किसी के अव्यवस्थित और गन्दे घर को देखकर कहे गये इस वाक्य का स्पष्टतः प्रातिज्ञप्तिक रूप होगा -

'The speaker is saying that the room is a pigsty'

इस वाक्य को सुनकर श्रोता सुअरों को नहीं देखने की कोशिश करता। इसका अर्थ है कि वह इस वाक्य का शाब्दिक अर्थ स्वीकार नहीं करता। प्राथमिक वाक्यार्थ के बोध के उपरान्त सादृश्य नामक सम्बन्धात्मक तत्त्व से वाक्यार्थ का यथावत् बोध हो पायेगा। वक्ता कहना चाहता है कि जिस प्रकार सुअरों का बाड़ा गन्दा तथा अव्यवस्थित रहता है, उसी प्रकार यह कमरा भी गन्दा तथा अव्यवस्थित है।

अगले अनुच्छेद में प्रदत्त उदाहरण - 'Robert is a bulldoger' भी इसी सादृश्य तत्त्व को स्वीकार करने पर समाधेय होगा।

व्यङ्ग्य (Irony) का प्रतिपादन करते हुए लेखकों ने एक संवादात्मक दृश्य उपस्थित किया गया है -

(A) Peter : It's a lovely day for a picnic.

(They go for a picnic and the sun shines.)

Mary: (happily) : It's a lovely day for a picnic indeed.

(B) **Peter** - : It's a lovely day for a picnic.

(They go for a picnic and it rains.)

Mary : (sarcastically) : It's a lovely day for a picnic indeed.

दोनों प्रसंगों में मेरी के वाक्यों की भिन्नार्थकता स्पष्ट है। यह भेद वक्ता, बोद्धा, काकु तथा काल के वैशिष्ट्य से प्राप्त होती है।

मेरी के बोलने के विभिन्न लहजों से हमें वाक्यार्थ में भेद ज्ञापित होता है। ये लहजे काकु के कारण विभिन्नता को प्राप्त हुए हैं।

दसवें तथा अन्तिम अनुच्छेद में वाग्व्यापारों की चर्चा की गयी है। लेखकों ने स्पष्ट किया है कि ये व्यापार रेलेवेंस सिद्धान्त को ध्यान में रखकर ही सुबोधतया व्याख्यात हो पाते हैं। यहाँ भी यह सुझाव है कि विभिन्न प्रकार के वाग्व्यापारों की व्याख्या हमें संयोगादि तत्त्वों के प्रसङ्ग में ही करनी होगी। इससे यह तथ्य स्पष्ट हो जायेगा कि एक वाक्य के अनेक व्यापारों में कौन-कौन से कारक हेतु बन रहे हैं।

उदाहरणार्थ - 'The Battery's gone flat'.

इस वाक्यविशेष के द्वारा वक्ता के दो प्रकार के वाग्व्यापार अभिप्रेत हो सकते हैं-

(i) The hearer shouldn't have let the battery go flat.

(ii) The hearer should get the battery recharged.

इन प्रकार के व्यापारों की व्याख्या वक्तृ-बोद्धव्य-काकु तथा प्रकरण इन तत्त्वों के वैशिष्ट्य से की जा सकती है। वाक्य में काकु प्रयोग से ज्ञापित हो सकेगा कि वक्ता श्रोता को डाँट रहा है अथवा उससे प्रार्थना कर रहा है।

कभी-कभी वाक्य जिस प्रकृति का होता है उसके लिए निर्धारित कार्यों को नहीं करता। उदाहरण के लिए अधोलिखित विध्यात्मक वाक्य विपरीत निषेधात्मक वाक्य की प्रक्रिया सम्पादित करता है -

‘Go ahead and ruin my carpet.’

इसी प्रकार आगे उद्धृत प्रश्न प्रश्नात्मक प्रकार्य बिल्कुल नहीं करता।

‘What monster would dare to harm a sleeping child?’

वाक्यों के विभिन्न कार्यों का निर्धारण वस्तुतः इन्हीं संयोगादि तत्त्वों के द्वारा किया जा सकता है। उदाहरणार्थ वक्तृ-बोद्धव्य, प्रकरण एवं काकु तत्त्वों के वैशिष्ट्य से प्रथम वाक्य कठोर निषेध में परिणत हो जाता है।

वाग्व्यापार के सिद्धान्त की व्याख्या रेलेवेंस तत्त्व को ध्यान में रखकर ही की जा सकती है। सामान्यतया हम मानते हैं कि प्रश्नवाचक वाक्यों का व्यापार ‘सूचना के लिए प्रार्थना’ होता है। परन्तु लेखकों ने अनेकानेक ऐसे प्रश्नवाचक वाक्य उद्धृत किये हैं जो विभिन्न अन्य व्यापारों को सम्पादित करते हैं। हम देखेंगे कि सर्वत्र इन भिन्न-भिन्न व्यापारों की व्याख्या संयोगादि तत्त्वों के आलोक में कैसे हो जाती है।

(i) What are the causes of the First World War?

यह एक परीक्षा में पूछा गया प्रश्न है अतः इसका तात्पर्य है कि परीक्षार्थी को उत्तर पत्रिका पर युद्ध के कारणों को यथा-समय लिखना है। यह अर्थ वक्ता (परीक्षक), बोद्धव्य (परीक्षार्थी) तथा प्रकरण (परीक्षा सम्बन्धी) विशिष्टता से निर्गत होता है।

(ii) When did you say you were going to give up smoking?

इसमें प्राश्निक काल विशेष नहीं जानना चाहता। वह सूचित करना चाहता है वह बोद्धा की उस बुरी आदत से त्रस्त है। यह अर्थ भी वक्ता तथा सम्बोध्य की विशिष्टता से प्राप्त होता है।

(iii) Why do the leaves of different trees go different colours in autumn?

यह सम्बोध्यविहीन प्रश्न है जो वक्ता स्वयं अपने विचार-प्रसार को केन्द्रित करने हेतु उच्चरित कर रहा है। प्रकरण ही इसका निर्धारक है।

अगला प्रश्न इसी कोटि का है जिसे कोई लेखक या भाषणकर्ता स्वयं करता है तथा स्वयं इसका उत्तर भी प्रदान करता है।

(iv) What are the main objections to this approach?
first... second...

इस प्रकार हम देखते हैं वाग्व्यापार की दिशाएँ संयोगादि-तत्त्वों से प्रयोजित रेलेवेँस द्वारा ही नियन्त्रित होती हैं।

इस प्रकार तृतीय-खण्ड में ग्रंथकारों द्वारा उद्धृत रेलेवेँस के उदाहरणों के मूल में इन तत्त्वों की कारणता को उद्दिष्ट करने का प्रयत्न किया गया। इससे यह तथ्य परिपुष्ट होता है कि रेलेवेँस के साथ अविनाभूत सम्बन्ध से स्थित रहने वाले इन तत्त्वों का समस्त प्रकार के मानवीय सम्प्रेषणों के साथ भी अनिवार्य सम्बन्ध है।

तृतीय खण्ड के साथ ही पञ्चम अध्याय परिपूर्ण होता है। इसमें भारतीय-अर्थ विज्ञान की प्रतिपत्तियों के द्वारा रेलेवेँस सिद्धान्त की परिपूर्ति तो दिखायी ही गयी साथ ही वाक्यार्थ-निर्धारण की सभी परिस्थितियों के लिए तीन भिन्न-भिन्न स्तर, उन पर प्रयुक्त होने वाले सभी तत्त्व तथा उन तत्त्वों की प्रक्रियाओं का भी विशद वर्णन किया गया।

वस्तुतः इस वर्णन में भारतीय-दृष्टि से वाक्यार्थ-निर्धारण के एक परिपूर्ण प्रयोगात्मक-मॉडल का प्रतिपादन किया गया है। इससे वाक्यार्थ प्रक्रिया की व्याख्या के साथ-साथ अनेक अर्थवैज्ञानिक समस्याओं जैसे प्रतिज्ञप्ति निर्धारण, विसन्दिग्धीकरण, सन्दर्भ-निर्धारण, वाग्व्यापारों की व्याख्या आदि प्रश्नों का सरलता एवं स्वाभाविकता के साथ उत्तर दिया जा सकता है। तथा भारतीय एवं पाश्चात्य अर्थविज्ञान की पारस्परिक सहयोगिता से आज तक अनुत्तरित अर्थ-विश्लेषण सम्बन्धी अनेक अन्य प्रश्नों के उत्तर खोजने की दिशा में अग्रसर हुआ जा सकता है।

निष्कर्ष एवं उपसंहार

प्रस्तुत अध्ययन से निस्सृत निष्कर्षों के सम्पूर्ण बिन्दुओं को समेकित रूप में निम्नोक्त प्रकार से देखा जा सकता है -

(क) प्रस्तुत अध्ययन में भारतीय दृष्टिकोण का उपयोग करके वाक्यार्थ-निर्धारण के उन तत्त्वों का वर्णन किया गया जो वाक्यार्थ के तीन स्तरों

अथवा प्रकारों से सम्बन्धित हैं। इस प्रसङ्ग में यह दिखाने का प्रयास किया गया कि वस्तुतः ये तत्त्व ही किसी वाक्य के रेलेवेंस के कारक तत्त्व हैं। रेलेवेंस की प्रक्रिया तथा उसके कारक तत्त्व अब तक अपरिभाषित रहे हैं। इन त्रिस्तरीय निर्धारक तत्त्वों का उपयोग करके रेलेवेंस सिद्धान्त को स्पष्ट किया जा सकेगा। इन तत्त्वों के उपयोग से हम वाक्यार्थ की दिशा तथा उसके स्वरूप का निश्चय कर सकते हैं। इस प्रकार वाक्यार्थ की चिर-अनुभूत अनिर्धारणीयता तथा अननुमेयता कम होगी और इसकी निश्चितता में अभिवृद्धि होगी। इस प्रकार ये कारक रेलेवेंस-तत्त्व को सुपरिभाषित तथा पूर्ण बनाकर इसे बृहत् स्तर पर सामाजिक, सांस्कृतिक तथा वैज्ञानिक उपयोग के योग्य बना सकते हैं। इसके द्वारा भारतीय एवं पाश्चात्य अर्थ-विज्ञान की पारस्परिक सहयोगिता से अर्थ विश्लेषण सम्बन्धी अनेक अन्य प्रश्नों के उत्तर खोजने की दिशा में अग्रसर हुआ जा सकता है।

(ख) भारतीय दृष्टि से रेलेवेंस के कारक तत्त्वों के अन्वेषण के प्रयत्न में अनेक महत्त्वपूर्ण परिणाम प्राप्त हुए। वाक्यार्थ-निर्धारक तत्त्वों को समेकित रूप में देखने के प्रयास के फलस्वरूप सभी प्रकार के वाक्यों तथा उनके अर्थों के निर्धारण के लिए एक उपयोगी मॉडल उभर कर सामने आया है। इसकी प्रक्रिया तीन स्तरों पर कार्यरत होकर सम्प्रेषण मात्र में प्रयुक्त सभी प्रकार के वाक्यों का अर्थनिर्धारण कर सकती है - साथ ही इस मॉडल से वाक्यों द्वारा प्राप्त बहु-आयामी अर्थों की प्रक्रिया तथा उसके कारणभूत तत्त्वों की समर्थ व्याख्या भी हो सकती है।

भारतीय अर्थविज्ञान के सिद्धान्तों को उपर्युक्त रीति से पुनर्व्यवस्थापित करने से प्राचीन भाषाविदों के अर्थसम्बन्धी अन्वेषणों की पूर्णता तो प्रकट होती ही है साथ ही साथ आधुनिक व्यावहारिक तथा सैद्धान्तिक जगत् में इन अन्वेषणों की महती उपयोगिता भी सम्भावित होती है। इस मॉडल के द्वारा आधुनिक अर्थविज्ञान की अनेक समस्याओं जैसे प्रतिज्ञप्ति-निर्धारण, विसन्देहन, सन्दर्भनिर्धारण तथा वाग्व्यापारों की व्याख्या आदि का भारतीय दृष्टि से उचित समाधान प्रस्तुत किया जा सकता है।

(ग) भारतीय अर्थ विषयक सिद्धान्तों के पुनर्व्यवस्थापन के प्रसङ्ग में अनेक नवीन उपपत्तियाँ प्राप्त हुईं। इनमें से उल्लेखनीय तथ्यों को बिन्दुवार उपस्थापित किया जा रहा है-

1. वाक्यार्थ बोध वाक्यार्थ निर्धारणपूर्वक ही होता है। यह सञ्ज्ञानात्मक प्रक्रिया का स्वभाव है कि मनुष्य को भाषागत सभी प्रकार के सन्दिग्ध अथवा असन्दिग्ध वाक्यों का ग्रहण निर्धारण के अनन्तर ही होता है।
2. भाषागत वाक्यों का अर्थनिर्धारण तीन स्तरों पर सम्पन्न होता है। इन स्तरों का विभाजन इन पर प्राप्त होने वाली प्रक्रियाओं तथा निर्धारित अर्थों की विलक्षणता के आधार पर किया गया है। इन अर्थों को सुपरिचित शब्दावली में क्रमशः - वाच्य, लक्ष्य तथा व्यङ्ग्य अर्थ कहा जा सकता है।
3. प्रथम तथा तृतीय स्तर से सम्बन्धित निर्धारण की प्रक्रिया का सम्बन्ध भाषा में प्रयुक्त सभी वाक्यों से होता है। जबकि द्वितीयस्तरीय निर्णय वाक्यविशेष की अपेक्षा रखता है। अतः सार्वत्रिक नहीं होता।
4. इन स्तरों पर प्रयुक्त निर्धारक तत्त्वों के दो व्यापार माने जा सकते हैं निर्धारण तथा नियन्त्रण। विधेयात्मक व्यापार के द्वारा वे अभीष्ट अर्थ के अन्वेषण में दिशा निर्देश करते हैं - जबकि निषेधात्मक व्यापार के द्वारा वे श्रोता को अनिष्ट अर्थ की ओर भटकने से नियन्त्रित करते हैं।
5. श्रोता इन स्तरीय प्रक्रियाओं तथा कारक तत्त्वों की आवश्यकता का अनुभव जितना कम करता है सम्प्रेषण प्रायः उतना ही सफल तथा सुगम होता है।
इन तत्त्वों की आवश्यकता का अधिक अनुभव सम्प्रेषणगत बाधाओं को सूचित करता है।
6. ये सभी तत्त्व काव्यात्मक तथा लौकिक दोनों प्रकार के वाक्यों में समान रूप से प्रयोजनीय हैं। इस तथ्य के स्पष्टीकरण के लिए इन तत्त्वों के सम्बन्ध में लौकिक उदाहरण प्रस्तुत किये गये हैं।
7. इन तत्त्वों के अनेकधा विभाजन के साथ अनेक नवीन तत्त्वों का ऊह भी किया गया है, जो अर्थ निर्धारण में सहायक होते हैं, ये हैं - अन्वय, समास, सन्धि, वचन, वर्णविकार तथा प्रत्यय वैशिष्ट्य।

8. इस प्रसङ्ग में यह तथ्य भी स्पष्ट होता है कि वाक्यगत किस शब्द को निर्धारण की कितनी आवश्यकता होती है। उदाहरणार्थ - सर्वनामों को निर्धारण की सर्वाधिक तथा क्रियापदों को निर्धारण की सबसे कम आवश्यकता पड़ती है।
 9. द्वितीयस्तरीय निर्धारण में मुख्यार्थ तथा लक्ष्यार्थ के मध्य जो सम्भावित सम्बन्ध हैं, उन्हें लक्ष्यार्थ के निर्धारक के रूप में पहचाना गया है।
 10. प्रस्तुत अध्ययन से अर्थविषयक चिन्तन के क्षेत्र में भारतीय शास्त्रकारों के प्रतिपादनों की प्रचुरता, व्यापकता तथा सूक्ष्मता स्पष्ट रूप से सिद्ध होती है। अर्थ निर्धारण के भाषिक तथा अभाषिक सभी प्रकार के तत्त्वों का सूक्ष्म वर्णन चिन्तन की परिपक्वता तथा पूर्णता को दिखाता है। चिन्तन विषयक उपर्युक्त प्रौढता तथा सम्पूर्णता आधुनिक भाषाविदों के द्वारा अब तक दुर्लभ एवम् अस्पष्ट ही है।
- इस प्रकार प्रस्तुत अध्ययन पाँच अध्यायों में सम्पूर्ण होता है।

सन्दर्भ

1. 'यस्मिंस्तूच्चरिते शब्दे यदा योऽर्थः प्रतीयते। तमाहुरर्थं तस्यैव नान्यदर्शस्य लक्षणम्॥' (वाक्य० 2/329)
इसकी व्याख्या के लिये देखें पृष्ठ-
2. 'प्रतीयमानं पुनरन्यदेव' (ध्वन्यालोक। - 1/4)
3. तु० - 'नियन्त्रणमपरार्थस्मृतिप्रतिबन्धः' (सारबोधिनी, पृ० 384)
'नियन्त्रणमर्थान्तरबोधप्रतिबन्धः' (आदर्श, पृ० 388)
4. उदाहरणार्थ - म० भा० 1/2/45, 1/3/5, 1/3/19 एवं 1/3/66
5. 'संयोगो विप्रयोगश्च...' आदि (काव्यप्रकाश 2/19 तथा साहित्यदर्पण 2/14 की वृत्ति में)
6. 'नियतेन संसर्गिणा' (पुण्यराज, वा० प० 2/315-16 की व्याख्या में)
7. 'संयोगः प्रसिद्धार्थस्य गुणविशेषरूपः सम्बन्धः' - (सुधासागरः, पृ० 390)
8. 'विप्रयोगोऽपि प्रसिद्धयोगसमानाधिकरणो निमित्तविशेषात् कदाचिद्विरहः', (दीपिका, पृ० 377)
9. 'यथा निर्ज्ञातसम्बन्धस्योच्यते अकिशोरा धेनुः अवत्सा अकरभा वा आनीयतामिति।' (पुण्यराज, वा० प० 2/314-15 की व्याख्या में)

10. अष्ट्य० 1/3/66
11. धा०पा० रुधादि 17
12. धा०पा० तुदादि 137
13. 'एकस्मिन् कार्ये परस्परपेक्षित्वम् साहचर्यम्'। (विवृतिपूर्ति, पृ० 253)
14. 'साहचर्यं कार्यतः कालतो देशतश्च साहित्यम्।' (विवरण - पृ० 392)
15. अष्ट्य० 1/3/19
16. 'विरोधिता बाध्यबाधकभावः सहानवस्थितिश्च।' (विवेक, पृ० 375)
17. छाया शब्द अनेकार्थक है- 'छाया सूर्यप्रिया कान्तिः' (अमरकोष - 3/157)
18. 'अर्थस्तु शाब्दत्वाच्छब्दार्थनिर्णयं प्रकल्पयति।' (पुण्यराज, वा०पा० 2/314)
19. 'प्रकरणं बुद्धिसान्निध्यम्' (दर्पण - पृ० 377)
20. 'वक्तृश्रोतृबुद्धिस्थितलक्षणेन प्रकरणेन...' (विवेक - पृ० 375)
21. (i) 'तथात्र प्रकरणमप्यशब्दं शब्दार्थनिर्णयनिमित्तम्' (पुण्य०, वा०पा० 2/314)
(ii) 'प्रकरणमशब्दम् अर्थस्तु शब्दवानित्यनयोर्भेदः' (सङ्केत - पृ० 373)
22. 'लिङ्गम् संयोगातिरिक्तसम्बन्धेन परपक्षव्यावृत्तो धर्मः' (काव्यप्रदीप-पृ० 387)
23. 'लिङ्गम् नानार्थपदशक्यान्तरावृत्तेरेकशक्यगतः साक्षाच्छब्देवेद्यो धर्मः' (विवृतिपूर्ति, पृ० 253)
24. 'लिङ्गाच्च वाक्यान्तरे दृष्ट्यद् भेदः प्रसिद्धः प्रतीयते' (पुण्यराज, वा०पा० 2/315-16)
25. 'अन्यस्य अव्यभिचारिण इत्यर्थः' (दीपिका, पृ० 377)
26. 'निर्दिष्टक्रियाजनन सामर्थ्यम्' (आदर्श, पृ० 374)
27. 'औचित्यं प्रकृतोपयोगित्वम्' (विकृति, पृ० 252)
28. 'देशः समभिव्याहृतः प्रदेशः' ((विवृति, वही)
29. रुचिरा, पृ० 267
30. 'व्यक्तिः प्रातिपदिकार्थव्यञ्जकं पुंस्त्वादिः' (रुय्यक कृत सङ्केत, पृ० 373)
31. पुण्यराजकृत 2/314 की टीका में 'वक्ष्यति च' का उपक्रम करके उद्धृत किया गया यह श्लोकार्थ उपलब्ध संस्करणों में प्राप्य नहीं है।
32. 'मुख्यार्थबाधे' - (काव्यप्रकाश 2/9)
33. 'मुख्यार्थबाधश्च मुख्यार्थस्य समभिव्याहृतपदार्थेऽन्वयबाध एव, पदार्थस्य क्वचिदप्यबाधात्।' (दर्पण, पृ० 257)
34. विवरणम्, (पृ० 259)
35. 'बाधः प्रमाणपराहतत्वम्' (साहित्यचूडामणि, पृ० 250)
36. '...इयमभिधैव मुख्येऽर्थे बाधकेन विधुरीकृता प्रविवित्सुः निरुध्यमाना सती अचरितार्थत्वात् अन्यत्र प्रसरति; अत एवामुख्योऽस्यायमर्थ इति व्यवहारः; तथैव चामुख्यतया संकेतग्रहणमपि तत्रास्ति इत्यभिधापुच्छभूतैव लक्षणा।' (ध्वन्यालोक लोचन, पृ० 278)

37. 'भेदाविमौ च सादृश्यात् सम्बन्धान्तरतस्तथा।' (का०प्र० 2/12)
28. 'शक्तिलक्षणाभ्यामतिरिक्तैव गौणी वृत्तिरिति मीमांसकाः। सा च तदतिरिक्ता नेति नैयायिका आहुः।' (लौगाक्षिभास्करकृत न्यायसिद्धान्तमञ्जरीप्रकाश, उद्धृत - न्यायकोश, पृ० 271)
29. 'तद्भिन्नत्वे सति तद्गतभूयोधर्मवत्त्वम् सादृश्यम्' (न्या०सि०मु० - प्रत्यक्ष खण्ड)
40. ध्वन्यालोकलोचन - पृ० 278
41. काव्य प्रकाश (2/12 की वृत्ति, पृ० 300)
42. सङ्केत, पृ० 247, तथा विवेक पृ० 304
43. काव्य प्रकाश - 'उपकृतं बहु तत्र किमुच्यते सुजनता प्रथिता भवता परम्। विदधदीदृशमेव सदा सखे सुखितमास्व ततः शरदां शतम्॥' (सा०द० 2/7 की वृत्ति में उद्धृत, पृ० 190)
44. 'न्यायसूत्रस्य व्याख्यासु' इति विवृतिपूर्तिः, पृ० 197
45. 'प्रातिपदिकार्थलिङ्गपरिमाणवचनमात्रे प्रथमा' पा०सू० अष्ट्य० 21/43/46
46. न्याय सूत्रकार 2/2/64
47. न्याय सूत्रकार 2/2/64
48. वही, 2/2/64वही
49. काव्यप्रकाश 3/1 का उत्तरार्द्ध एवं 2
50. "अर्थपदेन वाक्यार्थ उच्यते। स केवलाभिधाप्रयोज्यो लक्षणया व्यञ्जनया च प्रयोज्य," (विवरणम् पृ० 418)
51. "...स्वार्थे प्रत्यये पुनः अभिधादय एव भवन्तु व्यापारा इति भावः" (दीपिका पृ० 414)
52. साहित्यदर्पण, - 2/16-17 का पूर्वार्द्ध
53. विस्तारिका, पृ० 415
54. का०प्र० 3/21, उ०सं० - 13, पृ० 419
55. 'न ह्यत्र बोद्धव्यादीनां सामर्थ्यम्, सत्याः वक्तृत्वे सति ते हि नैवविधं व्यङ्क्तुमलम्।' (सङ्केत पृ० 419)
56. 'बोद्धव्यः प्रतिपाद्यः' (का०प्र० 3/21/-22 की वृत्ति)
57. मधुमती पृ० 415, विस्तारिका पृ० 415, 'बोद्धव्य इति अन्तर्भूतण्यर्थः" सङ्केत पृ० 413
58. का०प्र०, 3/21, उ०सं० 14, पृ० 424
59. काव्यप्रकाशखण्डनम्, पृ० 427, सा०द० 2/14 की वृत्ति, पृ० 286
60. लक्ष्मी पृ० 300 पर उद्धृत
61. साहित्य दर्पण 2/14 की वृत्ति, पृ० 299

62. 'न च वाच्यसिद्धयङ्गमत्र काकुरिति गुणीभूतव्यङ्ग्यत्वम् शङ्क्यम्। प्रश्नमात्रेणापि काकोर्विश्रान्तेः।' (का० प्र० 3/15 पर वृत्ति।)
63. 'वाक्योपात्तपदसमन्वयान्यथानुपपत्तेः वाक्यपर्यालोचनयावसीयते।' (आदर्श-पृ० 438)
64. (i) 'अत्र वाक्यस्य वैशिष्ट्यं साकूतपदगर्भत्वम्' (विवरण - पृ० 442)
(ii) 'वाक्यसमन्वितेः प्रयोजकं पदमत्र वाक्यमुच्यते' (विवेक - पृ० 439)
65. पृ० 440
66. काव्यप्रकाशखण्डनम्, पृ० 441
67. विवरण - पृ० 442
68. दीपिका - पृ० - 444
69. का० प्र० 3/21, उ० सं० 17, पृ० 443
70. "वाक्यवैशिष्ट्ये 'तइआ' 'एण्हं' इति सर्वनामविकारौ णेसीति लट्प्रत्ययश्च परिवृत्तिं न सहन्त इति वाच्यवैशिष्ट्यादिविशेषः। तेन वाच्यवैशिष्ट्यद्वारैव वाक्यवैशिष्ट्य-व्यञ्जनोपयोगेऽपि पृथक् परिगणनं न विरुध्यते।" (विवरणम् पृ० 446)
71. का० प्र० 3/21, उ० सं० 18, पृ० 448
72. आदर्श, (पृ० 451)
73. 'इह वक्तृप्रतिपाद्यैकबुद्धिस्थलक्षणस्य प्रकरणस्य वैशिष्ट्यम्।' (विवेक :, पृ० 452)
74. विवरणम् (पृ० 454)
75. का० प्र० 3/21, उ० सं० 19, पृ० 452
76. पुण्यराज कृत प्रकाशटीका - पृ० 417-18
77. अष्ट्य० 2/3/8
78. 'देशः च क्रियाधिकरणत्वेन निर्दिष्टं स्थानम्' (आदर्श पृ० 458)
79. का० प्र० 3/21, उ० सं० 20, पृ० 456
80. दीपिका (पृ० 456)
81. सा० द० 2/16 की वृत्ति में, पृ० 283
82. सा० द० 2/16 की वृत्ति में, पृ० 302
83. साहित्यदर्पण - 2/19 की वृत्ति में पृ० 216
84. इसे 'कारणगुणप्रक्रमन्याय' कहते हैं।
85. प्राधान्येन व्यपदेशा भवन्ति।
86. 'न सत्तयैव तेऽर्थानामगृहीताः प्रकाशकाः' (वा० प० 1/56)
87. तु० 'प्रतिपत्तुरशक्तिः सा ग्रहणोपाय एव सः।' (वाक्यपदीयम् 1/85)
88. 'पदसमूहो वाक्यम्।' तर्कसंग्रह-शब्दखण्ड
89. '.....कालो व्यक्तिः स्वरादयः।' (वा० प० 2/316)
90. महाभाष्य पस्पशाह्निक

91. सम्पूर्ण विवरण हेतु देखें अष्ट्य० 6/1/135 से 6/1/157 तक।
92. सम्पूर्ण विवरण हेतु देखें अष्ट्य० 7/3/36 से 7/3/43 तक
93. वही, 8/1/42 से 8/1/60 तक
94. 'आदिना सत्वषत्व नत्वणत्वादिग्रहः'। (विवृतिपूर्ति: पृ० 53)
95. सम्पूर्ण विवरण हेतु देखें अष्ट्य० 8/3/55 से 8/3/119 तक
96. वही, 8/4/1 से 8/4/39 तक
97. वही, 7/3/52 से 7/3/69 तक
98. वही, 3/1/91 से 3/4/76 तक
99. अष्ट्य० 1/3/12-93
100. वही (4/1/76 से 5/4/160 तक)
101. काव्यादर्श पृ० 374
102. सम्पूर्ण उदाहरणों के लिए द्रष्टव्य - काव्यादर्श, : पृ० 374 - 75
103. 'आदिपदात् आप्तवाक्यपरिग्रहः' मधुमती, पृ० 382
104. 'रूढितोऽथ प्रयोजनात्' का०प्र० द्वितीय उल्लास
105. विवरण पृ० 451 - 'सम्बोध्यो द्विविधः - सम्बोध्योऽभिप्रेतश्च। अभिप्रेतस्तु ध्वननीयार्थप्रतिपिपादयिषाविषयः।' (विवरण पृ० 451)
106. उदाहरण हेतु देखें - दीपिका (पृ० 466)
107. 'These aspects of interpretation involve an interaction between linguistic structure and non-linguistic information..' (Relevance: Communication & Cognition, p. 10)
108. '...An utterance whichh explicitly expresses one thought may implicitly convey others.' (Ibid. P.11)
109. Ibid., p. 120
110. Ibid., p. 121
111. Ibid., p. 134
112. Ibid., p. 151
113. blbid., pagep. - 159
114. "Becausee each alternative interpretation is discrete & sharply distinguishable from the others, the hearer page, 175 usually know for certain which one the speaker must have intended." (Ibid, p. 175)
115. Ibid. p. 183 से 193
116. "...The correct interpretation of an ostensive stimulus is the first accessible interpretation consistent with the principle of relevance." (Ibid. pagep.-170).

117. "It follows from the principle of relevance that is giving the indirect answer in 33(b), she must have expected to achieve some additional contextual effects non obtainable from 36" (Ibid, p. 196-97)
118. 'Style arises, we maintain, in the pursuit of relevance.' (Ibid, p. 219)
- 119 "It many cases – perhaps most – The propositional form of an utterance is not an explicature at all." (Ibid. p. 224)

सन्दर्भ-ग्रन्थ-सूची

अन्नंभट्टः, तर्कसंग्रहः (दीपिकानीलकण्ठीभास्करोदयायुतः), चौखम्बा भारती
अकादमी, 1987

अभिनवगुप्तः, ध्वन्यालोकलोचनम्, मुंशीराम मनोहरलाल पब्लिशर्स, (पुन०)
1983

अभ्यङ्कर, के०वी० एवं लिमये, वी०पी० (सं०); वाक्यपदीयम्; पुणे विद्यापीठ,
1965

अभ्यङ्कर, के०वी० (सं०); परिभाषासंग्रहः, भण्डारकरप्राच्यसंशोधनसंस्थानम्
पुणे 1967

अवस्थी, ब्रह्ममित्र (व्या०); वाक्यार्थमातृकावृत्ति (दीपिका हिन्दीव्याख्या),
इन्दु प्रकाशन, रूपनगर, दिल्ली-7, वि०सं० 2036

उपाध्याय; गङ्गेश; तत्त्वचिन्तामणिः (माथुरीसहितः), चौखम्बा संस्कृत प्रतिष्ठान,
1990

कुमारिलभट्टः, श्लोकवार्तिकम्, कामेश्वर सिंह दरभङ्गा संस्कृत विश्वविद्यालय
प्र०, दरभङ्गा 1979

कौण्डभट्टः, वैयाकरणभूषणसारः (हिन्दीव्याख्यायुतः), संपूर्णानन्द संस्कृत
विश्वविद्यालय-वाराणसी, 1988

खजूरिया, यशःपाल; व्याकरणभाषाविज्ञानदृशा वाक्यसमीक्षणम्, वेङ्कटेश-
प्रकाशनम्, दिल्ली - 1994

गदाधरभट्टः, व्युत्पत्तिवादः, चौखम्बा संस्कृत सीरीज, 1977

गदाधरभट्टः, शक्तिवादः, चौखम्बा संस्कृत सीरीज, 1986

जयदेवः, चन्द्रालोकः (टीकाद्वयोपेतः), अमरवाणी यन्त्रालय, वाराणसी, 1954
जैमिनिः, मीमांसादर्शनम् (शाबरभाष्ययुतम्), एशियाटिक सोसाइटी ऑफ़ बङ्गाल,
1873

ज्योत्स्ना मोहन (सं०), काव्यप्रकाशः (षोडशटीकासमन्वितः), नाग प्रकाशक,
दिल्ली -7, 1995

झळकीकर, वामनाचार्य (व्या०); काव्यप्रकाशः, भण्डारकरप्राच्य-
संशोधनसंस्थानम्, पुणे, 1950

झा, धनुर्धर; वाक्यार्थ विवेचनम्, नाग पब्लिशर्स दिल्ली-7, 2002

तर्कालङ्कार, जगदीश; शब्दशक्तिप्रकाशिका, चौखम्बा संस्कृत सीरीज, 1973
ताताचार्य, एन्०एस०; शाब्दबोधमीमांसा, राष्ट्रीय संस्कृत संस्थान, दिल्ली, 2005
त्रिपाठी, रामप्रसाद (सं०); शिक्षासंग्रह, सम्पूर्णानन्द संस्कृत वि०वि०, 1989
त्रिपाठी, रामप्रसाद; शब्दशास्त्रीयवृत्तिविमर्शः, सम्पूर्णानन्द संस्कृत वि०वि०,
1997

दण्डी, काव्यादर्शः (प्रकाशव्याख्यासहितः); चौखम्बा विद्याभवन वाराणसी,
1961

दीक्षितः, भट्टोजि; सिद्धान्तकौमुदी (तत्त्वबोधिनीबालमनोरमायुता), मोतीलाल
बनारसीदास, दिल्ली, 1979

दीक्षितः, भट्टोजि; शब्दकौस्तुभः, चौखम्बा संस्कृत सीरीज ऑफिस, वाराणसी,
1991

नागेशभट्टः, स्फोटवादः (सुबोधिनीयुता), अड्यार लाइब्रेरी एण्ड रिसर्च सेण्टर,
1977

नागेशभट्टः, परमलघुमञ्जूषा (सरलायुता), का० सि० द० सं० वि० वि०, 1983

नागेशभट्टः, परिभाषेन्दुशेखर (सर्वमङ्गलायुता), सम्पूर्णानन्द संस्कृत
विश्वविद्यालय, 1987

- नागेशभट्टः, वैयाकरणसिद्धान्तलघुमञ्जूषा (कुञ्जिकाकलाभ्याम्), चौखम्बा संस्कृत सीरीज ऑफिस वाराणसी, 1989
- नागेशभट्टः, वैयाकरणसिद्धान्तपरमलघुमञ्जूषा, चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन, वाराणसी, 1991
- पतञ्जलिः, महाभाष्यम् (प्रदीपोद्योतसहितम्), चौखम्बा संस्कृत प्रतिष्ठान, 1988
- पतञ्जलिः, योगसूत्रम् (व्यासभाष्ययुतम्), चौखम्बा संस्कृत संस्थान, वाराणसी, 1995
- पाणिनिमुनिः, अष्टाध्यायी (काशिकायुता), रामलाल कपूर ट्रस्ट, नई सड़क-दिल्ली, 1997
- पाणिनिमुनिः, धातुपाठः (माधवीयधातुवृत्तियुतः), तारा बुक एजेंसी, वाराणसी, 2000
- पाण्डेय, हरिशङ्करशर्मा, (सं०); पाणिनीयं व्याकरणम्, शिवालिक प्रकाशन दिल्ली, (पुन०) 2006
- भास्कर, लौगाक्षि; अर्थसंग्रहः (कौमुदीयुता), राष्ट्रियसंस्कृतसंस्थान, (पुन०), 2002
- मिश्रः, केशव; तर्कभाषा, मोतीलाल बनारसीदास, वाराणसी, 1976
- मिश्रः, वाचस्पति; तत्त्वबिन्दु (तत्त्वविभावनोपेता), नवरङ्ग, नई दिल्ली-1991
- मुकुलभट्टः, अभिधावृत्तमातृका (सहिन्दीभाष्या), चौखम्बा विद्याभवन-वाराणसी, 1995
- मैक्समूलर (सं०), ऋग्वेदः (सायणभाष्ययुतः), कृष्णदास अकादमी, वाराणसी, 1983
- रत्नकीर्तिः, अपोहसिद्धिः, सिक्स बुद्धिस्ट न्याय टेक्स्ट्स, बिब्लोथिका इण्डिका, कलकत्ता-1910
- राजशेखर, काव्यमीमांसा, बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्-पटना, 1954
- वरदराजाचार्य, लघुसिद्धान्तकौमुदी, चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन, वाराणसी-1995

विश्वनाथन्यायपञ्चानन; न्यायसिद्धान्तमुक्तावली, राष्ट्रिय संस्कृत संस्थान,
दिल्ली-57, 2002

व्यासदेव, श्रीमद्भगवद्गीता (शाङ्करभाष्योपेता), मोतीलाल बनारसीदास,
दिल्ली-07

शबरस्वामी, शाबरभाष्यम्, तारा बुक एजेन्सी, वाराणसी, वि०सं०-2041

शर्मा, योगेश्वरदत्त (सं०); साहित्यदर्पणम् (अष्टटीकायुतम्), नाग प्रकाशक,
दिल्ली-07, 1999

शर्मा, रघुनाथ (व्या०); वाक्यपदीयब्रह्मकाण्डम् (अम्बाकर्त्रीयुतम्), वाराणसेय
संस्कृत वि०वि० 1963

शर्मा, रघुनाथ (व्या०); वाक्यपदीयम् वाक्यकाण्डम् (पुण्यराजकृत-
प्रकाशयुतम्) वाराणसेय संस्कृत विश्वविद्यालयः, 1968

शर्मा, श्रीकृष्ण; वृत्तिमीमांसा, राजस्थानी ग्रन्थागार, जोधपुर, 1991

शास्त्री, वी० सुब्रह्मण्य; शाब्दतरङ्गिणी, मद्रपुरीसंस्कृतविद्या समिति मद्रास-4,
1969

श्रीहर्षः, खण्डनखण्डनखाधम् (चण्डीप्रसादसुकुलकृत भाषानुवादसहितम्),
उच्युतग्रन्थामाला कार्यालयः, काशी, 2018 वि० सं०

सायणः, अथर्ववेदभाष्यम्, कृष्णदास अकादमी-वाराणसी, 1989

सायणहरिस्वामिनौ, शतपथब्राह्मणभाष्यम्, नाग प्रकाशक, दिल्ली-7, 1990

हाल, गाहासत्तसई (व्यङ्ग्यसर्वङ्कषायुता), मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली-7
(पुन०) 1983

हिन्दी

अय्यर, के०ए०एस०; भर्तृहरि (हिन्दी अनु०), राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी,
द्वि०सं० 1991

उपाध्याय, बलदेव; संस्कृत शास्त्रों का इतिहास, शारदा मन्दिर प्रकाशन, वाराणसी,
1973

- कुमार, डॉ० पुष्पेन्द्र (सं०); भारतीय आचार्यों का भाषा चिन्तन (डॉ० सी०आर० स्वामिनाथन्, अभिनन्दन ग्रन्थ) नाग प्रकाशक, दिल्ली - 7, 1985
- गुप्त, मोलीलाल तथा भटनागर, रघुवीर प्रसाद; आधुनिक भाषाविज्ञान की भूमिका, राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी-जयपुर, 1974
- चतुर्वेदी, मिथिलेश (अनु०); शब्दार्थमीमांसा (गौरीनाथ शास्त्री कृत - The Philosophy of Word & Meaning), सं० सं० वि० वि०, 1992
- ज्ञा, परमानन्द; 'लघुमञ्जूषा' में भाषिक अर्थ की अवधारणा एवं आधुनिक सन्दर्भ में उसकी उपयोगिता' अप्रकाशित शोध-प्रबन्ध, संस्कृत विभाग दि०वि०वि०, दिल्ली, 2006
- तिवारी, भोलानाथ; आधुनिक भाषाविज्ञान, लिपि प्रकाशन, दिल्ली, 1978
- त्रिपाठी, रामसुरेश; संस्कृत व्याकरणदर्शन, राजकमल प्रकाशन दिल्ली-6, 1967
- त्रिपाठी, रामदेव; भाषाविज्ञान की भारतीय परम्परा और पाणिनि, बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्, पटना, 1977
- द्विवेदी, कपिलदेव; अर्थ विज्ञान एवं व्याकरण दर्शन, हिन्दुस्तानी एकेडमी, इलाहाबाद, 1951
- पाठक, रङ्गनाथ; स्फोटदर्शन, बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्, पटना, 1967
- प्रसाद, विश्वनाथ (अनु०); भाषा (मूल० 'Language' ब्लूमफील्ड), मोलीलाल बनारसीदास, दिल्ली, 1978
- मिश्र, विद्यानिवास; भारतीय भाषा चिन्तन की पीठिका, बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्, 1978
- लक्ष्मीबाई बालचन्द्रन्, हिन्दी का कारकव्याकरण, केन्द्रीय हिन्दी संस्थान, आगरा (पुन०), 1988
- वर्मा, सत्यकाम; भाषा तत्त्व और वाक्यपदीय, भारतीय प्रकाशन, दिल्ली-9, 1964
- वर्मा, ब्रजेश्वर (सं०) आदि; भाषा शिक्षण तथा भाषा विज्ञान, केन्द्रीय हिन्दी संस्थान, आगरा, 1969

वर्मा, सिद्धेश्वर; प्राचीन भारतीय वैयाकरणों के ध्वन्यात्मक विचारों का अध्ययन (अनु०), हरियाणा साहित्य अकादमी, चण्डीगढ़, 1985

वेदालङ्कार, भीमसिंह; व्याकरणशास्त्रीयलोकन्यायरत्नाकर, पेनमैन पब्लिशर्स, दिल्ली, 2001

शर्मा, रमानाथ; पाणिनिव्याकरण में राजनक प्रविधियाँ, केन्द्रीय हिन्दी संस्थान, 1976

शर्मा, देवीदत्त (अनु०); सामान्य भाषिकी: एक प्रारम्भिक सर्वेक्षण (मूल R.H. Robins) हरियाणा हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, चण्डीगढ़, 1978

शर्मा, देवीदत्त; भाषिकी और संस्कृत भाषा, हरियाणा साहित्य अकादमी, चण्डीगढ़-1990

शर्मा, ब्रह्मानन्द एवं अन्य (सं०); भाषा चिन्तन: विविध वैचारिक आयाम, हंसा प्रकाशन, जयपुर-राजस्थान, 1995

शर्मा, देवेन्द्रनाथ तथा शर्मा, दीप्ति; भाषा विज्ञान की भूमिका, राधाकृष्ण प्रकाशन, सं०सं०-2004

शास्त्री, शिवनारायण; वैदिक वाङ्मय में भाषाचिन्तन, इण्डोलोजिकल बुक हाउस, दिल्ली-1972

शास्त्री, सूर्यदेव; मनोभाषिकी, बिहार हिन्दी ग्रन्थ अकादमी - पटना, 1973

शास्त्री, श्रीवत्स; हेलाराज का व्याकरणदर्शन को योगदान, विद्यानिधि प्रकाशन, दिल्ली, 2000

सहाय, रमानाथ (अनु०); वाक्य विन्यास के सैद्धान्तिक पक्ष, राजस्थान हिन्दी ग्रन्थ अकादमी

English

Aristotle, On Interpretation, Oxford, 1928

Balchandran, L.B.; A Case Grammar of Hindi, Central Institute of Hindi, Agra, 1973

- Berry, Margaret ; An Introduction to systemic linguistics, B.T. Batsford Ltd, London-1975
- Bhatta, G.P.; The basic ways of knowing, MLBD-Delhi: 1989
- Bhatta, V.P.; Epistemology, logic and Grammar in the Analysis of Sentence-meaning (Vol. II), Eastern Book Linkers, Delhi-1992
- Bhatta, V.P.; Vyutpattivada of Gadadhar, Eastern Book Linkers, Delhi-1990
- Blakemore, Diane; Semantic Constraints on Relevance, Basil Blackwell, New York, 1987
- Bloomfield, Leonard; Language, New York-Holt, 1946
- Brown, E.K. & Miller, J.E.; Syntax: A Linguistic Introduction to sentence structure, Hutchinson, London-1980
- Butler, C.S.; Systemic Linguistics, Batsford Academic & Educational, London-1985
- Carnap, R; Introduction to semantics, Cambridge, 1942
- Carol, Sanders; (ed.); The Cambridge Companion to Saussure, Cambridge Univ. Press-2004.
- Chomsky, Noam ; Aspects of the theory of Syntax, Cambridge mass, 1965
- Chomsky, Noam ; Syntactic -Structures, the Hague, 1957
- Cook, Walter A.; Introduction to Tagmemic Analysis, Georgetown Univ. Press, Washington-1969
- Firth, J.R.; Papers in Linguistics: 1934-51, Oxford Univ. Press, London, 1964
- Firth, J.R.; Technique of semantics, T.P.S., 1935
- Fodor, J.A.; The language of thought, Crowell, New York-1975
- Fodor, J.D.; Semantics: Theories of meaning, The Harvester Press, Britain, 1982
- Fowler, Roger ; An Introduction to Transformational syntax, Routledge and Kegan Paul, London-1971

- Ganeri, Jonardon; *Semantic Powers*, Clarendon Press, Oxford-1999
- Gardiner, A.H.; *The theory of speech and language*, Oxford Univ. Press, Oxford-1932
- Gazdar, Gerald; *Pragmatics: Implicature, Presupposition and Logical form*, Academic Press, London-1979
- Ghosh, Manmohan, (ed. & tran.); *Paniniya Shiksha*, Univ. of Calcutta, 1938
- Gneri, Jonardon; *Artha: Meaning*, Oxford Univ. Press, 2006
- Greenberg, J.H.; *Universals of Language*, the M.I.T. Press, Massachusetts, 1980
- Halliday, M.A.K. & Jawcett, Robin; *New Developments in systemic Linguistics (Vol. I)*, Francis Pinter, London and New York-1987
- Halliday, M.A.K. & Martin, J.R.(ed.); *Readings in Systemic Linguistics*, Batsford Academic & Educational Ltd. - 1981
- Holliday, M.A.K.; *The linguistic Science and the language teaching*, 1964
- Iyer, K.A.S.; *Bhartrihari: A study of Vakyapadiya in the light of Ancient commentaries*, Deccan College, Poona-1969
- Jespersen, Otto; *Language*, Allen and Unwin, London, 1922
- Jha, Harimohan; *Trends of Linguistic Analysis in Indian Philosophy*, Chowkhamba Orientalia, Delhi, 1981
- Katz, J.J.; *Semantic Theory*, Harpur & Row pub., New York, 1972
- Katz, J.J.; *The Philosophy of Language*, New York, 1966
- Katz, J.J.; *The Structure of Semantic Theory*, Prantice Hall, 1963
- Kempson, R.; *Mental representations: The interface between language & reality*, Cambridge Univ. Press, Cambridge, 1988
- Leech, G.; *Principles of Pragmatics*, Longman, London, 1983

- Lyons, John; Language and Linguistics: An Introduction
Cambridge Univ. Press, London-1981.
- Lyons, John; Semantics Vol. I-II, Cambridge Univ. Press, 1979
- MacGilvray, James; (ed.); The Cambridge companion to
Chomsky, Cambridge Univ. Press, 2005
- Matilal, B.K.; Epistemology, Logic and Grammar in Indian
Philosophical Analysis, Mouton, The Hague-Paris, 1971
- Mitsunobu, M.; A relevance Theory Bibliography,
Department of English, Tokyo Metropolitan Univ; 1993.
- Moravcsik, E.A. & Wirth J.R. (ed.); Syntax & Semantics (13th
part), Academic Press, New York London 1980
- Palmer, Semantics, Cambridge Univ. Press, 1977
- Pandey, R.C.; Problem of Meaning in Indian Philosophy,
MLBD-1963
- Pandurangi, K.T. (tran.); Prakaranapanchika of Shalikanath,
ICPR-2004
- Panneerselvam, S; The Problem of meaning: with reference
to Wittgenstein and Shankar, Univ. of Madras, 1993
- Patanaik, Tandra; Shabda: A study of Bhartrihari's Philosophy
of language, D.K. Printworld (P) Ltd., N. Delhi-1994
- Pike, K.L.; Linguistic Concepts, Univ. of Nebraska Press,
Lincoln & London-1982
- Pillai, K. Raghavan (tran.); The Vakyadadiya (I & II Kandas)
MLBD, Delhi-7, 1971
- Raja, K. Kunjunni; Indian Theories of Meaning The Adyar
Library and Research centre, Sec. ed. 1969
- Rao, Veluri Subba; The Philosophy of sentence & its parts,
Munshiram Manoharlal, Delhi, 1969
- Rathore, Sandhya; Vaiyakaranabhushanasara: an analytical
study, ICPR, Delhi, 1998
- Robins, R.H.; General Linguistics, Longman Pub. London,
1967

- Saussure, F.D.; Course in General Linguistics, (Eng. Trans.- W. Baskin) Peter Owen London, 1959
- Seare, J.; Speech acts, Cambridge Univ. Press, Cambridge, 1969
- Sharma, Dipti; Structure & Meaning, Nag Publishers Delhi, 1982
- Sharma, R.N.; Mimamsa theory of meaning, Sri Satguru Publications, Delhi-1988
- Shastri, Gaurinath; The Philosophy of Word and Meaning, Sanskrit College, Calcutta, 1957
- Sperber, D. & Wilson, D.; Presumptions of relevance, The Behavioral and Brain Science, 1987
- Sperber, D. & Wilson, D; Rhetoric and Relevance Standard, Univ. Press, Stanford CA 1990
- Sperber, D.; Rethinking symbolism, Cambridge Univ. Press, Cambridge, 1975
- Taraporewala, I.J.S.; Sanskrit Syntax, Munshiram Manoharlal, Delhi, 1967
- Verma, S.K. & Krishnaswamy, N. ; Modern Linguistics, Oxford Univ. Press, 1989
- Wallace L., Chafe; Meaning and Structure of Language, Univ. of Chicago Press, London, 1970
- Wolf, G. (ed.); New departures in linguistics, Garland New York, 1992

विभिन्न पत्रिकाओं में प्रकाशित पत्र-सूची, संस्कृत एवं हिन्दी लेख

तिवारी, भोलानाथ; कारकीय व्याकरण: भाषा विश्लेषण की एक नवीन पद्धति,
प्रो० को० अ० सुब्रह्मण्य अभिनन्दनग्रन्थ-1976

त्रिपाठी, शिवसागर; शब्दार्थसम्बन्धविमर्शः, सा०सु०, 1970

दीक्षितः, सुधाकर; अन्विताभिधानाभिहितान्वयवादयोः स्वरूपम्, सा० सु०-
वि० सं०-2039

द्विवेदी, रेवाप्रसाद; साहित्यसम्प्रदाये तात्पर्यस्वरूपम्, सा० सु०, वि०सं०-2026
पञ्चोली, बालकृष्ण; शब्दबोधसहकारिकरणपर्यालोचनम्, सा०सु०, वि०
सं०-2025

मिश्र, विद्यानिवास; भारतीय भाषाशास्त्रीय दृष्टि में अर्थ-प्रत्यय, सा०सु०
वि०सं०-2026

मिश्रः, विश्वनाथ; शाब्दबोधसमीक्षा, सा०सु०, वि०सं०- 1964

राजा, के० कुञ्जनी; भर्तृहरिणोद्धृतानि वाक्यलक्षणानि, अड्यार लाइब्रेरी बुलेटिन
- 1995

शर्मा, रघुनाथ; व्याकरणदर्शने वाक्यविमर्शः, सा० सु०, वि०सं०-2026

शुक्लः कालिकाप्रसाद; स्फोटविचारः, सा०सु०, वि०सं०-2039

शर्मा, देवेन्द्रनाथ; प्राचीन भारतीय भाषाचिन्तन की आधुनिकता एवं प्रासाङ्गिकता,
'भारतीय भाषाविज्ञानः कुछ नये आयाम' व्याख्यानमाला, भारतीयभाषा
परिषद्, कलकत्ता-700017

Bhattacharya, Kamaleshvara; Bheda and Samsarga in Indian
semantics Dr. B.R. Sharma Fel. Vol.-1986

Bronkhorst, Johannes; Panini and the nominal sentence,
ABORI

Bronkhorst, Johannes; Role of meaning in Panini's grammar,
IL-1979

Gorayska, B. & Lindsey, R.; The roots of relevance, Journal
of Pragmatics-1993

Hattori, Masaaki; Apoha & Pratibha, paper edited in 'Sanskrit
and Indian Studies' Essays in Honour of D.H.H. Ingalls,
page 61-73

Herman, G.; Three levels of meaning, Journal of Philosophy
LXV, 1968

I-WenSu, Lily; Relevance as a communicative principle in the
interpretation of discourse analysis, IJAL-1995

- Iyer, K.A.S.; Bhartrihari on primary and secondary meaning of words; Bhartrhari on sentence, ALB, 1980-81.
- Jha, V.N.; Meaning and Referent: an Indian perspective, ABORI-1993
- Jha, V.N.; Nyaya Vaisheshika theory of meaning, ABORI-1996
- Kaviraj, Gopinath; The doctrine of Pratibha in Indian Philosophy, AEORI, Vol.5, 1924
- Kelkar, Ashok; Conception of Language and Language use, JICPR, 1991-1992.
- Krishna, Daya; Sign, sense & reference: reflection on problem in The Philosophy of language, JICPR-2002
- Matilal, B.K.; Sabdabodh and the problem of knowledge representation in Sanskrit, Prof G.M. Bhattacharya commemorative Vol. 1991
- Mishra, Prabhata; Concept of Tatparya in Indian Theory of meaning, IPQ, 1991
- Patanayak, Tandra; Language, Thought and communication, IPQ, 1998
- Pateman, T.; Relevance, contextual effects & least effort, Poetic today, 1986
- Rastier, Francois; Problems of cognitive-semantics IJOC-1991
- Robins, R.H.; A Problem in the statement of meaning, Lingua Dec. 1952
- Rukmani, T.S.; Patanjali's 'Prajnya' & Bhartrihari's 'Pratibha': A Comparative study; IPQ 1987
- Saha, Sukhranjan; Thought & language, JICPR-1990
- Sengupta, Kalyan; Chomsky on competence, JICPR-1984
- Shukla, J.M.; The verbal cognition according to Vachaspathi Mishra, Prof A.N. Jani. Fel. Vol., 1983
- Sinclair, M. and Winckler, W.; Relevance theory: Explaining Verbal Communication, Stellenbosch Papers in Linguistics 18, 1991

- Sinha, Anil C.; Generative semantics and Paninis Karakas, JOL-1973
- Subrahmanyam, P.S.; Deep structure and surface structure in Panini, IL, 1975
- Tiwari, D.N.; Bhartrhari on the indivisibility of single world expressions and subordinate sentences, IPQ, 1997
- Tiwari, D.N.; Sentential meaning: Bhartrhari's arguments on controversy between Padarthavada & vakarthavada, JICPR-2001
- Wilson, D. & Sperber, D; A outline of relevance theory 1986
Universidade do Minho, Portugal, 1986

कोश ग्रन्थ

- अमरसिंह; अमरकोश (सुधाव्याख्यासहित), (पुन०) राष्ट्रीय संस्कृतसंस्थान, नई दि 2002
- झळकीकर, भीमाचार्य; न्यायकोशः, भण्डारकरप्राच्यशोधसंस्थान, पुणे-1978
- तर्कवाचस्पति, तारानाथ; वाचस्पत्यम् (पुनः.) राष्ट्रीय संस्कृत संस्थान, नई दिल्ली-2002,
- देव, राजाराधाकान्त; शब्दकल्पद्रुमः (पुनः.) राष्ट्रीयसंस्कृतसंस्थान, नई दिल्ली-2002
- भाषाविज्ञान परिभाषाकोश (दो खण्ड), वैज्ञानिक तथा तकनीकी शब्दावली आयोग, 1990
- भाषाविज्ञान शब्दावली, वैज्ञानिक तथा तकनीकी शब्दावली आयोग, नई दिल्ली, 1992
- सरस्वती, केवलानन्द; मीमांसाकोष (सात भागों में), सतगुरुपब्लिकेशन, दिल्ली, (द्वि०सं०) 1992
- हंसराज एवं भगवद्दत्त, वैदिक कोश, (पुन०), राष्ट्रीय संस्कृत संस्थान, दिल्ली, 2002

- Bhate, Saroja & Car, Yashodhar: Word Index to Bhartrihari's Yakyapadiya, Eastern Book Linkers – Delhi-7, 1992
- Crystal, David; A Dictionary of Linguistics and Phonetics, Blackwell Publishing, 2003
- Pearsall, Tudy; The New Oxford Dictionary of English, Oxford, 2001
- Apte, V.S.; The Student's Sanskrit English Dictionary (Reprint) Rashtriya Sanskrit Sansthan Delhi-2002

पारिभाषिक-शब्दावली

अतिव्यापक	Encyclopedic	असत्याश्रित	Non-truth conditional
अतिव्याप्त	Overlapping	असंकेतात्मक	Non-demonstrative
अधिक्रम	Hierarchy	असंगतिवादी	Anamolist
अनिर्भरता	Constellation	आगमनात्मक	Inductive
अनिवार्य	Obligatory	आद्यरूप	Prototype
अनुबन्ध	Postface	आधार वाक्य	Premises
अनुलग्नता	Entailment	आनुमितिक	Inferential
अनुस्यूत,	Embedded	आन्तर	Deep
अन्तःस्थापित			
अन्तिम, अन्त्य	Terminal	आशय	Content, Intention
अन्वयान्तर	Paraphrase	आश्रयता	Super-ordination
अन्वेषणात्मक	Heuristic	आश्रितता	Sub-ordination
अप्रतिरूपणीय	Non-representational	इष्टतम	Optimal
अप्रस्तुतविधान	Trope	उक्ति	Utterance
अभिगृहीत	Axiom	उद्दीपक	Stimulus
अभिप्राय	Intention	उपकरण	Device
अभिरचना	Pattern	उपागम	Approach
अभिलक्षण	Feature	उप-प्रकार	Sub-type
अभिवृत्ति	Attitude	उप-समुच्चय	Sub-set
अभिव्यञ्जित	Manifest	ऊर्ध्वाधारिक	Vertical
अभिहितार्थ	Explicature	एकनिर्भरता	Determination

अर्जन	Acquisition	एकीय	Singularly
अलंकृत	Figurative	ऐच्छिक	Optional
अवधारणा	Assumption	कूट	Code
केन्द्रीय	Focal	पारिपार्श्वक	Horizontal
क्रमपरिवर्तन	Permutation	पुरोभूमि	Foreground
खण्ड	Chunks	पूर्वलक्षी	Retro-active
गहराई	Depth	प्रकल्पना	Presumption
ग्लासीमविज्ञान	Glossematics	प्रकारता	Modality
घटना	Phenomenon	प्रकार्य	Function
चिह्नक	Marker	प्रक्रमण	Processing
ढाँचा	Frame	प्रजनक	Generative
तार्किक-रूप	Logical-form	प्रतिध्वनिक	Echoic
दृश्यविधान	Scenario	प्रतिनिर्भरता	Interdependence
द्योतन	Exponance	प्रतिपाद्य	Thesis
नम्यता	Flexibility	प्रतिभा	Intuition
नामित	Labelled	प्रतिरूपण	Representation
निगमनात्मक	Deductive	प्रतिज्ञप्ति	Proposition
नेदर्शनात्मक	Ostensive	प्रतीक	Symbol
निर्गत	Output	प्रत्यावर्तन	Recursion
निवेश	Input	प्रत्याशा	Expectation
निष्पादन	Performance	प्रभाविक	Conative
निहितार्थ	Implicature, Implication	प्ररूपी	Typological
नीडन	Nesting	प्रवर्तक	Motive
पदबन्ध	Phrase	प्रविष्टि	Entry, Insertion
परास	Range	प्रक्षेप	Projection
परिवर्तनीय	Variable	प्राक्कल्पना	Pre-supposition
पाठ	Text	बलाघात	Stress
बाध्यता	Constraint	विस्तारक	Modifier

जयपुर पब्लिशर, जयपुर

पुस्तकालय

क्रमांक

31409

बाह्य	Surface	वृत्तिकरण	Modalization
भावानयन	Abstraction	व्यतिरिक्तता	Redundancy
भाषा	Language	व्यवस्थापरक	Systemic
मद	Item	व्यवहारपरक	Behavioral
मात्रा	Degree	व्याघात	Contradiction
मान	Scale	व्युत्क्रमानुपाती	Diverse proportional
युग्मन	Pairing	शब्द	Lexis
रूपस्वनिमिक	Morpho- phonemic	शब्दकोश	Lexicon
रूपान्तरक	Transfor- mational	शाब्दिक	Literal
लक्षणा	Metaphor	शृङ्खला	String
लेश	Trace	शैली	Style
वर्गकारी	Classificatory	श्रेणीमान	Rank-scale
वाक्य	Sentence	श्रेण्यन्तरण	Rank-shift
वाक्य-संरचना	Syntax	संकूटन	Encoding
वाग्गमता	Rhetoric	सङ्केत प्रयोग विज्ञान	Pragmatics
वाग्व्यवहार	Speech act	सञ्ज्ञान	Cognition
वाचक	Signifier	सत्यापन मूल्य	Confirmation value
वाच्य	Signified	सन्दर्भीकरण	Contextualization
विकूटन	Decoding	सन्दिग्धार्थक	Ambiguous
विचलन	Deviation	सबलीकरण	Strengthening
विभाग	Stretch	समाजबोली	Sociolect
विवरणिका	Schema	समुच्चय	Set
विश्लेषण	Analysis	समूहन	Grouping
समृद्धीकरण	Enrichment	सार्वभौम	Universal
सम्प्रत्यय	Perception	सिद्धान्त	Maxim
सम्प्रेषण	Communication	सीमा-अनुबन्ध	Extent-condition
सम्प्रेषणात्मक	Locutionary	सूक्ष्मता	Delicacy

सम्भाव्य	Potential	संरचनाप्ररूप	Syntagmeme
सर्वसम	Congruent	संरचनावाद	Structuralism
सविकरण	Thematic	संश्लेषणात्मक	Synthetic
सहलग्न	Linking	संस्थागत	Institutional
सहवर्त्तिता	Colligation	स्तर	Stratum
सादृश्यवादी	Analogist	स्तरपरक	Stratificational
सान्दर्भिक प्रभाव	Contextual effect	स्वनिक	Phonetic
सामर्थ्य	Competence	स्वनिमिक	Phonological
सामान्यीकरण	Generalization		

RECEIVED
JAN 10 1964
U.S. DEPARTMENT OF AGRICULTURE
WASHINGTON, D.C.
P. 100



प्रतिभा प्रकाशन

(प्राच्यविद्या प्रकाशक एवं पुस्तक विक्रेता)

7259/20 अजेन्द्र मार्केट,
प्रेमनगर, शक्तिनगर, दिल्ली- 110007

E-mail : pratibhabooks@ymail.com

ISBN 81-7702-335-7



श्री काशी संस्कृत ग्रन्थमाला २१

श्रीशो वन्दे
सप्त-पाठि
श्रीशिव-

महिम्न-स्तोत्रम्

श्रीमद्गुणधरराजपुष्पदन्ताचार्यमुखकमलगातस्य



चौखम्भा संस्कृत संस्थान

भारतीय सांस्कृतिक साहित्य के प्रकाशक तथा प्रचारक

पो० भा० चौखम्भा, पो० बा० नं० ११९

क. ३७/११६, गोपाल मन्दिर लेन

वाराणसी (भारत)